☐ दिशा-निर्देशन

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

☐ संपादक-संयोजक

दिनेश मुनि

पुष्कर सूक्ति कोश

[उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज
के प्रवचन साहित्य के आधार पर चयन की हुई
विविध विषयक सूक्तियाँ]

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का पुष्प : २६७

प्रथम अवतरण :
वि. सं. २०४५ भाद्रपद
सितम्बर १९८८

●

प्रकाशक :
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्किल
उदयपुर ३१३००१

●

मुद्रक :
संजय सुराना के निरीक्षण में
शक्ति प्रिंटर्स द्वारा, वास्ते
दिवाकर प्रकाशन
अवागढ़ हाउस, अंजना सिनेमा के सामने
आगरा २८२००२

मूल्य :
लागत मात्र ३० रुपया

जिनके प्रवचन साहित्य-सरोवर में अवगाहन कर

मैंने यह सूक्तियों का अमृत बटोरा,

उन्हीं

अध्यात्म-ध्यान-जप साधना के सिद्धयोगी

संयम-सरलता और सात्विकता के जीवन्त रूप

परम श्रद्धेय उपाध्याय प्रवर गुरुदेव

श्री पुष्कर मुनिजी महाराज की

पवित्र सेवा में

—दिनेश मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय एक विशुद्ध साहित्यिक संस्थान है। इस सस्थान का उद्देश्य है कि ऐसा श्रेष्ठ साहित्य प्रबुद्ध पाठकों को दिया जाय जो उनके चिन्तन को उद्बुद्ध कर सके, उनमें पनपती हुई विकृतियों को नष्ट कर सके, इसलिए पाठकों की विभिन्न रुचियों को ध्यान में रखकर हमने साहित्य की हर विधा में साहित्य देने का निश्चय किया है और हम अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ रहे हैं। हमारे साहित्य को भारत के महामनीषियो ने पसन्द किया है तो सामान्य पाठकों ने भी उसे रुचि से पढ़ा है। यह पूर्ण सत्य है कि अन्य भाषाओं में जिस प्रकार पाठक है, उस प्रकार हिन्दी के पाठक कम है और अच्छे साहित्य के पाठक उससे भी कम हैं, पर जहाँ तक उत्कृष्ट साहित्य का प्रश्न है, भले ही पाठक कम हो, किन्तु जितने भी पाठक है, वे भी साहित्य के मर्म को समझकर साहित्य को अपनाते है तो कम लाभ नही है।

भारत में हर दृष्टि से विकास हो रहा है, किन्तु यह परिताप है कि हमारा नैतिक पतन भी हो रहा है। नैतिक पतन को रोकने मे यदि कोई सक्षम है तो वह साहित्य ही हो सकता है। सेक्स प्रधान और घटिया स्तर के साहित्य की बाढ आ रही है जिससे हमारा नैतिक जीवन चरमरा रहा है, पर हम आशावादी है कि इस विषम वेला मे भी कुछ मानवो का जीवन भी परिवर्तित हुआ तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे। अमृत की एक बूंद भी मृत्यु के मुह मे जाते हुए व्यक्ति को बचाने में सक्षम है।

हमारा परम सौभाग्य है कि श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म. का हमे हार्दिक आशीर्वाद मिला है और उपाचार्य श्री देवेन्द्र

मुनिजी म. का पूर्ण सहयोग मिला है जिसके फलस्वरूप ही नित नया साहित्य देने में हम सक्षम हुए हैं। पुष्कर सूक्तिकोश श्रद्धेय उपाध्याय गुरुदेव श्री के साहित्य में से संकलित सूक्तियों का आकलन है। वर्तमान युग में समयाभाव होने के कारण पाठक संक्षेप में बहुत कुछ जानना चाहता है। उपाध्यायश्री जी के लघु शिष्य श्री दिनेश मुनिजी ने पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर यह सकलन तैयार किया है--उपाचार्य श्री जी के दिशा-निर्देशन में।

हमें आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकों को प्रशस्त मार्ग-दर्शन देगा। वे इसका ध्यान से पारायण कर अपने जीवन को नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक बनायेगे।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री जी का यह अमृत वर्ष चल रहा है। वे जीवन के ७८ 'यशस्वी वसन्त पारकर ७९वें बसन्त में प्रवेश करने जा रहे है। आसोज सुदी १४ दिनांक २४-१०-८८ को उनकी जन्म जयन्ती के सुनहरे अवसर पर यह शानदार उपहार पाठकों को प्रदान करते हुए हमारा हृदय आनन्द विभोर है। भक्ति भावना से उत्प्रेरित होकर उदार-मना श्री सुवालालजी सदीपकुमारजीछल्लानी (औरंगावाद) ने प्रकाशन हेतु विशेष आर्थिक सहयोग प्रदान किया जिसके कारण लागत से भी कम मूल्य में हम यह ग्रन्थ पाठकों को प्रदान कर सके है। उनका यह सहयोग गुरुदेव श्री के प्रति गहन निष्ठा का परिचायक है। साथ ही हमारे अपने ही स्नेही साथी श्री श्रीचन्दजी सुराना ने समय पर ग्रन्थ को मुद्रित करने में सहयोग दिया, उन्हें भी भुला नही सकते। आशा है, हमारे अन्य साहित्य की तरह इस ग्रन्थराज को भी पाठक अपनाकर हमें नया साहित्य प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेंगे।

चुन्नीलाल धर्मावत

कोषाध्यक्ष,

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

ग्रन्थों में से मैने सूक्तियों का संकलन किया है। सूक्तियाँ चिन्तन का नवनीत हैं, उनमें जो अर्थ-गाम्भीर्य होता है, वह सहज ही पाठकों के दिल को लुभाता है, मन को मोहता है, हृदय को हरता है। गुरुदेवश्री के साहित्य मे सूक्तियों का अक्षय भण्डार है। गुरुदेवश्री ने जैन कथा-सिरीज माला के १११ भाग 'जैन कथाएँ' नाम से प्रकाशित किये है, ,उनमें इतनी सूक्तियाँ हैं कि उनमें से चुनी जायें तो सहज रूप से एक-दो ग्रन्थ बन सकते है।

पुष्कर सूक्ति कोश ग्रन्थ में गुरुदेवश्री के साहित्य से जो मैंने सूक्तियों का संकलन किया, वह प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में थमाते हुए मेरा मन आनन्द विभोर है। इसमें मेरा अपना कुछ भी नही है। जो कुछ भी है, वह गुरुदेवश्री का ही है। मैने तो मधुमक्खी को तरह उस पराग को एक स्थान पर एकत्रित करने का प्रयास किया है।

मै परम श्रद्धेय उपाचार्य पूज्य गुरुदेवश्री देवेन्द्र मुनिजी म० का हृदय से आभारी हूँ, जिनके कुशल मार्ग-दर्शन में मै यह भगीरथ कार्य कर सका हूँ। श्रद्धेया सद्‌गुरुणीजी साध्वीरत्न श्री पुष्पवतीजीम० का उपकार मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ। उनका पथ-प्रदर्शन मेरे लिए सम्बल के रूप में रहा है तथा बहिन महासती श्री प्रियदर्शनाजी की सद्‌प्रेरणा भी इस कार्य को पूर्ण करने में सतत् रही।

इस पुस्तक पर सरस भावपूर्ण सूक्तिमयी भाषा-शैली में सुन्दर प्रस्तावना लिखी है प्रसिद्ध विद्वान विचारक डा. महेन्द्रसागरजी प्रचडिया ने। डाक्टर साहब गुरुदेवश्री के प्रति अनन्य श्रद्धा रखते है। इतने विश्रुत विद्वान होकर भी विनम्रता, सरलता और धर्मानुरागिता उनकी अपनी विशेषता है। प्रस्तावना लिखने के लिए मै उनका आभार मानता हूँ।

प्रेस की दृष्टि से पाण्डुलिपि तैयार करने में स्नेहमूर्ति ब्रा. म. कोटस्थाने का हार्दिक सहयोग मिला है; उसे भी विस्मृत नही किया जा सकता। मुद्रण कला की दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वाधिक सुन्दर बनाने में स्नेह सौजन्य मूर्ति श्रीचन्द सुराना को भी नहीं भुलाया जा सकता। ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए सुश्रावक श्रीमान् सुवालालजी संदीप कुमारजी छल्लाणी को भी भूल नहीं सकता जिनके विशेप उदार अनुदान के कारण ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सका। ज्ञात और अज्ञात रूप से जिनका भी सहयोग मिला, उन सभी के प्रति हृदय श्रद्धा से नत है।

—दिनेशमुनि

रक्षाबन्धन दिनांक २७-८-८८
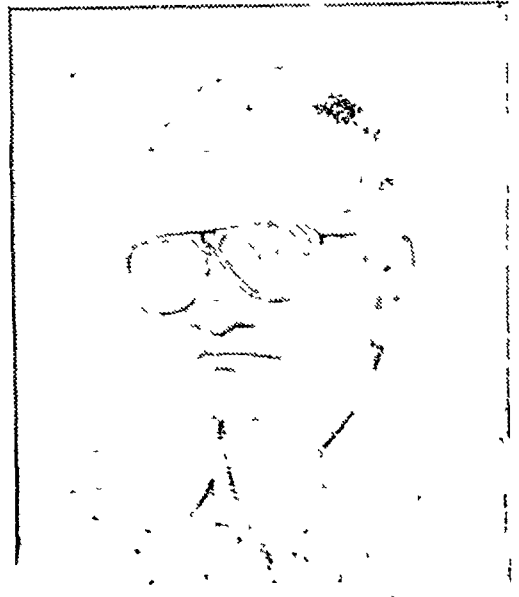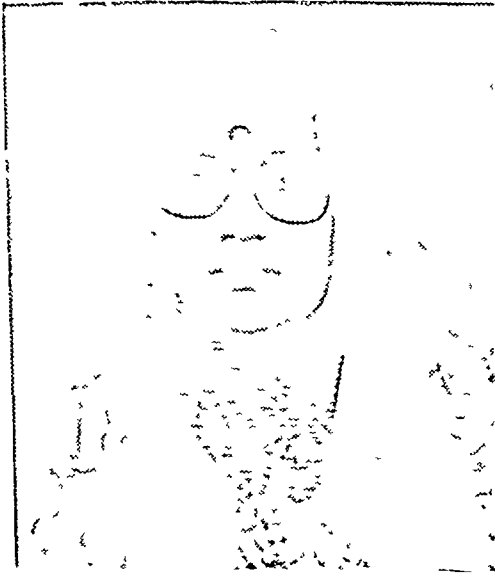
सौ. ताराबाई छल्लानी

श्रीमान् सुवालाल जी छल्लानी

भारत के तत्त्वदर्शी ऋषियों ने जीवन की परिभाषा करते हुए कहा कि उन व्यक्तियों का जीवन सार्थक है जो सदा परोपकार के कार्य में लगे रहते है, जिनके जीवन के कण-कण मे मन के अणु-अणु मे स्नेह-सद्भावना-उदारता का साम्राज्य होता है। अगरवत्ती की तरह जो अपने सद्गुणों की सौरभ चारो ओर बिखेरते रहते है।

श्रीमान् सुवालाल जी सा छल्लानी ऐसे ही उदारमना महानुभाव है। आपके पूज्य पिता श्री का नाम मिश्रीलाल जी और मातेश्वरी का नाम सुवराबाई था। जलगांव के सन्निकट कई गांव मे आपका जन्म हुआ। जब आप एक वर्ष के थे, तभी आपके पिताश्री का देहान्त हो चुका और जब नौ वर्ष के थे तभी माताजी स्वर्गवास सिधार गई थी। पर आप अपने प्रबल पुरुषार्थ से निरन्तर अपनी प्रगति करते रहे। एस एस सी की परीक्षा समुत्तीर्ण करने के बाद आपने अपने फूफाजी भिकूलालजी सा० चोपड़ा के साथ व्यापार प्रारम्भ किया। और आपका पाणिग्रहण सौ तारादेवी के साथ हुआ। आपके चार कन्याएं है। सौ० ज्योति सौ० रत्नप्रभा, सौ रजना और कुमारी उर्मिला तथा एक सुपुत्र सतीश कुमार है। माता-पिता के निर्मल संस्कार सन्तानो मे पल्लवित और पुष्पित हुए है।

दो वर्ष तक चोपड़ाजी के साथ व्यापार करने के पश्चात् कृषि तथा किराणा को दुकान आदि वर्षों तक आप करते रहे। सन् १९६२ मे आप सपरिवार औरगाबाद आ गए। आटोमोबाईल लाईन में स्कूटर, मोटर सायकल,मोपेड का कार्य प्रारम्भ किया और दिन-प्रतिदिन आर्थिक दृष्टि से आपकी उन्नति होती रही है। जहाँ आपने व्यापार में प्रगति की वहाँ आप में धार्मिक भावना भी दिन-प्रतिदिन विकसित होती जा रही है।

कर्नाटक केसरी पूज्य श्री गणेशीलाल जी महाराज की पावन पुण्य स्मृति में औरंगाबाद मे तपस्वी प्रवर श्री मिश्रीलाल जी म० के पावन प्रेरणा से श्री गुरुगणेश नगर की संस्थापना हुई उस सस्था के आप कर्मठ कार्यकर्त्ता है। उसके विकास के लिए आपने समय-समय पर अनुदान देकर एक आदर्श उपस्थित किया है।

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज, उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज का औरगाबाद में जब पदार्पण हुआ तब आपने जिस उत्साह के साथ सामाजिक-धार्मिक कार्यों में भाग लिया वह प्रशसनीय है। औरंगाबाद के पास बालूज और करमाड आदि के स्थानकों के निर्माण में आपका अपूर्व योगदान रहा। 'पुष्कर सूक्ति कोश' के प्रकाशन हेतु आपने अपनी ओर से जो अनुदान प्रदान किया है वह आपके उदार हृदय का परिचायक है। श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी और उपाचार्य श्री जी के प्रति जो आपकी गहरी निष्ठा है उसका भी परिचायक है।

आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि उनकी धर्म-भावना दिन-प्रतिदिन शतशाखी की तरह बढ़ती रहे।

आपके फर्म का पता है
सुवालाल जी मिश्रीलाल जी छल्लानी
कुशल नगर, जालना रोड
पो० औरगाबाद (महाराष्ट्र)

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर
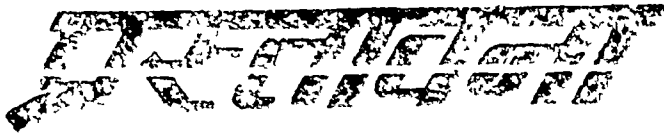
—डॉ महेन्द्रसागर प्रचंडिया विद्यावारिधि
(एम. ए, पी-एच. डी., डी. लिट्.)

स्थानकवासी जैन परम्परा, श्रमण परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस परम्परा के विश्रुत विश्वसंत उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी का स्थान बड़े महत्त्व का रहा है। तप-साधना, साहित्य-साधना तथा लोक-कल्याण साधना के अतिरिक्त आपकी साधना का निरुपमेय अवदान रहा है सुधी संतों का निर्माण। स्वयं निर्माण तो प्रायः किया-कराया जा सकता है किन्तु व्यक्ति का निर्माण वस्तुतः विरल और दुर्लभ साधना है और इस दिशा में उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी महाराज साहब का योगदान उल्लेखनीय है। आपको शिष्य परम्परा का प्रवर्तन करते है उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी।

आप में आस्था का ओज अद्वितीय है, साथ ही व्यवस्था की बूझ है बेमिसाल। सिघाड़ा में जितने भी सत सहयोगी आपके साथ रहे उनकी देख-रेख तो करना कठिन नही है किन्तु उन्हें सन्मार्गी चर्या में लीन रखना सचमुच कोई सरल बात भी नही है। मन मिटकर कोई काम हो तो उसमें मजा ही क्या? मन मोद से भर जाए और कठोर तपाचरण द्वारा किसी लक्ष्य को पाना यथार्थत. उल्लेखनीय उपलब्धि है। उपाध्यायश्री की सूझ समत्वमयी है। उसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के साथ-साथ अवधिज्ञान का अद्भुत सामजस्य जैसा प्रतीत होता है। वाणी मत्रित है जैसे, निकलेगी तभी जब उसकी जागतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता होगी। वाणी चरित्र की प्रतिध्वनि होती है। भाषा समितिपूर्वक जिन्हे वाणी व्यवहार का अद्भुत अभ्यास हो, फिर उस मौन व्याख्यान का कहना ही क्या? उनकी आँखों मे पढा जा सकता है जो उनके अन्तरंग मे विद्यमान है। उनके चरण मे सदाचरण का सन्देश सदा मुखरित रहता है।

आगम सम्पदा गणधरो की अद्भुत देन है। उसका वाचना और जाँचना किसी साधारण साधक का काम नही है। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी ने प्राय. ग्यारह ही अंगो का सावधानीपूर्वक अनुशीलन किया है। उसकी अर्थआत्मा को जीवन मे उतारा है। योग जब प्रयोग में आ जाता

है तव सन्मार्ग का सुयोग वना करता है। आपने इसी सुयोग को जगाया है। आत्मसात होकर जो लिखा है वह सीपी में मोती जैसा दमकने और चमकने लगा है। व्यक्ति में जब आर्जव धर्म का उदय होता है तब वाणी का रूप कुछ और ही होता है। मैं प्राय: कहा करता हूं कि वचन जब प्रवचन वन जाएं तो वौद्धिक प्रदूषण समाप्त हो जाता है। उपाध्यायश्री की वाणी का यही स्वरूप है।

जनवद्य विश्वसंत श्री पुष्करजी महाराज ऊर्जासम्पन्न उपाध्याय हैं। मति और श्रुतज्ञान के पर्याय है, पुरस्कर्त्ता हैं। उन्होंने अपने सदाचरण-पूर्वक संयम-साधना से—सम्यक् तपश्चरण से अपनी आत्मा का तेजस्वी महातेज जागृत किया है।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरीपूर्वक वाणी के ये प्रमुख आयाम होते है। मतिज्ञानी वाणी को अपने अभिप्राय, मन्तव्य और मनोरथों के संचरण हेतु प्रयोग में लाता है। वाणी अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है। साधक की वाणी और सामान्य प्राणी की वाणी मे पर्याप्त अन्तर-अवान्तर परिलक्षित हो उठता है। वाणी चरित्र की प्रतिध्वनि होती है। साधु की वाणी समितिपूर्वक निसृत होती है अत: उसमे स्व-पर कल्याणकामना आरम्भ से ही समाविष्ट रहती है, फिर उपाध्याय की वाणी का कहना ही क्या ? काव्यशास्त्रीय भाषा मे कहा जा सकता है कि वह सदा हित मित-कारिणी वस्तुत: साकार अनन्वय अलकार होती है। पूजनीय उपाध्यायश्री की वाणी सर्वथा कल्याणकारिणी है।

अभिव्यक्ति आदमी की स्वयंभू शक्ति है। काव्य उसकी आदिम आत्मिक अभिव्यक्ति है। काव्य को अधम, मध्यम और उत्तम श्रेणी में विभक्त किया गया है। उत्तम काव्य का उत्तम अश सूक्ति का प्राणांश होता है। वह काव्य जिसमे कवि के जीवन-अनुभवों का सार चेतावनी के रूप मे अभिव्यक्त होता है वस्तुत: सूक्ति की संज्ञा धारण करता है।

सूक्ति शब्द सगूह में सत्पूर्वक उक्ति का प्रयोजन सन्निहित रहता है। उक्ति का अर्थ है कथन और सूत से तात्पर्य है सूत्र—धागा। वह कथन जो सूत मे पिरोया/रखा जा सके। इसमें कथन-दोष/अनर्गलता का कोई लेश-विशेष नहीं रहता। मतिज्ञान की छलनी से छनकर जो हिए की तराजू पर तुलकर/नपकर निकलता है वह वनती है सूक्ति। तपश्चरण से निष्पन्न एकदम कथ्यसार, वारहवानी सुवर्ण निर्मल, वेदाग।

सूक्ति काव्य के प्रणेता का लक्ष्य या उद्देश्य मात्र अपने पाठक अथवा श्रोता के मन को मोद-मग्न करना भर नहीं है अपितु उसमे लौकिक

और अलौकिक जीवन का परिमार्जन और परिशोधन करना होता है। सूक्ति में सामाजिक सूझ और आध्यात्मिक बूझ-बोध का अक्षय कोष होता है। उसमें मानव प्रकृति का समीकरण होता है जब और ज्यों ही उसके मन-मानस के समक्ष किसी सम्बन्ध का एक विशेष लक्ष्य अथवा उपलक्ष्य सामने आता है तो उसे वह बहुत कुछ निष्कर्षित रूप मे उपन्यस्त कर देता है।

सूक्ति को जब हम काव्यशास्त्रीय निकष पर कसते-लखते है तो उसका स्थान चित्रमूलक अलंकार की कोटि में पाते है। सूक्ति काव्य मुक्तक रूप मे तो लिखे ही जाते है तथापि यत्र-तत्र प्रबंधात्मक अभिव्यक्ति मे भी वे मुखरित हुए है। सूक्ति का शोधन, परिशोधन जब किया जाता है और जब कभी उसे नैतिकता के निकष पर कसा जाता है तो जो सूक्तियाँ सशक्त और समर्थ प्रमाणित होती है, उन्हे जो नये नामकरण संस्कार में दीक्षित किया जाता है उसे कहते हैं—सुभाषित।

संस्कृत वाङ्मय में सूक्ति-साहित्य का कलेवर कम नहीं है। वह प्रभूत परिमाण में उपलब्ध है। महामनीषी चाणक्य, आचार्य भोजराज, वररुचि, वेताल भट्ट, महाराज भर्तृहरि आदि अनेक संस्कृत के रचनाकार है, जिन्होंने सूक्ति-काव्य की स्वतन्त्र रूप में रचना की है। जिनधर्मी साधुओं और आचार्यो ने भी अपनी रचनाओं मे सूक्ति प्रयोग किए है जो अभिव्यक्ति-सदर्भ मे प्रतिमान का काम करते है। अपभ्रंश-वाङ्मय मे भी सूक्तियो का प्रयोग प्रचुरता के साथ हुआ है विशेषकर जिन आचार्यो तथा लेखकों की आध्यात्मिक मान्यता जिनधर्म पर आधृत रही है, उनकी प्रत्येक रचनाएँ सूक्तियों से सम्पन्न ही है। आचार्य हेमचन्द्र के अनेक ग्रन्थो मे सूक्ति काव्य का सन्निवेश हुआ है। इस दृष्टि से प्राकृत व्याकरण और प्रबंध चिन्तामणि आदि अधिक उल्लेख्य है। महाकवि स्वयम्भू धनपाल, पुष्पदन्त, कनकामर तथा रइधू आदि मनीषी कवियो की प्रबन्धात्मक रचनाओ मे सूक्तिकार्णव लहराता नजर आता है।

संस्कृत-प्राकृत की यह परम्परा [illegible] धारा मे अवगाहन करती हुई हिन्दी में भी अवतरित हुई है। हिन्दी के जैन हिन्दी मान्य कवियों की आध्यात्मिक रचनाओ मे सूक्तियाँ आरम्भ से ही समाहृत रही है। इस दृष्टि से कविवर विनयचन्द्र सूरि, जिनहर्ष बनारसीदास तथा भगवतीदास, भूधरदास, भागचन्द्र जी आदि अनेक कवियो के [illegible] मे सूक्तियों का सागर लहलहाता नजर आता है। इसके अतिरिक्त अनेक जैनेतर हिन्दी

कवियों की रचनाओं में भी सूक्तियों का साभिप्राय प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से कविवर रहीम, तुलसी, वृन्द, दीनदयाल गिरि, गिरधर आदि का नाम उल्लेखनीय है। आप साहित्य जगत में प्रौढ सूक्तिकार के रूप में समादृत हैं। भक्ति काव्य और शृंगारकाव्य के प्रणेताओं ने भी कभी-कभी अपने क्षेत्र से हटकर सूक्तियों की रचना की है। इस दृष्टि से कबीर की साखियाँ और विहारी की नीतिपरक रचनाओं में सूक्ति-प्रयोग वस्तुतः उदाहरण हैं।

आधुनिक हिन्दी वाङ्मय में यह प्रवृत्ति प्रवहमान रही है। महाकवि भारतेन्दु से लेकर मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, प्रसाद, निराला, महादेवी, पन्त, अज्ञेय, धूमिल, भवानी प्रसाद मिश्र पर्यन्त सूक्ति-प्रयोग से वंचित नहीं रहे है। काव्य के साथ ही गद्यात्मक विविध काव्य रूपों में सूक्ति-प्रयोग उल्लेखनीय है। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज आदि रूपों मे प्रणीत साहित्य में सूक्तियों के अभिदर्शन हो जाते है। राम-वृक्ष वेनीपुरी और जैनेन्द्र जी की अभिव्यक्ति है ही सूक्तिमय।

आधुनिक हिन्दी जैन भाण्डार को भरने में उल्लेखनीय योगदान रहा है। जिनधर्मी सन्त, मुनि और आचार्य तथा अनेक सुधी साध्वियों द्वारा विविध काव्यरूपों में रचित साहित्य में सूक्तियों का प्रयोग परिलक्षित है। सूक्तियों का संकलन हुआ है पर उसे वहुत अधिक नहीं कहा जा सकता है।

गत अनेक दशाब्दियों पूर्व संस्कृत और प्राकृत के महामनीषी श्रमण सन्त पूज्य उपाध्याय अमर मुनिजी द्वारा वैदिक, बौद्ध तथा जिनधर्मी साहित्य की प्रमुख-प्रमुख सूक्तियो का सन्दर्भ सहित संकलन कर सम्पादन हुआ था और उस महाग्रन्थ का नाम रखा गया था सूक्ति त्रिवेणी। फिर छोटे-मोटे अनेक काम हुए है।

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी द्वारा व्यवहृत सूक्तियों का एक कोश ही तैयार किया गया है। इसकी अनेक विशेषताएँ हैं जो लोक से हटकर कही जा सकती है। पहली वात यह है कि सूक्ति कोश में सारी सूक्तियाँ ही नहीं है, वे सुभाषित भी है। दूसरी वात है कि सूक्तियों का क्रम विषयवर्ती है। दान विषयक, धर्म, समाज और संस्कृति विषयक तथा धर्म और जीवन विषयक सूक्तियों का विभाजन किया गया है। तीसरी विशेषता है कि एक-एक विषय पर एक-दो नही चालीस पैंतालीस तक सूक्तियों का संकलन किया गया है और चौथी विशेषता है कि एक-एक संख्या में दश-दश या अधिक सूक्तियों को रखा गया है।

सूक्तियों की भाषा प्रांजल है,परिष्कृत है और है सुसंस्कृत। भाषा के ही अनुरूप विषय भी आत्मिक गुणों पर आधारित हैं। इन गुणों पर आधारित जो सूक्तियाँ संकलित की गई है उनमें उपाध्यायजी के साहित्यिक तपश्चरण के साथ-साथ आध्यात्मिक आयाम का आस्वाद एक स्थान पर ही किया जा सकता है। प्रसंग और सन्दर्भ को समझने के भार से विमुक्त सीधा और शुद्ध भावार्थ जानने के लिए यह संकलन परमोपयोगी प्रमाणित होगा। आज के व्यस्त और त्रस्त जीवनचर्या में कथावृत्त/इतिवृत्त पढने, सुनने और समझने के लिए व्यक्ति के पास सुविधा और समय नही है। सार की बात संक्षेप में आज हर कोई सुनना चाहता है। इस दृष्टि से यह कृति अपनी उपयोगिता रखती ही है। साथ ही एक-एक विषय पर अनेक-अनेक भाववर्ती सूक्तियों का अभिप्राय यदि किसी को जानना हो तो यह कृति पथदायिनी प्रमाणित होगी।

यदि कोई पाठक अथवा श्रोता उपाध्यायश्री द्वारा प्रणीत विशाल महाग्रन्थों के पारायण और स्वाध्याय का साहस और समय नहीं रखता है तो उनके कतिपय ग्रन्थों का अभिप्राय-दोहन इस सूक्ति कोश द्वारा सहज में किया जा सकता है। दर्शन की शैली में यदि कहा जाय तो यह प्रयोग 'भाषा समिति' से अनुप्राणित है। पुष्कर सूक्ति कोश का भक्त समुदाय, स्वाध्यायी कुल तथा मनीषी मंडली हार्दिक स्वागत करेगा, मेरा ऐसा विश्वास है।

इस सूक्ति कोश के चयन की कल्पना और परिकल्पना उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी की उर्वरमेधा का फल है। उपाचार्यश्री उपाध्याय श्री जो के परम निष्ठावान विनेय शिष्य ही नहीं एक मूर्धन्य मनीषी चिन्तक और जैन वाङ्मय के सफल दोग्धा कहे जा सकते हैं जैसा कि वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः

वैसे ही उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि आगम वाङ्मय के दोग्धा है, यह मनभावन मधुर 'पय' सूक्तियों के रूप में सर्वजन सुलभ किया है। इसका पान करने पर अवश्य ही प्राणीमात्र को तुष्टि पुष्टि प्राप्त होगी।

□

क्रम	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
	दान-विमर्श	२—७४
१	जीवन का लक्ष्य	३
२	मोक्ष के चार मार्ग	३
३	दान के विविध लाभ	५
४	दान का माहात्म्य	८
५	दान : जीवन के लिए अमृत	१०
६	दान से आनन्द की प्राप्ति	११
७	दान : कल्याण का द्वार	१४
८	दान: धर्म का प्रवेश द्वार	१५
९	दान की पवित्र प्रेरणा	१६
१०	दान: भगवान एवं समाज के प्रति अर्पण	१७
११	गरीब का दान	१९
१२	दान की व्याख्याएँ	२१
१३	महादान और दान	२२
१४	दान का मुख्य अंग : स्वत्व-स्वामित्व-विसर्जन	२२
१५	दान के लक्षण और वर्तमान के कुछ दान	२५
१६	दान और संविभाग	२५
१७	दान की तीन श्रेणियाँ	२६
१८	अनुकम्पादान : एक चर्चा	२९
१९	दान की विविध वृत्तियाँ	२९
२०	अधर्मदान और धर्मदान	३१
२१	दान के चार भेद : विविध दृष्टि से	३३
२२	आहारदान का स्वरूप	३४
२३	औषध-दान : एक पर्यवेक्षण	३५

धर्म एव जीवन

अणुव्रत · विश्लेषण

× ×

दान-विमर्श

उपाध्याय श्री जी की प्रसिद्ध कृति 'जैनधर्म में दान : एक अनुशीलन'
के आधार पर दान के विविध अंगों पर विविध सूक्तियाँ

१. जीवन का लक्ष्य

☐ इस ससार में आकर मानव विषय-कषायों और दुर्व्यवहारों में प्रवृत्त होकर अपने आपको, अपने लक्ष्य को और लक्ष्य के अनुरूप कार्यो को भूल जाता है।

☐ लक्ष्यहीन मानवपुत्र हाथ मलते-मलते रह जाता है।

☐ मनुष्य को लक्ष्य के अनुकूल कार्यो से विमुख करने वाले कार्यो से हटकर लक्ष्यानुकूल कार्यो में अहर्निश संलग्न रहना चाहिए।

☐ अधिकांश मनुष्यों को आज यह पता नहीं है कि मैं कौन हूँ ? अपना असली स्वरूप, असली नाम वे नही जानते।

☐ मनुष्य संसार के रंगमहल में प्रविष्ट होकर अपना सब कुछ नाम, रूप भूल जाते है और नकली नाम, रूप, जाति या पेशे के चक्कर में पड़ जाते है।

☐ लक्ष्यविहीन, निजस्वरूप के भान से रहित एव कर्तव्यबोध से रहित मानव की बुरी दशा होती है।

☐ मनुष्यो को सर्वप्रथम अपने लक्ष्य का भान होना आवश्यक है।

☐ मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है।

☐ मोक्ष का स्वरूप भी लगभग स्पष्ट है। समस्त विकारों, कर्मो एव वासनाओ से रहित हो जाना, कर्म और कर्मबन्ध के कारणो का पूर्ण अभाव हो जाना, सभी सासारिक झमेलो से दूर हो जाना मोक्ष है।

२ मोक्ष के चार मार्ग

☐ मानव को अपनी जीवन-यात्रा मोक्ष रूपी लक्ष्य की ओर करनी है। मोक्ष तक पहुँचने के महापुरुषो ने चार मार्ग बताये है।

☐ दान शील, तप और भाव ये चार मोक्ष के मार्ग है। ये धर्म के अग है।

☐ दान, शील, तप और भाव इन चारों मार्गों में आसान और सर्वजन सुलभ मार्ग दान है।

☐ भाव तो हृदय की वस्तु है। जहाँ तक व्यक्ति आरम्भादि में लगा रहता है, उसका दिल-दिमाग भी प्रायः उसी ओर लगा रहता है।

☐ दान ही एक ऐसा मार्ग है, जो सुगम भी है, सर्वजन सुलभ भी है।

☐ दान एक ऐसा राजपथ है जिस पर आसानी से चलता हुआ मनुष्य अपनी मंजिल के निकट पहुँच सकता है।

☐ दान तो प्रतिदिन हो सकता है, जिन्दगी भर हो सकता है।

☐ दान तो बच्चे, बूढ़े, महिला और युवक सभी के लिए प्रतिदिन सम्भव है।

☐ मोक्ष मार्ग को प्राप्त करने के लिए धर्म ही उत्तम साधन है क्योंकि धर्म दुर्गति में जाने से अपने आपको रोक सकता है।

☐ धर्म की गति तीव्र है, उसके चार चरण है—दान, शील, तप और भाव।

☐ दान न हो तो शेष तीनो अगों से काम नहीं चल सकता। दान के अभाव में शेष तीनो चरणों में नम्रता और उदारता सक्रिय रूप नहीं ले सकती।

☐ हृदयभूमि को नम्र व समरस बनाकर बोये हुए दान-बीज से धर्म की उत्तम फसल तैयार होती है।

☐ शील, तप या भाव के आचरण का लाभ तो उसके आचरणकर्ता को ही मिलता है, जबकि दान का फल लेने वाले और देने वाले दोनों को प्राप्त होता है।

☐ दान देने से लेने वाले की क्षुधा शान्त होती है, पिपासा बुझ जाती है, और देने वाले को भी आनन्द, सन्तोष, औदार्य, सम्मान एवं गौरव प्राप्त होता है।

☐ दान का लाभ दाता और संगृहीता दोनों को साक्षात् प्राप्त होता है।

☐ दान का आचरण सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। दान सदा सक्रिय होता है। भाव तो सदा ही परोक्ष, अज्ञात और निष्क्रिय रहता है।

□ मनुष्य-जीवन प्राप्त होने से मृत्युपर्यन्त दान की प्रक्रिया जीवन में चल सकती है।

□ दान की प्रक्रिया तो व्यक्ति के मरणोपरान्त भी उसके नाम से पीढ़ी दर पीढ़ी तक चलती रहती है।

□ दान का आचरण रोग, व्याधि, बुढ़ापा, शोक आदि के होते हुए भी हो सकता है।

□ सारे वायुमण्डल को दान का आचरण स्वच्छ बना देता है।

□ दान से समाज को सहयोग मिलता है।

□ समाज में व्याप्त विषमता, अभाव, शोषण या असमानता को मिटाने के लिए दान ही रामबाण दवा है।

□ निःस्वार्थ व उत्कट भावना से योग्य पात्र को दान देने पर धर्म का लाभ हो सकता है।

□ गृहस्थ के लिए दान अनिवार्य है तथा प्रतिदिन की शुद्धि का कारण होने से वह महाधर्म भी है।

□ गृहस्थ के द्वारा हुए आरम्भजनित पापों की शुद्धि के लिए दानधर्म जितना आसान है, उतना शील, तप और भाव नही।

□ दान गृहस्थ के लिए परमधर्म है।

□ साधु, सन्त ऐसे सत्पात्र को दान देना श्रावक का मुख्य धर्म है।

□ जो भव्य जीव मुनिवरों को आहार देने के पश्चात् अवशेप अन्न को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को पाता है और क्रमशः उत्तम मोक्ष सुख को भी प्राप्त कर लेता है।

□ दान के बिना श्रावक श्रावक नही रहता।

□ देवलोक मे पहुँचते ही सर्वप्रथम और बातों का स्मरण न करके दान के विषय में ही पूछा जाता है।

३ दान से विविध लाभ

□ समझदार मनुष्य किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही काम करता है।

☐ दान कहीं भी निष्फल नही जाता। सुपात्र को दान देने से वह धर्म का कारण बनता है।

☐ विधिपूर्वक दिया हुआ दान संवर और निर्जरा का कारण है।

☐ सुपात्र-दान के महाफल का महत्व जैन-वैदिक-बौद्ध आदि सभी धर्म-ग्रन्थों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

☐ श्रमणोपासक (सद्गृहस्थ) को दान देकर समाधि प्राप्त होती है।

☐ दु:खियों और पीड़ितों को दान देकर उनके दु:ख मिटाने से उनके हृदय से भी आशीर्वाद के फूल बरस पड़ते है।

☐ दान से सातावेदनीय (शारीरिक, मानसिक सुख-शान्ति और समाधि) की प्राप्ति होती है।

☐ जो जिसको साता पहुँचाता है, दानादि के द्वारा, उसे अवश्य ही सुख-साता मिलती है।

☐ अनुकम्पा-पात्रों को समय पर दान न दिया जाय तो संसार में विषमता फैलती है, कभी-कभी तो वह विद्रोह का रूप ले लेती है।

☐ संसार में शान्ति और सुव्यवस्था रखने के लिए, सद्भावना पैदा करने के लिए, दान ही अमोघ व परम मन्त्र है।

☐दान देने वाले और लेने वाले दोनों में शुभ आशय को पैदा करता है।

☐ दान अभ्युदय की परम्परा को बढ़ाता है, धर्म का सारभूत (श्रेष्ठ) अंग है और हृदय में अनुकम्पा को जन्म देने वाला है।

☐समाज या राष्ट्र आदि की सुव्यवस्था को टिकाए रखने के लिए तथा सुख-शान्ति के लिए भी दान की प्रवृत्ति जारी रखना अनिवार्य है।

☐भूखा आदमी धर्म-कर्म को ताक में रख देता है।

☐दान ही वह संजीवनी औषध है, जो जमीदारों और गरीबों (भूमिहीनों) को जिला सकती है।

☐दान से अमृत के समान उज्ज्वल कीर्ति फैलती है, दान से मनुष्य को उत्तम सद्भाग्य (पुण्य) प्राप्त होता है। दान से काम, अर्थ और मोक्ष का लाभ होता है। इसलिए दानधर्म श्रेष्ठ है।

☐ दान से नगर, राष्ट्र या प्रदेश को शत्रु के द्वारा होने वाले विनाश एव लूटपाट से बचाया जाता है और बैरी को भी वश में किया जा सकता है।

☐ निर्धन वने हुए शहर में धनिक व्यक्ति शान्ति से नहीं रह सकता। अपनी समृद्धि की रक्षा के लिए नगर की समृद्धि की रक्षा अनिवार्य है।

☐ दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है।

☐ अगर शत्रु भी घर पर आ जाय तो उसे भी कुछ न कुछ दो, अर्पण करो, दान-सम्मान से उसका स्वागत करो। किसी भी वस्तु के लिए उसे इन्कार मत करो, क्योंकि शत्रु के लिए भी कोई वस्तु अदेय नही है। देने से मधुरता बढ़ती है।

☐ दु खी हृदयों को दान देकर सहायता करना एक ऐसा चमत्कार है, जिसे पवित्रात्मा ही कर सकते है।

☐ दान प्रीतिवर्द्धक है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

☐ सारी बात का निचोड़ यह है कि दान से मनुष्य साधुओं का भी प्रीतिपात्र बन जाता है। जिसके फलस्वरूप वह दानी व्यक्ति इस लोक में भी जनता का प्रेम सम्पादन कर लेता है और परलोक में भी अतिशय प्रीति-भाजन बनता है।

☐ दान से मित्र गाढे बन जाते हैं।

☐ दान के समान कोई मित्र नहीं है।

☐ दान एक वशीकरण मन्त्र है जो सभी प्राणियों को मोह लेता है। पराया (शत्रु) भी दान के कारण वन्धु बन जाता है इसलिए सतत् दान देना चाहिए।

☐ दान से मनुष्य उन समस्त मनोवांछित वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है जिनकी वह कामना करता है।

☐ दान से शत्रु ही नही, क्रूर पशु-पक्षी भी वश में किये जा सकते है।

☐ दान करने से मनुष्य दीर्घायु होता है।

☐ श्रमणों को प्रासुक (निर्दोष) आहार का दान देने से गृहस्थ दीर्घायु होता है।

☐ दान वास्तव में दरिद्रता को नष्ट करता है।

☐ दान ही वह वज्र है जो अमीरी और गरीवी की, विपमता और विभेद की दीवारे तोड सकता है।

☐ दान की अमोघ वृष्टि ही मानव जाति मे प्रेम, मैत्री, सद्भाव और सफलता की शीतल धारा प्रवाहित कर सकती है।

४. दान का माहात्म्य

☐ दान वह शतशाखी या सहस्रशाखी कल्पवृक्ष है जिसके सुपरिणाम सुफल हजारों रूपों में प्रकट होते हैं।

☐ सद्भावपूर्वक दिये गये दान की बूँदें हजारों-हजार रूप में नये-नये विचित्र फल पैदा करती है।

☐ यदि प्राप्त करना चाहते हो तो अर्पित करना सीखो। दान ही प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है।

☐ उपार्जित किये (कमाये) हुए धन का दान करते रहना ही उसकी रक्षा है। जैसे—तालाब के पानी का बहते रहना ही उसे गंदा न होने देने का कारण है।

☐ अगर दान का प्रवाह बहता रहता है, तब तो धन अनेक हाथों में जाकर सुरक्षित हो जाता है।

☐ दान के साथ ही पुण्यरूपी धन की भी सुरक्षा हो जाती है।

☐ दान पुण्य का रिजर्व बैंक है!

☐ दिया हुआ दान ही चिरकाल तक निधि के रूप में सुरक्षित रहता है।

☐ दिये हुए एवं खाए हुए द्रव्य में बड़ा भारी अन्तर है। दिया गया द्रव्य श्रेय अर्जित करता है, पुण्योपार्जन करता है और खाये हुए का मल बनता है।

☐ जो दूसरों को दिया जाता है, वही वास्तविक धन है, क्योंकि वही परलोक में साथ जाने वाला है और इहलोक में भी पुण्यवृद्धि करके मनुष्य को सुख पहुँचाने वाला है।

☐ मनुष्य का वास्तविक धन तो वही है, जो वह दूसरों को दान दे देता है। उसकी वही पुण्य की पूँजी परलोक में उसके साथ जाने वाली है।

☐ दान देना सुकृत का अर्जन है।

☐ जो धन दान कर दिया जाता है वही साथ मे चलता है।

☐ जो धन अपने हाथों से दान में दिया जाता है, वही सार्थक है, वही अपना है।

☐ लक्ष्मी का सदुपयोग यही है कि योग्य पात्र को दान दिया जाय।

☐ जो मनुष्य लक्ष्मी का केवल सचय ही करता रहता है, वह अपनी आत्मवचना करता है। उसका मनुष्य जन्म पाना वृथा है।

☐ जो दान नहीं करता, उसका धन मांस के समान है, और उस धन का उपभोग करने वाले पुत्र-स्त्री आदि गिद्धों की मंडली के समान है।

☐ लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है और बदले में प्रत्युपकार की वांछा नहीं करता, उसका जीवन सफल है।

☐ जीवन का अर्थ है—दान देना।

☐ जो व्यक्ति अपने जीवन और धन को सफल बनाना चाहता है, वह धन से या साधनों से ममतापूर्वक चिपटता नहीं है। उसकी वृत्ति मुक्त-हस्त से दान देने की होती है।

☐ दान सिर्फ दान नही, हृदय में अनेक गुणों का आदान भी है।

☐ ज्योंही पर्स रिक्त होता है, मनुष्य का हृदय समृद्ध होता है।

☐ दान देने के साथ-साथ हृदय करुणा, मैत्री, बन्धुता, सेवा, सहानुभूति, परोपकार एवं आत्मीयता के गुणों से परिपूर्ण एवं समृद्ध होता जाता है।

☐ जो मनुष्य अपने हाथ से दान देता है, वह देता ही नही, वरन् अपने हाथ से इकट्ठा (गुण, यश आदि) करता है।

☐ जब मनुष्य शक्ति होते हुए भी दान नही देता तो उसके हृदय के कपाट गुणों के लिए अवरुद्ध हो जाते हैं।

☐ शक्ति होने पर भी किसी अभाव से पीड़ित की दान के रूप में सहायता नही की, तो वह सम्पत्ति किस काम की?

☐ पूर्वजन्म के किसी प्रबल पुण्य से ही दान का अवसर मिलता है।

☐ दान देने की भावना उठते ही, या दान का अवसर आते ही 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार झटपट दान दे डालो। आगे-पीछे की न सोचो।

☐ शुभ कार्य (दान) में जरा भी ढील न करो।

☐ दान का अवसर आने पर प्राथमिकता दान को देनी चाहिए, यही श्रेयस्कर है, धर्मलाभ का कारण है।

☐ दो, पर किसी प्रकार का लालच किये बिना दो।

☐ संचित की हुई सम्पत्ति भी दैव के कुपित होने पर नष्ट हो जाती है, इसलिए धन का सचय करके रखने के बजाय दान करते रहना चाहिए।

☐ स्वेच्छा से दिया गया दान मन को सन्तुष्टि और शान्ति प्रदान करता है।

☐ धन संचित करके रखना, दान देने से वंचित करना है। पश्चात्ताप को न्यौता देना है।

☐ दान के महत्व को समझकर हृदय को उदार बनाना चाहिए।

५. दान : जीवन के लिए अमृत

☐ मानव जीवन के लिए दान अमृत है। अमृत में जितने गुण होते है, उतने ही वल्कि उससे भी बढ़कर गुण दान में हैं।

☐ जिसके करकमलों में दानरूपी अमृत है, जिसके मुखारविन्द में वाणी की सरस सुधा है, जिसके हृदयकमल में दया का पीयूष निर्झर बह रहा है, वह श्रेष्ठ मनुष्य तीन लोक का वन्दनीय–पूजनीय है।

☐ कर कमल बने तभी दान अमृत बनता है। यों कोरा दान, जिसके साथ मधुर, अमृतयुक्त वाणी न हो, हृदय में आत्मीयता से ओत-प्रोत दया का अमृत न बहता हो, अमृत नहीं बनता।

☐ कर तभी कमल बनता है, जब उसमें दान की मनमोहक महक उठती है।

☐ दानरूपी अमृत हजारों–लाखों मनुष्यों को जिला देता है।

☐ दान मनोवांछित पूर्ण करने वाली कामधेनु है।

☐ विद्वानों की सभा ने काफी चर्चा के बाद दान को ही अमृत घोषित किया।

☐ दानरूपी अमृत का सेवन करने वाला निश्चय ही अमर हो जाता है, दान देने वाला भी दानामृत देकर अमर हो जाता है।

☐ दान ऐसा अमृत है कि मुर्झाए, उदास और व्यथाग्रस्त चेहरे में नये प्राण फूंक देता है।

☐ अभाव के समय अपने स्वभाव में स्थिर रखने वाला दान ही है।

☐ जो अपना है, उसे ले जाने की किसी में ताकत नहीं।

☐ दान की शक्ति गरीवी, संग्रहखोरी को समाप्त करती है।

☐ दान अदान्त (दमन न किए हुए व्यक्ति) का दमन करने वाला तथा सर्वार्थसाधक है।

☐ दान जीवन परिवर्तन का अचूक उपाय है।

☐ व्यक्ति अपने तन-मन-धन को दान प्रवृत्ति में लगाकर परम संतोष का अनुभव करता है।

☐ दान परिवार और समाज के सुधार में भी महत्वपूर्ण हिस्सा अदा करता है।

☐ अपने स्वार्थ और सुख का त्याग कर डालना ही तो उत्तम दान है, और उसी से पारिवारिक शांति का राजमार्ग खुलता है।

☐ दान से गृहकलह भी शांत हो जाता है।

☐ दान के कारण स्वार्थ भावना शीघ्र ही मिट जाती है और दरिद्रता देवी तो दान को देखते ही पलायित हो जाती है।

☐ दान से जब हृदय परिवर्तन होता है, तब कृत पापों का नाश हो जाता है।

☐ दान असंख्य पापों का छेदन करने वाला है।

☐ दान का अमृत जीवन में सुख, शान्ति, समता और आनन्द का स्रोत वहाता है। समाज में व्याप्त विषमता, दरिद्रता, दैन्य और दुखो के जहर को नष्ट करता है।

☐ दान मानव को सचमुच में अमर जीवन प्रदान करने में समर्थ होता है।

६. दान से आनन्द की प्राप्ति

☐ सच्चा और स्थायी आनन्द दान से मिलता है।

☐ दान देकर मनुष्य समाज के प्रति अपने कर्तव्यभार से मुक्त भी हो जाता है, जिसका आनन्द किसी कदर कम नहीं है।

☐ दान आनन्द का अनुभवसिद्ध उपाय है।

☐ जैसे माता अपने बच्चे को वात्सल्य भाव से अपना सर्वस्व देकर आनन्द प्राप्त करती है, वैसे ही वात्सल्य हृदय व्यक्ति भी परिवार, समाज, नगर और राष्ट्र को अपना तन-मन-धन-साधन आदि देकर आनन्द प्राप्त करे, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

☐ दान का आनन्द अनोखा ही होता है।

☐ कृपण के हृदय में धन संचय करने और न देने के आनन्द से कई गुना अधिक आनन्द दान देने से होता है।

☐ दान आनन्द का एक व्यापार है, जिससे कई गुना आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

☐ वास्तव में समृद्धि में सुख और पतन में दुःख की कल्पना से मुक्त होकर अक्षय और अविचल आनन्द को प्राप्त करने का सच्चा नुस्खा दान ही है।

☐ दान से प्राप्त होने वाले आनन्द को पाकर व्यक्ति सौन्दर्य खोने या कष्ट पाने का दुःख भूल जाता है।

☐ जो अर्पण करता है, वह देवता है।

☐ जिसके अन्तर् में देवत्व विद्यमान रहता है, वह देता है।

☐ दान देने वाले का हृदय इतना उदार और नम्र हो जाता है कि उसमें क्षमा, दया, सहनशीलता, सन्तोष आदि दिव्य गुण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं।

☐ दान मानव जीवन के गौरव को बढ़ाने वाला है।

☐ दान के गुण से अन्य गुणों की कमी भी धीरे-धीरे दूर होती जाती है।

☐ याचकों के हृदय में गौरवपूर्ण स्थान जमाने की शक्ति दानदाता में ही है।

☐ केवल धन या सोना-चाँदी पास में होने मात्र से कोई गौरवशाली नही बन जाता।

☐ जो दान देता है, वह मधुर होता है, उसका व्यवहार मधुर होता है, उसकी वाणी में मिठास होती है, उसके मन में माधुर्य, औदार्य और मृदुत्व होता है।

☐ जो केवल संचय ही संचय करता है, उसमें कड़वाहट के अतिरिक्त और होगा ही क्या ?

☐ दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता।

☐ निःस्वार्थ दाता को अपने मुँह से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं होती। उसे स्वयं को गौरव पाने या उदार कहलाने की इच्छा नहीं होती।

☐ लक्ष्मी को पाकर अहंकार या गर्व में आकर नाचने और भोग-विलास में उसे उड़ाने वाला महामूर्ख होता है, जबकि लक्ष्मी को पाकर उदारतापूर्वक दान करने वाला देने में आनन्द मानता है, वह बुद्धिमान होता है।

☐ माता के दूध का बदला पुत्र द्वारा हजारों जन्मों में भी नही चुकाया जा सकता।

☐ दान देने वाले का हाथ सदा लेने वाले से ऊपर ही रहता है और वही हाथ गौरवपूर्ण होता है, जो याचक के हाथ से ऊपर हो।

☐ बड़े-बड़े कलाकारों, पण्डितों, विद्वानों एव वैज्ञानिकों के हाथ भी दानियों के गौरवशील हाथ के नीचे ही रहते है।

☐ बड़े-बड़े मुनिरत्नों, तीर्थंकरों के हाथ भी दानदाता के हाथ से नीचे रहते है।

☐ दान के प्रभाव से मनुष्य को इस जन्म में ही नहीं, अगले जन्मों में भी गौरव मिलता है।

☐ प्रातःस्मरणीय वही होता है, जो उदार हो, दानी हो।

☐ दान का इतना अद्भुत प्रभाव है कि दान देने वाले की वंश-परम्परा खण्डित नही होती, वह अविच्छिन्न रूप से चालू रहती है।

☐ जो परनिन्दा से डरता है और दान दिये विना भोजन नही करता, उसका वंश कभी निर्बीज नही होता।

☐ धन चाहे तो धर्म कर राज्य चाहे तो तप।
पुत्र चाहे तो दया-दान कर, सुख चाहे तो जप॥

☐ दान का सक्रिय आचरण हाथ से ही होता है।

☐ हाथ मे दान देने की जो अपार शक्ति सञ्चित है, उसे व्यर्थ के कार्यों में नष्ट करके लोग हाथ की क्रियाशक्ति को, हाथ के द्वारा सम्भव होने वाले जादू को खत्म कर देते है।

☐ मानव ! तेरे प्रवल पुण्यवल ने अथवा ईश्वर ने तुझे हाथ दिये है, उनसे दान कर।

☐ प्रार्थना मन्दिर मे प्रार्थना के लिए सौ वार हाथ जोडने के वजाय, दान के लिए एक वार हाथ खोलना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

☐ किसी से कुछ न मांगकर अपने अन्दर निहित दान शक्ति को खुले हाथों से प्रगट करना अधिक बेहतर है। इससे बिना माँगे ही हजारों की मूक अशीषें, दुआएँ मिलेंगी।

☐ तीन सद्‌गुण हैं—आशा, विश्वास और दान। इन तीनों में दान सबसे बढ़कर है।

☐ जीवन की सहज-स्फूर्त दानवृत्ति ही हाथ को वास्तविक चमक-दमक और शोभा प्रदान कर सकती है।

☐ सच्चा आभूषण दान है, जिससे जीवन सर्वांगीण रूप से अलंकृत हो उठता है।

☐ आभूषण बनवाने की अपेक्षा दान के द्वारा जीवन के वास्तविक सौन्दर्य में वृद्धि करनी चाहिए। उससे विषमता मिटेगी, अमीर-गरीब का भेद मिटेगा, और गरीब एवं पीड़ित लोगों में दानी लोगों के प्रति सच्ची सहानुभूति और आत्मीयता पैदा होगी।

☐ दानेन पाणिर्नतु कंकणेन—हाथ दान से सुशोभित होते हैं, ककण से नहीं।

☐ आनन्द का सच्चा स्रोत दान की पर्वतमाला से ही प्रवाहित होता है।

७. दान : कल्याण का द्वार

☐ धर्मरूप महल का शिलान्यास दान से ही होता है।

☐ दान के दिव्य प्रभाव से प्रायः महापुरुषों को सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई है।

☐ दान के निमित्त से किसी न किसी महापुरुष से उपदेश, प्रेरणा या बोध प्राप्त होता है।

☐ दान सम्यक्त्व की उपलब्धि में एक महत्वपूर्ण निमित्त है।

☐ दान के प्रबल निमित्त से भगवान महावीर को नयसार के जन्म में सर्वप्रथम सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई।

☐ मोक्ष का प्रथम द्वार सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व को प्राप्त कराना दान रूपी द्वारपाल के हाथ में है।

☐ मुनिवरों के दर्शनमात्र से दिन में किया हुआ पाप नष्ट होता है, तो फिर जो उन्हे दान देता है, उसमे जगत् मे कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो प्राप्त न हो ?

☐ प्राचीन काल में दान के अचिन्त्य प्रभाव से अगणित आत्माओं ने सुख-सौभाग्य-समृद्धि-यश और आनन्द प्राप्त किया।

☐ दान देने वाला घाटे में नही, मुनाफे मे रहता है। दान से कंगाली नही, खुशहाली बढती है।

☐ दान देने वाले को हजारों गुना अधिक मिलता है। दान का यह प्रतिफल उसी को मिलता है, जो निःस्वार्थ भाव से दान करता है।

☐ दान के लौकिक और लोकोत्तर लाभ के अतिरिक्त इहलौकिक और पारलौकिक लाभ भी कम नही है।

☐ दान से चार लौकिक लाभ है—(१) दाता लोकप्रिय होता है, (२) सत्पुरुषों का संसर्ग प्राप्त होता है, (३) कल्याणकारी कीर्ति प्राप्त होती है और (४) किसी भी सभा में वह विज्ञ की तरह जा सकता है।

☐ दान से पारलौकिक लाभ यह है कि परलोक में वह स्वर्ग में जाता है, वहाँ भी दान के प्रभाव से ऋद्धि और वैभव पाता है। यह अदृष्ट लाभ है।

८. दान : धर्म का प्रवेश द्वार

☐ धर्मरूपी भव्य भवन का प्रवेश द्वार दान ही है।

☐ सरलता, नम्रता और मृदुता इन तीनो गुणो का उद्गम दान मे ही होता है।

☐ हृदय रूपी खेत को दान से मुलायम किया जाता है।

☐ दान देने वाले मे जब अहंकार नही रहता, एहसान करने की बुद्धि नही रहती, तभी दान सच्चा दान होता है।

☐ प्रार्थना साधक को ईश्वर के मार्ग पर आधी दूरी तक पहुँचाएगी, उपवास महल के द्वार तक पहुँचाएगा और दान महल में प्रवेश कराएगा।

☐ दान से हृदय कोमल होकर जीवन शुद्धि होती है और शुद्ध जीवन से ही धर्म टिक सकता है।

☐ धर्म मार्ग पर चलने के लिए बुराइयों या दुर्व्यसनों का त्याग (दान) कर देना भी धर्म में प्रवेश करने का कारण है।

☐ दान को धर्म का शिलान्यास कह सकते हैं। दान धर्म की नींव है।

☐ अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म का शिलान्यास दान के द्वारा अनायास ही हो जाता है।

☐ दान श्रावक के जीवन का, सबसे प्रधान गुण है।

☐ दान के बिना गृहस्थ श्रावक की शोभा नही है।

☐ अतिथिसंविभाग व्रत या यथासंविभाग व्रत दान का ही सूचक है।

☐ दान हृदय की उदारता का पावन प्रतीक है, मन की विराटता का द्योतक है और जीवन के माधुर्य का प्रतिबिम्ब है।

☐ दान 'व्रत' या 'धर्म' तब बनता है जब देने वाले का हृदय निस्पृह, फलाशा से रहित और अहंकारशून्य होकर लेने वाले के प्रति आदर, श्रद्धा और सद्भाव से परिपूर्ण हो।

☐ दान से जीवन निष्कंटक, निश्चिन्त, निराकुल, शान्त और सुखी बन जाता है।

☐ वर्ष भर तक अविच्छिन्न रूप से दानधारा बहाने के कारण ही तीर्थकर उत्तम विभूति प्राप्त कर पाते हैं।

☐ दानियों के पास अनेक प्रकार का ऐश्वर्य होता है, दानी के लिए ही आकाश में सूर्य प्रकाशमान है। दानी अपने दान से अमृत पाता है, दानी अतिदीर्घायु प्राप्त करता है।

☐ देवता दान की प्रशंसा करते है क्योंकि देवलोक में दान की कोई प्रवृत्ति नहीं होती।

☐ दान का मूल्यांकन वस्तु पर से नहीं, भावों पर से ही किया जाता है।

६. दान की पवित्र प्रेरणा

☐ नदियाँ अपना जल स्वय नहीं पीती, पेड़-पौधे अपने फलों का उपभोग स्वयं नही करते, दानी मेघ अपने जल से पैदा हुए धान्य को स्वयं

नही खाते। सज्जनों की विभूतियाँ (वैभव) भी परोपकार (दान) के लिए होती है।

☐ नदी का जल व्यक्तिगत नही होता, वैसे ही मानव अपने धन को व्यक्तिगत न समझे, उसे समाज में फैलाये।

☐ समाज में भी दान का प्रवाह जारी न रहा तो सामाजिक जीवन में सड़ान, विषमता और दुर्गन्ध पैदा हो जाएगी।

☐ चाहे धनी हो, चाहे निर्धन, दोनो के ही हाथ प्रतिदिन नियमित दान करने का व्रत ग्रहण करे।

☐ दान की परम्परा नदी के प्रवाह की तरह अखण्ड चालू रहनी चाहिए।

☐ दान-परम्परा ही अनेक हृदयों में दान के दीपक जला सकती है।

☐ मनुष्य को अपने स्वामित्व की वस्तु में से योग्य पात्र को दान करने में किसी प्रकार की झिझक नही होनी चाहिए।

☐ दान मानवता का अलंकार है।

☐ अधिकांश मनुष्य समाज से लेते अधिक है, देते कम है।

☐ दान का एक अर्थ—लिए हुए को लौटाना भी है।

☐ दान एक तरह से दुःखी और भूखे आदि को उनका अधिकार सौंप कर अपना कर्तव्य अदा करना है।

☐ पहले त्याग (दान) करके फिर उपभोग करो। किसी भी पदार्थ या धन पर आसक्ति न करो।

☐ मैं दानी हूँ, इसलिए बड़ा हूँ, यह भावना ठीक नही है।

☐ अगर तुम सौ हाथो से धनादि साधनो को बटोरते हो, तो तुम्हारा कर्तव्य है, हजार हाथो से उसे वितरित कर दो, बाँट दो, दे दो।

१०. दान : भगवान एवं समाज के प्रति अर्पण

☐ दान दो, पर लेने वाले को दीन-हीन समझकर मत दो। लेने वाले को भगवान का रूप समझकर दो।

☐ प्रत्येक आत्मा को परमात्मा समझकर दो।

☐ भक्तियोग तथा ज्ञानयोग की दृष्टि से चैतन्य के प्रति अर्पण ईश्वरार्पण ही है।

☐ क्षुद्र देह को न देखकर विराट आत्मा को देखना और उसके प्रति अर्पण करना—यह दान का दर्शन है।

☐ वैष्णव दर्शन के अनुसार दान एक तरह से भगवान का हिस्सा निकालना है।

☐ दान ईश्वरीय अंश को सत्कार्य में अर्पण करना है।

☐ समाज में विभिन्न वर्गों द्वारा दिये हुए साधनों को उनको (समाज के जरूरतमंदों को) न देकर जो स्वयं उपभोग करता है, वह चोर ही है।

☐ कलियुग में लोगों की वृत्ति पुण्य कार्य में एक भी पाई खर्च करने की नहीं होती, परन्तु वे पाप कार्य में तन, मन, धन सर्वस्व लुटा सकते हैं।

☐ जिनके दिल में दान का दीपक जल उठता है, वे मुक्तहस्त से लुटाते हैं।

☐ सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो और ठीक तरह से दोषरहित दान दो।

☐ दान देने के लिए विवेकी व्यक्ति को बाहर की प्रेरणा की जरूरत ही नहीं पड़ती। उसकी अन्तरात्मा ही उसे दान देने की प्रेरणा करती है जिसे वह रोक नहीं सकता।

☐ आत्म-श्रद्धा बढ़ाने के लिए दान दो, शील की सदा रक्षा करो और भावना में अभिरत रहो, यही बुद्धों का शासन (शिक्षण) है।

☐ सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है, उसे दान से ही शृंगारित-सुसज्जित किया जा सकता है, धन संग्रह से नहीं।

☐ दान दिये बिना आत्मा की शोभा नहीं है। दान से ही सर्वभूत मैत्री, आत्मीयता, विश्ववत्सलता, विश्वबन्धुता आदि सम्भव है।

☐ दान से ही जीवन में उदारता आती है, स्वार्थ-त्याग की प्रेरणा जागती है। फिर मनुष्य हिंसा, असत्य, चोरी आदि दुष्कर्मों में मन से भी प्रवृत्त नहीं होता।

☐ गृहस्थाश्रम दान धर्म पर ही टिका हुआ है।

☐ श्रेष्ठ पुरुष जिस जिस वस्तु का आचरण करते हैं, अन्य साधारण जन भी उसी का आचरण करते हैं। वे जिस वस्तु को प्रमाणित कर जाते हैं, लोग उसी का अनुसरण-अनुवर्तन करते हैं।

☐ दान धर्म के आचरण से किसी भी जीव का अनिष्ट या अहित नहीं है, बल्कि इसमें सारे विश्व का हित और कल्याण निहित है।

☐ धन का अगर दान के रूप में उपयोग नही किया जाता है तो वह मनुष्य को आसक्त, लुब्ध, कृपण अथवा विलासी या पतित बनाकर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

११. गरीब का दान

☐ गरीब आदमी का थोड़ा-सा दान भी धनिकों को महाप्रेरणा देने वाला बन जाता है।

☐ मनुष्य परिवार के लिए त्याग करता है, कष्ट सहता है, परन्तु परिवार के बाहर वह प्राय: हृदयहीन रहता है।

☐ गरीबों के दान से उनके बालकों में भी दान के सस्कार सुदृढ़ होते है।

☐ केवल धन का दान ही, दान नही है; साधन, श्रम, बुद्धि, विचार आदि का दान भी दान है।

☐ गरीब जल्दी दान देने को तैयार हो जाता है।

☐ स्वार्थवृत्ति घटे विना समाज का उत्थान नही हो सकता।

☐ सब लोगों के द्वारा दान मे हिस्सा देने से राष्ट्रीय जीवन शुद्ध होगा।

☐ थोडे में से जो दान दिया जाता है, वह हजारो, लाखों के दान की बराबरी करता है।

☐ गरीब अच्छी तरह समझकर हृदय से जो अल्प से अल्प दान देगा, उसका मूल्य दान के परिमाण से नही आंका जा सकता—वह अमूल्य होगा।

☐ एक गरीब दूसरे गरीब को हार्दिक सहानुभूति के साथ छोटा दान भी देता है तो उसकी महिमा अतुलनीय हो जाती है।

☐ गरीब व्यक्ति अपने को हीन समझकर दानवृत्ति से रुके नही।

☐ धन बढ़ जाने पर दान दूंगा, यह भावना मनुष्य की मानसिक दुर्बलता की निशानी है।

☐ गरीबों के दान का नैतिक प्रभाव अमीरों पर अवश्य पड़ता है।

☐ दान ही एक ऐसा उपाय है, जो परिवार समाज और राष्ट्र में पड़े हुए अभावों के गड्ढों को भर सकता है।

☐ दान समाज-विकास में आने वाली विविध रुकावटों को दूर करता है।

☐ सत्कार्य में दिया हुआ धन व्यर्थ नही जाता ।

☐ साधन-सम्पन्न व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ के लिए न जीए ।

☐ साधन-सम्पन्न व्यक्ति को उन असहाय, साधनहीन व्यक्तियों को अपने तन-मन-धन से सहयोग देकर जिलाकर जीने का प्रयत्न करना चाहिए ।

☐ जो स्वेच्छा से दिया जाता है, वह मीठा होता है, और जो जबरन लिया जाता है, वह कड़ुआ होता है ।

☐ अपनी इच्छा से दान देने में धन का माधुर्य है, दूसरों से बटोर-बटोर कर केवल धन-संग्रह करने में माधुर्य नहीं होता ।

☐ समाज में लोकप्रिय बनने के लिए उदारता की आवश्यकता है, जो दान के द्वारा ही व्यक्ति को प्राप्त होती है ।

☐ एक जगह स्थिर होकर पड़े रहने में द्रव्य की द्रव्यता सार्थक नहीं होती ।

☐ धन की तीन गतियाँ है—दान, भोग या नाश । जो मनुष्य अपने धन का सुपात्र में या सत्कार्य में दान नहीं करता और उचित उपभोग नहीं करता है, उस धन की गति सिवाय नाश के और कोई नहीं है ।

☐ एक मात्र दानादि धर्म ही मनुष्य के लिए इहलोक-परलोक में शरण-दायक होता है ।

☐ मानव, शरीर रूपी पारसमणि से दान देकर सोना बनाओ ।

☐ मनुष्य चाहे तो अपने प्राप्त साधनों से दूसरों को बहुत कुछ दे सकता है, केवल मन की ही कृपणता है, मन उदार हो जाय तो कोई कमी नही रहती ।

☐ प्रतिदिन अदीन अन्तरात्मा से थोड़े से साधन में से भी यत्किंचित् दान देना चाहिए, इसे ही उदारता कहते हैं ।

☐ व्यक्ति को जीते जी, अपने होश हवास में अहर्निश दान देते रहना चाहिए ।

☐ कृपण के समान दानी ससार में न तो हुआ है और न ही कोई होगा । क्योंकि अपने सारे धन को बिना छुए ही एक साथ दूसरों को दे देता है, छोड़कर मर जाता है ।

☐ दान मानव जीवन के लिए अनिवार्य अंग है । आवश्यक कर्तव्य है, दैनिक नियम है ।

१२. दान की व्याख्याएँ

☐ 'दान' दो अक्षरों से बना हुआ एक अत्यंत चमत्कारी शब्द है।

☐ दान एक धर्म है, और धर्म कभी किसी से जबरन नही करवाया जाता।

☐ दान किसी पर एहसान नही है, अपनी आत्मा की सन्तुष्टि है।

☐ अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।

☐ स्व और पर के उपकार के लिए वितरण करना दान है।

☐ अनुग्रह का अर्थ एहसान नही है। वह खास तौर से अपने पर उपकार करना है।

☐ दान के साथ जब तक नम्रता नही आती, तब तक दान अहंकार या एहसान का कारण बना रहता है।

☐ स्वानुग्रह दान के उद्देश्य को पूर्णतया चारितार्थ करता है।

☐ दान के साथ हृदयस्थ शैतान न बदले तो वह दान ही क्या ?

☐ व्यक्ति में जब सोया हुआ भगवान जाग जाता है तो वह सर्वस्व देकर अपरिग्रही बनकर कल्याणमार्ग मे प्रवृत्त हो जाता है।

☐ दान के माध्यम से अपने में दया, करुणा, उदारता, सेवा, सहानुभूति, समता, आदि विशिष्ट गुणों का संचय करना स्वानुग्रह है।

☐ विचार किये बिना यों ही किसी को रूढ़िवश देना, सिक्का फेंकना है, दान देना नही।

☐ परानुग्रह का सीधा-सादा मतलब है–अपने से अतिरिक्त दूसरे का उपकार करना।

☐ परानुग्रहपूर्वक दान धर्म प्राप्ति कराने के लिए होता है।

☐ धर्मप्राप्ति रूप परानुग्रह दिए गये दान को सफल बना देता है, अनेको गुना सुन्दर फल प्राप्त करा देता है।

☐ दान द्वारा दूसरों पर आई हुई विपत्ति निवारण मे सहयोग देना परानुग्रह होता है।

☐ कई व्यक्ति स्वय को कष्ट मे डालकर भी दान द्वारा परानुग्रह करते है। उनका ऐसा परानुग्रह उच्चकोटि का होता है।

☐ परानुग्रह का एक प्रकार अपने दान द्वारा किसी को गुलामी के दुःख से मुक्त कराना भी है।

☐ दान के साथ स्व-पर-अनुग्रह का उद्देश्य पूर्ण होता हो, वही दान सच्चा दान है।

☐ समझ-बूझकर जो दान स्व-परानुग्रह बुद्धि से दिया जाता है, वही वास्तव में दान है, अन्यथा दान का नाटक है।

१३. महादान और दान

☐ भृत्य आदि के अन्तराय न डालते हुए थोड़ा सा भी न्यायोपार्जित पदार्थ योग्य पात्र को देना महादान है। इसके अतिरिक्त दीन, तपस्वी, भिखारी आदि को माता-पिता आदि गुरुजनों की आज्ञा से देना दान है।

☐ न्यायपूर्वक अपने श्रम से कमाए हुए भोजन में से दूध की धारा बहती है। अन्याय-अत्याचार द्वारा प्राप्त मिठाई में से गरीबों का खून टपकता है।

☐ न्यायोपार्जित अन्न का दान ही श्रेष्ठ दान है, जिसके पीछे स्व-परानुग्रह की भावना भी होती है।

☐ श्रम के विना प्राप्त धन वेस्वाद भोजन के समान है।

☐ अपनी न्यायोपार्जित शुद्ध कमाई में से योग्य व्यक्ति को देना महादान है।

☐ जो दान परम्परानुसार विना किसी विशेष भावना के दिया जाता है, वह सामान्य दान कहा जाता है।

१४. दान का मुख्य अंग : स्वत्व-स्वामित्व-विसर्जन

☐ 'इदं न मम'–यह मेरा नहीं है–इस संकल्प के साथ दूसरे को अपनी मानी हुई वस्तु सौंप देना–दान है।

☐ दान का कार्य किसी वस्तु को एक हाथ से दूसरे हाथ में सौंपे विना नहीं हो सकता।

☐ ममत्व त्याग का संकल्प ही दान का प्राण है।

☐ दान पर दक्षिणा की मुहर छाप लग जाने के कारण दान पक्का हो जाता है।

☐ राजा हरिश्चंद्र का दान आदर्श एव न्यायोपार्जित धन से युक्त दक्षिणा के कारण महादान के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

☐ दान के साथ शर्त रखी गई है–स्वत्व का विसर्जन करना।

☐ कुछ लोग दान के साथ प्रविष्ट हो जाने वाले अहंत्व, ममत्व, स्वत्व या स्वामित्व के विकार से बचने के लिए गुप्तदान देना ही अधिक पसद करते है।

☐ गुप्त रूप से किसी प्रकार की प्रसिद्धि, आडम्बर या विज्ञापन किये बिना दिया हुआ दान स्वत्वोत्सर्ग का उत्कृष्ट नमूना होता है।

☐ दूसरो के लिए स्व-प्राण विसर्जन करना अथवा दूसरो के लिए कष्ट उठाकर आत्म-भोग देना भी दान मे गृहीत हो जाएगा।

☐ दूसरों को अभय दान देना भी दान के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाएगा।

☐ दान मे स्वत्व, स्वामित्व, अहत्व-ममत्व का विसर्जन आवश्यक होता है।

☐ यथार्थ दान चार बातो से सम्पृक्त होता है–(१) स्वत्व के त्याग से, (२) अहंत्व के त्याग से, (३) ममत्व के त्याग से और (४) स्वामित्व के त्याग से।

☐ जबर्दस्ती लेना या किसी की बिना मर्जी के दबाव डालकर, भय दिखाकर या अपना प्रभाव डालकर आहार या किसी पदार्थ का लेना वास्तविक दान नही है।

☐ स्व-परानुग्रह के साथ स्वत्व, स्वामित्व, अहत्व और ममत्व का विसर्जन दान है।

☐ दान वह है जिसमे अपने स्वत्व (स्वामित्व, अहंत्व-ममत्व) को नष्ट करके दूसरे के स्वत्व (स्वामित्व) की उत्पत्ति के अनुकूल त्याग किया जाए।

☐ दान मे स्वपरानुग्रह रूप उद्देश्य आवश्यक होता है।

☐ जहां अपने स्वत्व के विसर्जन के साथ ही उस वस्तु पर दूसरे व्यक्ति का स्वत्व या स्वामित्व स्वेच्छा से स्थापित कर दिया जाए वहीं दान की पूर्ण क्रिया होती है।

☐ दान के साथ ऋद्धि गौरव की गांठ भी एक बहुत बड़ा दोष है।

☐ स्वत्व विसर्जन से दान भी, दाता भी, और आदाता भी धन्य हो उठते है।

☐ दान में चमक तो तब आती है जब व्यक्ति स्वत्व विसर्जन के चारों अंगों को पूर्ण करता है।

☐ दान में स्व-वस्तु का विसर्जन किया जाता है, किन्तु वह विसर्जित वस्तु किसी खास उद्देश्य से किसी व्यक्ति या संस्था को या समूह को सौंपी जाती है।

☐ त्यागरहित दान प्राणरहित शरीर जैसा है।

☐ त्याग के बिना कोरी दान क्रिया तो सिर दर्द होने पर लगाए जाने वाले बाम का लेप है।

☐ त्यागरहित दान का स्वभाव ममतालु होता है, जबकि त्यागयुक्त दान का स्वभाव दयालु होता है।

☐ त्यागयुक्त दान का निवास धर्म के शिखर पर है, जबकि त्यागरहित कोरे दान का निवास धर्म की तलहटी में है।

☐ दान त्यागरूपी काँटों से सुरक्षित गुलाब के फूल के समान है।

☐ त्याग का मानदण्ड व्यक्ति के मन की सच्ची विरक्ति हुआ करती है।

☐ कोरा त्याग भले ही दान से बढ़कर हो, मगर दान के वास्तविक लक्षण की दृष्टि से वह दान की कोटि में नहीं आ सकता।

☐ स्वपरानुग्रह के उद्देश्य से स्वत्व या स्वामित्व का त्याग करना टेढ़ी खीर है।

☐ बुद्धि और हृदय अर्थात् विवेक और विचार (भावना) इन दोनों के सहयोग से जो देने की क्रिया होती है, उसे ही दान कहा जा सकता है।

☐ दान का अर्थ फेंकना नहीं, अपितु विचारपूर्वक अपनी मानी हुई वस्तु दूसरे को सम्मानपूर्वक समर्पित करना है।

☐ दान का उत्कृष्ट रूप अहंत्व का दान करना है।

☐ श्री का वैभव या श्रीमत्ता तब आती है, जब श्री के साथ अहंकार न हो; नम्रता, दयालुता, कोमलता, करुणा और आत्मीयता हो।

☐ श्री के दान के साथ भी नामना-कामना प्रसिद्धिलिप्सा आदि का अहंत्व न हो; अहंता-ममता न हो। तभी उस दान को वास्तव में निष्कलंक दान कहा जा सकता है।

☐ दिया हुआ दान यानी स्वत्व विसर्जन किया हुआ पदार्थ वापस नहीं लिया जा सकता।

☐ स्वामित्व-विसर्जन के बाद वह वस्तु पुनः अपने अधिकार या स्वामित्व में नही ली जा सकती। दान के साथ यह कड़ी शर्त रखी गई है।

☐ एक बार स्वत्व-विसर्जन करने के बाद उस वस्तु को वापस लेना या लेने की इच्छा करना या नीयत रखना दान का कलंक है।

१५. दान के लक्षण और वर्तमान के कुछ दान

☐ दान स्व और पर की अनुग्रहबुद्धि या उपकार भावना से होना चाहिए।

☐ जिस दान के पीछे अपनी और पराई अनुग्रह-बुद्धि नहीं है, वह दान वास्तविक दान नही है।

☐ जहाँ सच्चे अर्थ में स्व-परानुग्रह तो न हो, केवल आलस्य या दारिद्र्य वृद्धि के लिए स्वत्व विसर्जन किया जाय, तो उसमे दान का वास्तविक लक्षण घटित नहीं होता।

☐ स्वयमेव दान देने वाला प्रसन्नता से दान देने के लिए प्रेरित हो, लेने वाले को हीन भावना से तथा स्वयं को उच्च भावना से न देखे।

☐ परम्परागत रूढ़ि-पोषण के रूप मे किसी व्यक्ति के आलस्य या अनीति के पोषण के लिए दान देना भी हितावह नही।

☐ जिस देने में किसी प्रकार का भय, प्रतिफल की आकांक्षा अथवा दूसरे को हीन समझकर देने की भावना हो, वह दान, दान नहीं है।

१६. दान और संविभाग

☐ दान का अर्थ है—सम्यक् वितरण-यथार्थ विभाग अथवा संगत विभाग।

☐ दान समाज के ऋण का प्रतिदान या उचित विभाग है, वह एक सहज मानव कर्तव्य है।

☐ संविभाग के अर्थ में जो दान है, वह दान का परिष्कृत अर्थ है।

☐ 'यथा-सविभाग' का अर्थ है– तुम्हारे पास जो भी साधन है, उनमें से जिस (जघन्य, मध्यम, उत्तम पात्र के) के लिए जो उचित हो, उस यथोचित वस्तु का सम्यक् (यथोचित) विभाग कर दो।

☐ दान करने वाले मे दया, नम्रता, सेवा भावना आदि गुण तो होने ही चाहिए। अन्यथा, दान स्व-परानुग्रह कारक नही रहेगा।

☐ 'दानं यथाशक्ति-संविभागः'—जैसी जिसकी शक्ति (योग्यता, क्षमता, आवश्यकता, स्थिति आदि) है, उसके लिए तदनुसार यथोचित्त विभाग करना दान है।

☐ दान का संविभाग अर्थ तभी सार्थक होता है, जब दाता की वैसी भावना बने और वह स्वेच्छा से दान के लिए प्रेरित हो !

☐ जिस प्रकार अपने (गृहस्थ के) घर में आहारादि अपने लिए बना हुआ है उसका एषणा समिति से संगत पश्चात् कर्म आदि आहार दोषों को टालकर साधु-साध्वी को दान के द्वारा विभाग करना यथासंविभाग है।

☐ दान मानव जीवन का अनिवार्य धर्म है, इसे छोड़कर जीवन की कोई भी साधना सफल एवं परिपूर्ण नहों हो सकती।

☐ दान के विना मानव-जीवन नीरस, मनहूस और स्वार्थी है, जबकि दान से मानव जीवन में सरसता, सजीवता और नन्दनवन की सुषमा आ जाती है।

१७ दान की तीन श्रेणियाँ

☐ दान का मुख्य सम्बन्ध भावों के साथ है।

☐ दान को नापने और उसका प्रकार निर्धारित करने का थर्मामीटर भाव है।

☐ वृत्ति से ही दान की किस्म का पता चलता है।

☐ दान में वस्तु मुख्य न होकर अंतःकरण ही मुख्य है।

☐ विचार, क्रिया, मनोवृत्ति या भावना के अनुसार दान का वर्गीकरण महान पुरुपों ने किया है।

☐ भावना एवं मनोवृत्ति के अनुसार विद्वानों ने दान को तीन श्रेणियों में निर्धारित किया है—सात्विक, राजस और तामस।

☐ सात्विक दान ही उच्चकोटि का दान है।

☐ सात्विक दान के पीछे दाता में दान के वदले किसी प्रकार की प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, यश या धन आदि के लाभ की कामना नहीं रहती।

☐ सात्विक दानदाता के द्वारा देय वस्तु भी सात्विक होती है।

☐ जो दान देश, काल (स्थिति) और पात्र देखकर, जिसने कभी अपना उपकार नही किया है, ऐसे व्यक्ति को भी, 'इसे देना मेरा कर्तव्य है', यह समझकर दिया जाता है, उस दान को सात्विक दान माना गया है।

☐ सात्विक दान मे धर्म का प्रकाश होता है।

☐ सुयोग्य व्यक्ति को कर्तव्य-भावना से, किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना जो दिया जाता है, वह सात्विक दान कहलाता है।

☐ सात्विक दान मे भक्तिभाव, श्रद्धा, स्नेह, समर्पण भावना, सहानुभूति, आत्मीयता एवं अनुग्रह बुद्धि की प्रबलता होती है और स्वस्थ विसर्जन तो होता ही है।

☐ सात्विक दान के साथ किसी भी प्रकार के बदले की भावना नही होती।

☐ जिस दान के पीछे दाता स्वयं अपनी ओर से अपना नाम, रूप एवं विशेषता का विलय कर दे, अपने अहंत्व एवं व्यक्तित्व को परमात्मत्व मे विलीन कर दे, वास्तव में वही सात्विक दान होता है।

☐ जीवन में जब सात्विक दान की वृत्ति आ जाती है तो व्यक्ति के जीवन को निश्चिन्त और हलका बना देती है, उसमे उर्ध्वचिन्तन की ज्योति विकसित हो जाती है।

☐ जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अर्थात् बदले में अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करने की आशा से अथवा फल का उद्देश्य रख कर दिया जाता है, वह दान राजस कहलाता है।

☐ राजस दान, दान तो है, परन्तु सांसारिक कार्य के प्रयोजन से दिया जाता है।

☐ राजस दान फलासक्ति युक्त होने से दान के वास्तविक फल पर पानी फेर देता है।

☐ सात्विक दान का फल कर्मो की निर्जरा हो सकता है, जबकि राजस दान का परिणाम फलाकांक्षा युक्त होने से कर्म निर्जरा नहीं होती; अधिक से अधिक पुण्य प्राप्ति हो सकती है।

☐ राजस दान मन मे उत्साह, उमंग या उदारता से नही दिया जाता।

☐ सात्विक दानी प्रसन्न मन से दान देता है, जबकि राजस दानी अप्रसन्नता से, अनमने भाव से, दबाव से या लोभ से देता है।

☐ जो दान केवल अपने यश के लिए दिया गया हो, जो थोड़े समय

के लिए ही सुन्दर और चकित करने वाला हो, जो दूसरों से दिलाया गया हो अथवा दूसरों की वस्तु अपने नाम से दी गई हो, उस दान को राजस दान कहा है।

☐ सात्विक दान के रूप में दिया गया थोड़ा-सा भी दान महालाभकारी होता है, जबकि राजसदान यथेष्ट लाभकारक नही रहता।

☐ साधारण जनता राजसदान और राजसदानी की अत्यधिक प्रशंसा करती है।

☐ राजसदानी प्रसिद्धि, प्रशंसा और कीर्ति के लोभ में आकर ही प्रायः दान देना है।

☐ राजसदानी सात्विक दानी की तरह चुपचाप दान देना पसद नहीं करता। वह अपने दान का बखान चाहता है।

☐ सात्विक दान में भावना है, जबकि राजसी दान में दान देने की भावना मरी हुई है।

☐ तामस दान सात्विक से तो निकृष्ट है ही, राजसदान से भी निकृष्ट है।

☐ तामस दान में देय वस्तु जरा सी होती है, किन्तु उसका विज्ञापन अत्यधिक होता है।

☐ तामसदानी अपने दान का जितना ढिंढोरा पीटता है, उतना देता नहीं है।

☐ तामसदानी अविवेक और अज्ञान के तमस से आच्छन्न रहता है।

☐ तामसदान के साथ मानव को मानव नही समझा जाता है।

☐ तामसदान में दूसरे के प्रति कोई सहानुभूति, सद्भावना, आत्मीयता, सहृदयता या मानवता जैसी वस्तु नही होती।

☐ जिस दान में पात्र-अपात्र का कोई भी विचार न किया गया हो, जिसमें आदाता का कोई सत्कार नहीं किया जाता, जो दान निन्द्य हो और जिसके सब उद्योग दास और भृत्य से कराये गए हों, ऐसे दान को तामसदान कहा है।

☐ दान देना ही हो तो अच्छी चीज या देय वस्तु अच्छी हालत में हो, उसे दी जाए।

☐ सात्विक दान सर्वोत्तम है, उससे निकृष्ट दान राजसदान है, और सब दानों में तामस दान जघन्य है।

१८. अनुकम्पादान : एक चर्चा

☐ दान का मूलाधार ही अनुकम्पा है। अनुकम्पा दान का प्राण है।

☐ अनुकम्पादान वह है, जो दयनीय, अनाथ, दरिद्र, संकटग्रस्त, रोग-ग्रस्त, एवं शोक पीड़ित व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर दिया जाता है।

☐ अनुकम्पा दान भी तभी सफल होता है, जबकि उसमें जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदि के भेदों से ऊपर उठकर दिया जाय।

☐ अनुकम्पादान का दायरा बहुत ही व्यापक है।

☐ अनुकम्पादान के पात्र दीन, दुःखी, रोगी, संकटग्रस्त या किसी भी अभाव मे पीड़ित व्यक्ति या सुसस्था हैं।

☐ जो धन, साधन आदि सब बातों से समर्थ है, उन्हें दान देना व्यर्थ है। जो दीन, दुःखी पीड़ित या दरिद्र है उन्हे दान देना सार्थक है।

☐ सम्यग्दृष्टि वही है, जिसका हृदय दीन दुःखी को देखकर अनुकम्पा से भर आता हो, और जिसका हाथ उन्हें दान देकर उनके कष्ट निवारण के लिए तत्पर हो उठता हो।

☐ अनुकम्पा दान हर हालत में सार्थक होता है। वह निष्फल तो तव होता है, जव उसमें देश, काल और पात्र का विवेक नहीं होता।

☐ अनादर या अवज्ञा के साथ जो दान दिया जाता है, वह सार्थक नही होता।

☐ तीर्थकरो ने कभी किसी अनुकम्पनीय के लिए (फिर वह चाहे श्रावक या साधु हो या न हो) अनुकम्पा लाकर दान देने का निषेध नही किया है।

☐ दुर्जय राग-द्वेष-मोह की त्रिपुटी के विजेता समस्त जिनेन्द्र भगवन्तों ने श्रद्धालु श्रावकों के लिए अनुकम्पा दान का कहीं निषेध नहीं किया है।

☐ अनुकम्पा दान मे. दाता को आदाता द्वारा वाद में किए जाने वाले पाप का भागी बनना पडता है, यह मान्यता निर्मूल एव निराधार है।

☐ अनुकम्पा दान वास्तव मे मनुष्य की जीवित मानवता का सूचक है, उसके हृदय की कोमलता और सम्यक्त्व की योग्यता का मापक यंत्र है।

१९. दान की विविध वृत्तियाँ

☐ संग्रह करने के लिए, लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए, अथवा अपने पक्ष में करने के लिए दान देना संग्रहदान है।

☐ संग्रहदान मोक्ष–कर्ममुक्ति का कारण नहीं है।

☐ अधिकाधिक लोगों को आकर्षित करने हेतु कुछ दान दे देना भी सग्रहार्थ दान है।

☐ किसी कष्ट, विपत्ति या संकट में पड़े हुए व्यक्ति या जनसमूह को कुछ सहायता (दान) देकर अपने पक्ष में कर लेना, उन्हें एहसानमन्द बना देना भी सग्रहदान है।

☐ संग्रहदान विरोधी व्यक्तियों को अपने पक्ष में करने, वश करने या पकड़ में ले लेने हेतु किया जाता है।

☐ संग्रहदान केवल स्वार्थसिद्धि का कारण बनता है।

☐ संग्रहदान प्रायः बदनामी से बचने के प्रयोजन से किया जाता है।

☐ राजा, पुलिस, पुरोहित, चुगलखोर, राजकर्मचारी, दण्डाधिकारी आदि के भय से जो दिया जाता है, उसे विद्वान लोग भयदान मानते हैं।

☐ भयदान अन्तःकरण प्रेरित या स्वत.प्रेरित दान नहीं होता।

☐ भयदान भी कर्ममुक्ति का कारण नहीं है और न ही पुण्यफल का कारण है।

☐ आध्यात्मिक भय से डर कर दान धर्मादि का आचरण करने पर कर्मो का क्षय तो नही होता, किन्तु पुण्यबंध हो जाता है।

☐ पुत्र वियोग आदि से होने वाले शोक के कारण उसके स्त्री–पुत्रों आदि द्वारा अगले जन्म में वह सुखी हो, इस आशय से किसी दूसरे (ब्राह्मण आदि) को दान देना कारुण्य दान है।

☐ कारुण्य दान अपने पिता आदि पारिवारिक की स्मृति में दिया जाता है, वह न मोक्षदायक होता है और न पुण्यजनक, और न वह अधर्म या पाप का जनक है।

☐ कारुण्य दान बहुधा अन्धविश्वास से प्रेरित होता है।

☐ जो दान दूसरों के लिहाज या दबाव में आकर शर्मा-शर्मी या लज्जा वश दिया जाया है, वह लज्जादान कहलाता है।

☐ दूसरों का मन रखने के लिए शर्मा-शर्मी लिहाज या लज्जा से जो दान दिया जाय, वह लज्जादान कहलाता है।

☐ उपनिषद् में लज्जा से दान देने की भी प्रेरणा की गई है।

☐ गौरवदान वह है–जो अपनी प्रतिष्ठा का सवाल समझकर दिया जाता है, अथवा गर्वपूर्वक प्रतियोगितावश या होड़ लगाकर दिया जाता है।

☐ जो दान गर्व से दिया जाय, उसे ही गौरवदान कहते है।

☐ गौरवदान में परोपकार की दृष्टि अत्यल्प ही होती है।

☐ गौरवदान के पीछे वाहवाही, यशोकामना एवं कीर्तिपताका फहराने की ही दृष्टि रहती है।

☐ मनुष्य विविध प्रकार के संकल्प–विकल्प से प्रेरित होकर देता है, पर सभी दिया हुआ दान, धर्म या पुण्य नहीं होता।

२० अधर्मदान और धर्मदान

☐ जब दान के द्वारा अधर्म को अशुभ वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है तो वह दान 'अधर्म दान' हो जाता है।

☐ जो हिंसा, झूठ, चोरी आदि में उद्यत हो, परस्त्रीगमन एवं परिग्रह में आसक्त हो, उस दौरान उसे जो कुछ दिया जाता है, उसे अधर्मदान समझना चाहिए।

☐ अधर्मदान का उद्देश्य किसी अधर्म को बढ़ाना होता है।

☐ जो मनुष्य प्राणीहित से प्रेरित होकर अहिंसा, सत्य धर्म के पोषण, वृद्धि एव संरक्षण के लिए दान देता है, उसका वह दान धर्मदान कहलाता है।

☐ धर्म से पतित होते हुए किसी व्यक्ति को धर्म मार्ग पर लाने के लिए जो दान दिया जाता है, वह धर्मदान है।

☐ धर्मदान में कोई स्वार्थ, आकाक्षा, पदलिप्सा, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की कामना, नामवरी की इच्छा आदि हो तो वह धर्मदान नही रहता।

☐ सच्चे मायने में धर्मदान वह है, जो दाता के कर्मबन्धन को काट सके, मोक्षफल प्रदायक हो।

☐ जो दान निर्जरा और सवर का कारण हो, वही दान धर्मदान की सीमा में आता है।

☐ निःस्पृही, त्यागी और धर्म-धुरन्धर उत्कृष्ट सुपात्रो को दान देना धर्मदान है।

☐ धर्म कार्य के लिए भी निःस्वार्थ एवं निष्काम भाव से दिया जाने वाला दान भी धर्मदान की कोटि में आ सकता है।

☐ एक पतित व्यक्ति को धर्म की राह पर चलने हेतु श्रावक के द्वारा जो दान दिया जाता है, वह धर्मदान की कोटि में ही परिगणित होता है।

☐ धर्मवृद्धि के कार्य में जो भी व्यक्ति निष्कांक्ष भाव से दान देता है। उसका वह दान धर्मदान की कोटि में गिना जा सकता है।

☐ धर्म रक्षा के लिए अर्थराशि देना भी धर्मदान है।

☐ धर्मादा अर्थराशि के दान को हम धर्मदान कह सकते है।

☐ करिष्यतिदान किसी प्रतिदान की आशा से किया जाता है।

☐ 'यह मेरा कुछ उपकार करेगा'—इस बुद्धि से जो दान दिया जाता है, वह 'करिष्यति' दान कहलाता है।

☐ लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है और उनके बदले में उनसे प्रत्युपकार की वांछा नही करता, उसी का जीवन सफल है।

☐ करिष्यतिदान अपने आप में न तो पुण्य है, और न ही धर्म। वह लौकिक व्यवहार के नाते आदान-प्रदान और कर्तव्य है।

☐ कृतदान एक प्रकार से दानी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का दान है। यह प्रतिदान का रूप है।

☐ इसने मुझे दान दिया था, इस प्रयोजन से प्रत्युपकार की दृष्टि से जो दान दिया जाता है, वह कृतदान कहलाता है।

☐ कृतदान सच्चे माने में सार्थक तभी होता है, जब आदाता की दाता के प्रति प्रारम्भ से ही सद्भावना, कृतज्ञता की भावना और सहृदयता रहे।

☐ कृतदान दाता की भावना को प्रोत्साहित और उत्तेजित करने के लिए बहुत ही प्रभावशाली होता है।

☐ कृतदान से दाता के मन में संक्लेश समाप्त हो जाता, है, सद्भावना की वृद्धि होती है।

☐ कृतदान भविष्यकाल के द्वारा भूतकाल को प्रतिदान है।

☐ करिष्यतिदान में दाता की और कृतदान में आदाता की सद्भावना ही मुख्य होती है। वैसे तो दोनों में प्रतिदान की भावना का मूल आधार आदाता है।

☐ करिष्यतिदान की अपेक्षा कृतदान बहुत ही उच्चकोटि का दान है ।

☐ कृतदान जीवन में कर्तव्य की भावना जागृत होने पर ही चरितार्थ होता है ।

☐ दस प्रकार के दानों में धर्मदान सर्वश्रेष्ठ है और अधर्मदान निकृष्ट है ।

२१. दान के चार भेद : विविध दृष्टि से

☐ आचार्य जिनसेन ने महापुराण में विविध दृष्टियों से दान के चार भेद बताए है - (१) दयादत्ति, (२) पात्रदत्ति, (३) समदत्ति और (४) अन्वयदत्ति ।

☐ दयादत्ति का अर्थ है— किसी भयभीत प्राणी को दयापूर्वक दान या अभयदान देना ।

☐ दयादत्ति के द्वारा प्राणी की भय से मुक्ति हो जाती है, उसे अभय मिल जाता है ।

☐ जहाँ व्यक्ति संकट आने पर अपने प्राणों की परवाह न करके दूसरे के प्राणों की रक्षा करने का विचार और प्रयत्न करता है, वहीं दया-दत्ति है ।

☐ महातपस्वी मुनिवरों को सत्कारपूर्वक पडगाह कर जो आहार आदि दिया जाता है, उसे पात्रदत्ति कहते है ।

☐ अपने से समान कोटि वाले या समान स्थिति वाले गृहस्थों को दान देना समानदत्ति दान है ।

☐ यद्यपि समानदत्ति दान पात्रदत्ति या दयादत्ति के समान उच्चकोटि का दान नही है, तथापि यह हेय भी नही है, न अत्यन्त निकृष्ट दान है ।

☐ साधर्मि भाइयों को दान देना भी समानदत्ति दान है ।

☐ समानदत्ति अपने गरीब और अभावग्रस्त भाई-बहनों को समान करने के लिए भी होता है ।

☐ अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए समस्त कुल पद्धति तथा धन के साथ परिवार सौपना अन्वयदत्ति या सकलदत्ति कहलाता है ।

☐ समर्पण या उत्तराधिकार दान को अन्वयदत्ति कहा जाता है ।

☐ अन्वयदत्ति दान सीमित दायरे में होने के कारण न तो पुण्य का कारण है और न विशिष्ट धर्म का ही।

☐ अन्वयदान पाप नहीं है और न ही अधर्म है।

२२. आहारदान का स्वरूप

☐ साधु भी दान देता है, पर वह ज्ञान, धर्म आदि का ही दान दे सकता है, खाद्य पदार्थों का नहीं।

☐ अलौकिक दान चार प्रकार का है—आहारदान, औषधदान, ज्ञान (शास्त्र) दान और अभयदान।

☐ दीन-दुःखी, करुणापात्र को दान देने से कीर्ति की पुष्टि (वृद्धि) होती है, भाई-बन्धुओं को दान देने से स्नेह की पुष्टि होती है और सुपात्र को दान देने से धर्म की पुष्टि होती है। दान कदापि निष्फल नहीं जाता।

☐ गृहस्थ के लिए आहारदान आदि को ही परम धर्म माना गया है।

☐ निःस्पृह साधु अपने संयमपालन एवं धर्माराधन के लिए जीता है।

☐ साधु को भोजन दान क्या दे दिया ? सद्गृहस्थ ने वास्तव में उसे ज्ञान, ध्यान, तप, संयम, धर्म, नियम आदि में पुरुषार्थ करने का बल दे दिया।

☐ केवलज्ञान से बढ़कर उत्तम कोई ज्ञान नही है, निर्वाण सुख से श्रेष्ठ कोई सुख नहीं है, उसी प्रकार आहारदान से बढ़कर उत्तम अन्य कोई दान नहीं।

☐ अन्नदानकर्ता पुरुष संसार की सर्वसुन्दर वस्तुएँ उस दान के फल-स्वरूप प्राप्त करता है।

☐ 'अन्नं वै प्राणाः' अन्न ही वास्तव में प्राण है। अन्नदान एक अर्थ में प्राण दान देना है।

☐ जो भव्य जीव मुनिवरों को आहार देने के पश्चात् अवशेष भोजन को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को पाता है और क्रमशः मोक्ष के श्रेष्ठ सुखों को प्राप्त करता है।

☐ क्षुधापीड़ितों के साथ अपना भोजन बांटकर खाना और प्राणियों

की रक्षा करना यह धर्मों का सर्वस्व है और धर्मोपदेष्टाओं के समस्त उप-देशों में श्रेष्ठतम उपदेश है।

☐ समानदत्ति की दृष्टि से भी आहारादि का दान उचित ही है।

☐ जो मनुष्य भोजन देता है, वह लेने वाले को चार चीजें देता है—वर्ण, सुख, बल और आयु। साथ ही देने वाले को उसका सुफल उसी रूप में मिलता है—दिव्यवर्ण, दिव्यसुख, दिव्य बल और देवायु।

☐ अन्नदानी दयार्द्र होता है। उसके कण-कण में क्षुधापीड़ितों के प्रति करुणा होती है, उसका अनुकम्पाशील हृदय भूखों के दुःख को अपना दुःख समझता है।

☐ अलौकिक आहारदान में यह अवश्य देखा जाता है कि देय वस्तु न्यायोपार्जित एवं कल्पनीय, एषणीय हो।

☐ समाज से धर्मपालन कराने एवं समाज को स्वच्छ व स्वस्थ रखने के लिए 'आहारदान' सर्वप्रथम आवश्यक है।

२३. औषध-दान : एक पर्यवेक्षण

☐ उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से पीड़ित जीव को जानकर, देखकर शरीर के योग्य पथ्यरूप औषधदान देना चाहिए।

☐ औषधदान से दाता को आरोग्य मिलता है।

☐ औषधदान देने वाले महान् आत्मा को भी जिन्दगीभर किसी प्रकार की शरीर पीड़ाकारी व्याधि नहीं होती।

☐ औषधदान भी तभी दिया जाता है जब रुग्ण व्यक्ति के प्रति दाता के मन में महाकरुणा हो।

☐ औषधदानी महान् पुण्य का उपार्जन तो करता ही है साथ ही उत्कृष्ट भावरसायन आ जाने पर निर्जरा (कर्मक्षय) भी कर लेता है।

☐ औषधदान करने वाले व्यक्ति के मन में करुणा का झरना बहता रहता है।

☐ रोगों के नष्ट करने के लिए रक्त नेत्र आदि का दान भी औषध-दान के अन्तर्गत ही समझा जाना चाहिए

☐ अलौकिक और लौकिक सभी तरह का औषधदान बहुत ही महत्वपूर्ण, पुण्योपार्जन का कारण एवं परम्परा से मुक्ति का कारण है।

☐ औषधदान एक प्रकार का आहारदान और अभयदान है।

२४. ज्ञानदान बनाम चक्षुदान

☐ ज्ञान भी एक प्रकार की आध्यात्मिक औषधि है, उसके बिना चेतन की रक्षा सम्भव नहीं है।

☐ ज्ञानदान अत्यन्त महत्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ वस्तु है।

☐ 'समस्त वस्तुओं के यथार्थ प्रकाश' (वस्तुस्वरूप के ज्ञान) के लिए और अज्ञान एवं मोह को मिटाने के लिए ज्ञान से बढ़कर कोई महत्वपूर्ण वस्तु संसार में नही है।

☐ इस संसार में ज्ञान के समान कोई भी पवित्र वस्तु नही है। ज्ञान सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है।

☐ सारे के सारे कर्म (क्रियाएँ) ज्ञान में परिसमाप्त होते है।

☐ ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मो को भस्म कर डालती है।

☐ परमात्मा को ज्ञानवान ही प्राप्त कर सकता है।

☐ आत्मा के आच्छादित ज्ञान को प्रकट करने के लिए ज्ञानदान की आवश्यकता होती है।

☐ पापकर्मो, दुर्गुणो, दुर्व्यसनों और बुराइयों से दूर रहने के लिए ज्ञानदान की महती आवश्यकता होती है।

☐ ज्ञान प्रकाश है।

☐ ज्ञान एक सद्गुण है।

☐ ज्ञान आनन्दमय है।

☐ ज्ञान एक शक्ति है।

☐ आत्मा का महान् बल ज्ञान के द्वारा ही प्रगट होता है।

☐ क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर सभी उन्नतियों का मूल ज्ञान है।

☐ समस्त पुरुषार्थो में सिद्धि या सफलता पहले सम्यग्ज्ञान होने पर ही मिलती है।

☐ सम्यग्ज्ञान होने पर व्यक्ति शरीर पर मोह-ममत्व न करके शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान अनायास ही कर लेता है।

☐ शुद्ध ज्ञान का दान जन्म-जन्मान्तरों के दुष्कर्मों को क्षणभर में नष्ट करने की शक्ति प्राप्त करा देता है।

☐ ज्ञानदान देने वाला व्यक्ति आदाता के कोटि-कोटि जन्मों के पाप-तापों को दूर करने में सहायक बनता है। वह एक जन्म के ही नही, अनेकानेक जन्मो के दुःखो के निवारण में सहायता करता है।

☐ ज्ञानदान तो प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक अवसर और हर क्रिया में उपयोगी, अनिवार्य एव सुखवर्द्धक होने से प्रतिक्षण अपेक्षित होता है।

☐ अलौकिक ज्ञानदान-दाता प्रायः साधु-साध्वी, श्रमण-श्रमणी होते है।

☐ शास्त्रदान ज्ञानदान का ही एक महत्वपूर्ण अंग है।

☐ ज्ञान और खासकर शास्त्रदान के बिना साधु का जीवन अंधेरे में रहता है, वह स्वयं संशय और मोह मे पड़ा रहता है।

☐ साधु का नेत्र आगम है।

☐ शास्त्रज्ञान पाकर ही साधु तत्व निर्णय कर पाता है। इसलिए शास्त्रदान ज्ञानदान का एक विशेष रूप है।

☐ शास्त्रज्ञानदाता को ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर चराचर विश्व को जानने वाला केवलज्ञान प्राप्त होता है।

☐ शास्त्रदान देने वाला सज्जनों या सन्तों में पूजनीय, आदरणीय होता है, मनीषी उसकी सेवा करते है।

☐ उन्नत बुद्धि के धनी भव्य जीवो को पढ़ने के लिए भक्ति से जो पुस्तक-दान दिया जाता है, उसे विद्वान लोग श्रुताश्रित दान (शास्त्रदान या ज्ञानदान) कहते है।

☐ शास्त्रदान (ज्ञानदान) देने से दाता श्रुतकेवली हो जाता है।

२५. ज्ञानदान : एक लौकिक पहलू

☐ जिस ज्ञान द्वारा सीधा आत्म-दर्शन अथवा आत्मदृष्टि प्राप्त होती है वह अलौकिक ज्ञान है, और जिस ज्ञान द्वारा व्यावहारिक बुद्धि का विकास एवं विस्तार होता है, वह लौकिक ज्ञान है।

☐ जल, अन्न, गाय, पृथ्वी, निवास, तिल, सोना और घी इन सबके दान की अपेक्षा ज्ञानदान विशिष्ट (बढ़कर) है।

☐ ज्ञानदान प्राप्त होते ही मनुष्य को अपने हिताहित का बोध हो जाता है और वह अहित या अकर्तव्य से दूर हट जाता है।

☐ ज्ञानदान देने के लिए कुछ महादाताओं को अपना बलिदान भी देना पड़ता है।

☐ धर्मज्ञान को पाकर मनुष्य अपनी आत्मा को तथा आत्मा से भिन्न पदार्थों को भली-भाँति समझकर अपने आत्म-कल्याण में प्रवृत्त होता है।

☐ युक्ति से सन्त ही ज्ञानदान देकर कुरूढ़िग्रस्त या किसी कुप्रथा के गुलाम बने हुए व्यक्ति को बदल सकते हैं।

☐ पहले ज्ञान हो, तब दया शोभा देती है और वह दया विवेकपूर्वक होती है। जब अन्तर् में जागृति आ जाती है तो मनुष्य ज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं माँगता।

☐ व्यावहारिक ज्ञानदान के साथ चरित्र-निर्माण का ध्यान रखने पर भी वह व्यावहारिक ज्ञानदान सुन्दर प्रतिफल लाता है।

☐ अन्नदान से तो सिर्फ एक दिन का संकट दूर होता है, पर विद्यादान से जिन्दगी भर का दुःख टलता है।

☐ जो ज्ञानवान है, वही प्रभु को प्राप्त करता है। ज्ञान के लिए विद्यादान उत्तम उपाय है।

☐ विद्यादान पाये हुए व्यक्ति के द्वारा विद्यादान में व्यय करना एक तरह से प्रतिदान है। ऋणमुक्ति का प्रकार है।

☐ लौकिक ज्ञानदान भी परम्परा से मुक्ति का कारण बन जाता है।

२६. अभयदान : महिमा एवं विश्लेषण

☐ दान का चौथा भेद अभयदान है। हर युग में अभयदान की आवश्यकता रहती है।

☐ वर्तमान युग में तो निरंकुश राजनैतिक दमनचक्र के कारण अभयदान की सबसे अधिक आवश्यकता है।

☐ आहारदान, औषधदान और ज्ञानदान की अपेक्षा अभयदान का मूल्य अधिक है।

☐ भूमिदान, स्वर्णदान, गोदान या अन्नदान आदि उतने महत्वपूर्ण नही हैं, जितना अभयदान। अभयदान को समस्त दानों में महत्त्वपूर्ण दान कहा जाता है।

☐ भयभीत प्राणियों की प्राणरक्षा करके उन्हें अभयदान देने वाले व्यक्ति विरले ही मिलते है।

☐ अभयदान तो जिदगी का दान है।

☐ बड़े-बड़े दानों का फल समय बीतने पर क्षीण हो जाता है, लेकिन भयभीत प्राणियों को दिये गये अभयदान का फल कभी क्षीण नहीं होता।

☐ सब दानों को मनुष्य या प्राणी भूल जाते है, लेकिन अभयदान को नही भूलते।

☐ अभयदान तो मनुष्य ही नही, ससार के सभी प्राणियों के काम आता है।

☐ सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।

☐ अगर कोई सोने का बना मेरुपर्वत किसी को दे दे, अथवा सारी पृथ्वी दे दे और दूसरा एक ही प्राणी को जीवनदान दे तो भी ये अभयदान के बराबर नहीं हो सकते।

☐ अन्य वस्तुओं का दिया हुआ दान, की हुई तपस्या, तीर्थ-सेवा, शास्त्रश्रवण, ये सब अभयदान की सोलहवी कला को प्राप्त नही कर सकते।

☐ भयभीत प्राणियों को जो अभयदान दिया जाता है, उससे बढ़कर अन्य कोई धर्म इस भूमण्डल में नही है।

☐ मरणभय से भयभीत समस्त जीवों को जो अभयदान दिया जाता है, वही सब दानों में उत्तम है और समस्त आचरणों में वही दान मूल आचरण है।

☐ स्वभाव से ही सुख के अभिलाषी एवं दुःखों से भयभीत प्राणियों को जो अभय दिया जाता है, वह अभयदान कहलाता है।

☐ मरण से भयभीत जीवों का जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, उसे सब दानों का शिखामणिरूप अभयदान समझना चाहिए।

☐ अनेकों को प्राण-संकट से मुक्त कराकर अभय का संचार करना अभयदान का एक पहलू है।

☐ मृत्यु से भयभीत प्राणी की रक्षा करना अभयदान का एक पहलू है।

☐ सभी जीव (सुख से) जीना चाहते है, मरना कोई भी नहीं चाहता।

☐ अभयदानी दूसरे प्राणी की पीड़ा को अपनी पीड़ा जानता है। दूसरे के दुःख और भय को अपना दुख और भय समझता है।

☐ संसार सागर से तरने के तीन उपाय है—(१) सब जीवों पर दया करना, (२) सब जीवों पर क्षमा रखना, (३) सबकी सेवा करना।

☐ अभयदान का एक पहलू है—संकट, दुःख, रोग या आफत में पड़े हुए प्राणियों को उस अवस्था से मुक्त करा कर उन्हें सुरक्षा का आश्वासन देना-दिलाना।

☐ अभयदान का एक पहलू है—अपराध या श्राप आदि किसी कारण से शंकित, भयभीत प्राणी को क्षमादान करना।

☐ अभयदान का एक पहलू, जो सर्वसम्मत है, वह है—शरणागत की रक्षा प्राणपण से करना।

☐ शरणागत की रक्षा करके उसे अभयदान देने वाला अपने प्राणों को भी सकट में डाल देता है।

☐ अभयदान का एक विशिष्ट पहलू है—किसी प्राणघातक बलिदान, मांस भोज आदि कुप्रथा का निवारण कराकर प्राणियों में शान्ति एवं सुरक्षा की भावना पैदा करना।

☐ बरातियों को मांस खिलाने की भयंकर प्रथा, नरबलि प्रथा और सती प्रथा इस प्रकार की अनेक कुप्रथाओं का अन्त विभिन्न अभयदानियों ने अपना आत्मयोग देकर कराया है। यह उत्तम कोटि का अभयदान है।

☐ जिस महापुरुष ने जीवों को प्रीति का आश्रय देकर अभयदान दिया, उस महान् आत्मा ने कौन-सा तप नहीं किया? और कौन-सा दान नहीं दिया?

☐ अभयदान का अन्तिम पहलू है, किसी भी भावी विपत्ति या आफत या संकट से जनता को बचाने के लिए अपने धन, माल, मकान या प्राण तक का उत्सर्ग करना।

☐ अभयदान देने वाला दूसरे पदार्थों के दाताओं की अपेक्षा अधिक

त्याग करता है, उत्सर्ग करता है और अपने जीवन को दया और करुणा की भावना से ओतप्रोत करके कार्य करता है।

☐ पूर्ण अभयदान वह है, जिसमें अभयदाता वही हो सकता है, जो आजीवन अभयदाता बनकर किसी भी जीव को न तो स्वयं पीड़ा पहुँचाता है, न दूसरों से पीड़ा दिलाता है और न ही पीड़ा देने वालों का समर्थन करता है।

☐ अभयदानदाता जिन्दगी भर के लिए अभयदान के प्रसंगों के लिए उत्तरदायी रहता है।

☐ अभयदानी को छोटे से छोटे जन्तु के प्रति भी आत्मीयता होनी चाहिये।

☐ अभयदानी भक्त का लक्षण—जिससे जगत् भय न पाता हो, साथ ही जो स्वयं जगत् से भय न खाता हो, तथा जो हर्ष, क्रोध और भय के उद्वेगो से मुक्त हो।

☐ अहिंसा और अभयदान की शक्ति गजब की होती है।

☐ अभयदानी जब सभी प्राणियों का विश्वास जीत लेता है, प्राणी उससे कोई खतरा नहीं मानते हों, तभी वह पूर्ण अभयदानी बनता है।

☐ जैसे समभाव महाव्रत का धारण-पोषण करता है, वैसे ही अभयदान से जीवो के शरीर का पोषण होता है। उस पूर्ण अभयदान का फल अनिर्वचनीय होता है।

☐ पूर्ण अभयदान मन-वचन-काया तीनो की शुद्धिपूर्वक ही हो सकता है।

☐ अलौकिक अभयदान साधु-साध्वियों, महाव्रतियों, श्रमण-श्रमणियो, सन्यासियो आदि के द्वारा होता है, अथवा अलौकिक अभयदान वह हो सकता है, जिसमें किसी प्रकार की लौकिक आकांक्षा या आसक्ति न हो।

२७. दान के विविध पहलू

☐ वसतिदान—ऐसा स्थान या मकान साधु-साध्वियो या महाव्रतियो को निवास के लिए देना जो संयमपोषक हो।

☐ शयनदान—सोने, बैठने के लिए कल्पनीय, निर्दोष, जीव-जन्तु से रहित तख्त, पट्टा, फलक, चटाई आदि साधु-साध्वियो को या उत्तम पात्रो को देना।

☐ आसनदान—बैठने के लिए चौकी, छोटा स्टूल, छोटी मेज या अन्य लकड़ी आदि की प्रासुक वस्तु का देना।

☐ भक्तदान—साधु-साध्वियों को ऐसी खाद्य वस्तुएँ देना जिनसे धर्मवृद्धि हो, संयम-साधना निराबाध हो सके।

☐ पानीदान—साधु-साध्वियों को प्रासुक, ऐषणीय, कल्पनीय, भिक्षा के दोषों से रहित निर्दोष जल देना।

☐ भैषज्यदान—साधु-साध्वियों को औषध भैषज्य (दवा, पथ्यपरहेज आदि देना-दिलाना।

☐ वस्त्रदान—शुद्ध, ऐषणीय, कल्पनीय वस्त्र साधु-साध्वियों को उनकी आवश्यकतानुसार देना-दिलाना।

☐ पात्रदान—महाव्रतियों या साधु-साध्वियों को उनके लिए कल्पनीय और आहार-पानी आदि के लिए आवश्यक काष्ठ, तुम्बा या मिट्टी आदि के पात्र देना।

☐ यथाप्रवृत्तदान—साधु-साध्वी या संयमी पुरुष जिस शुभ कार्य में प्रवृत्त हों, उसके लिए जो भी आवश्यक साधन हों, उनका देना अथवा उस शुभ कार्य में योगदान देना।

☐ अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम इन चारों प्रकार के आहार साधु-साध्वियों को प्रासुक, ऐषणीय, कल्पनीय हो तो देना अशनादिदान है।

☐ उचितदान में एक प्रकार से गुणों को प्रोत्साहन, गुणज्ञ का सम्मान तथा कर्तव्यपालन की भावना छिपी रहती है।

☐ औचित्य की सीमा तक किसी व्यक्ति को उसकी सेवा, योग्यता, सत्कार्य या सद्गुण को प्रोत्साहित करने हेतु दान देना उचितदान है।

☐ क्षायिकदान वास्तव में दानान्तराय आदि के अत्यन्त क्षय होने से होता है, और दानान्तराय आदि का सर्वथा क्षय अर्हन्तों, वीतरागों—केवलज्ञानियों के ही होता है।

☐ तीर्थंकरों ने जो कुछ देने योग्य था सब दे दिया है। वह समग्रदान है—दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपदेश।

☐ धर्मदान सब दानों से बढ़कर है। धर्म का रस सब रसों से श्रेष्ठ है।

☐ धर्मदान के तीन रूप है—अभयदान, संयति (सुपात्र) दान और ज्ञानदान।

☐ जो दान वस्तुनिष्ठ हो, वह आमिसदान कहलाता है, परन्तु जो दान भावनिष्ठ हो, वह धर्मदान कहलाता है ।

२८ वर्तमान में प्रचलित दान : एक मीमांसा

☐ राष्ट्रसन्त विनोबाजी का भूमिदान के पीछे यह उद्देश्य था कि जिन लोगों के पास अनाप-सनाप जमीने है, उन्हें कम से कम छठा हिस्सा निर्धन भूमिहीनों को उनके निर्वाह के लिए देना चाहिये ।

☐ भूखा आदमी धर्म-मर्यादा शर्म, लिहाज या स्नेह सद्भाव को ताक में रख देता है ।

☐ लाखों भूमिहीनो को भूदान प्राप्त होने से राहत मिली । वे भूमिदान पाकर स्वावलम्बी हो गए ।

☐ संत विनोबाजी ने दीन-हीन, बेकार लोगों को जनता से स्वेच्छा से सम्पत्तिदान करवाकर उनके धंधे मे राहत दिलाई ।

☐ सम्पत्तिदान से भी समाज में व्याप्त विषमता का अन्त आ सकता है ।

☐ तुम्हे जो भी प्राप्त हुआ है, उनमें से त्याग करके फिर उपभोग करो । केवल धन को बटोर-बटोरकर उस पर मूर्च्छा रखकर मत बैठो । यह बताओ कि धन किसके पास या स्थिर बनकर रहा है ?

☐ निर्धन और साधनहीन भूमिहीनो के लिए संत विनोबा ने साधनदान का आविष्कार किया ।

☐ भूदान, सम्पत्तिदान और साधनदान ने गरीबी, अनैतिकता और हिंसा की जड़ों को ढीला किया, जनता की स्वेच्छा को दान के रूप में पुनः जागृत किया, जनता में दान की प्रतिष्ठा बढ़ाई ।

☐ भारतवर्ष में जहाँ जमीन के लिए झगड़े हुए [illegible] रक्तपात हुआ, एक-एक इंच भूमि के लिए खून बहाया गया वहाँ स्वेच्छा से भूमिदान होने लगे यह [illegible] का [illegible] था ।

☐ समाज सेवा और लोकहित का कुछ [illegible] कार्य के लिए संत विनोबा ने श्रमदान की प्रेरणा दी ।

☐ [illegible] से [illegible] के [illegible] लोकहित के लिए [illegible] [illegible] भी एक प्रकार का दान है ।

☐ श्रमदान से ग्रामों की श्री-वृद्धि हुई है, कई जगह गाँवों की समृद्धि बढ़ी है।

☐ समाज की विशिष्ट उन्नति के कार्य में योगदान देने हेतु संत विनोबा ने बुद्धिदान की प्रेरणा दी।

☐ संत विनोबा ने बुद्धिदान को व्यापक रूप प्रदान किया, इसमें जो भी व्यक्ति चाहे अपनी बौद्धिक प्रतिभा का निःस्वार्थ दान दे सकता है।

☐ हर व्यक्ति समयदान देकर भी बहुत सा परोपकार का कार्य कर सकता है।

☐ समयदान का अर्थ है हर व्यक्ति अपनी दिनचर्या में से अमुक समय निकालकर निःस्वार्थ भाव से परोपकार या भलाई के कार्य में लगाए या दे।

☐ लोग समयदान देकर जीवन को कृतार्थ कर सकते है।

☐ ग्रामदान में सर्वोदय कार्यकर्ताओ की प्रेरणा से सारा गाँव मिलकर गाँव की भूमि को ग्रामसभा को दे देता है।

☐ जीवनदान का अर्थ है—व्यक्ति अपना सर्वस्व समाज-सेवा के लिए अर्पित कर दे और समाज से सिर्फ अपने निर्वाह के लिए उचित रूप मे ले।

☐ सेवाव्रती जीवनदानी अपना जीवन सर्वस्व समाज के चरणों मे अर्पित करके महान् पुण्य का उपार्जन करता है।

☐ सच्चे जीवनदानी तो सच्चे निःस्पृही-त्यागी संत होते है जो सर्वस्व छोड़कर अपना जीवन स्व-पर-कल्याण में लगा देते है।

☐ भूदान से लेकर जीवनदान तक जितने भी दान है, वे एक तरह से पुण्य के अन्तर्गत आ जाते है।

☐ निःस्वार्थ भाव से दिया गया श्रमदान भी बड़ा मूल्यवान होता है। इसे पैसों में नहीं आंका जा सकता।

☐ दान भावना पर निर्भर होने से उसके अनेक प्रकार हो सकते है, वस्तु की अपेक्षा से, पात्र की अपेक्षा से, आवश्यकता की अपेक्षा से और जीवन-निर्माण की अपेक्षा से।

२९ दान और अतिथि-सत्कार

☐ उपनिषदों में 'अतिथि देवो भव' का मंत्र यही बताता है कि प्रत्येक गृहस्थ को अतिथि को देवता मानकर चलना चाहिए।

☐ जिसके घर से अतिथि हताश होकर लौट जाता है, समझ लो, वह उसे पाप देकर और पुण्य को लेकर लौटता है।

☐ अतिथि-सत्कार करने या अतिथि को आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करने से नौ ही प्रकार के पुण्य प्राप्त हो जाते है।

☐ मनुस्मृति में सद्‌गृहस्थ के लिए अतिथि सम्मान आवश्यक कर्तव्य बताया गया है।

☐ उत्तम-अतिथि-सत्कार में किसी प्रकार का वर्ण, जाति, रंग, देश, प्रान्त, धर्म आदि का भेद नही किया जाता।

☐ अतिथि धर्म तो सर्वधर्ममय (समस्त धर्मों में घुला-मिला) होता है।

☐ शत्रु भी अपने घर पर आ जाय तो उसका भी उचित आतिथ्य करना चाहिये।

☐ दैवयोग से यदि अतिथि के रूप में देव का घर में निवास या प्रवेश हो तो उसे खिलाये–पिलाये बिना अकेले अमृतपान करना भी शोभा नहीं देता।

☐ अतिथि को साक्षात् ब्रह्मा या विष्णु समझकर सत्कार करना चाहिए।

☐ अतिथि धर्म मे बहुत से धर्म, कर्तव्य या दायित्व आ जाते हैं।

☐ अतिथि के लिए गृहस्थ सर्वस्व न्योछावर कर देता है, यहाँ तक कि संकटग्रस्त होने पर भी अतिथि सेवा करना नही छोड़ता।

☐ अतिथि सेवा या अतिथि सत्कार से नौ प्रकार के पुण्य का लाभ सर्वांगत तभी मिल सकता है, जबकि पूर्ण विधिपूर्वक अतिथि का सत्कार किया जाए।

☐ जिस घर मे अतिथि के आने पर कोई उठकर स्वागत नही करता, न बातचीत ही करता है, न मीठे वचन बोलता है, गुण-दोष की चर्चा न हो, उस घर में जाना भी नही चाहिए।

☐ चार वर्णों के लोगो को अतिथि रूप मे पाकर क्रमशः यथाशक्ति देना चाहिए।

☐ जो अज्ञानी अतिथियो को न खिलाकर पहले स्वयं खा लेता है, वह यह नहीं जानता कि मरने के बाद उसके शरीर को कुत्ते और गीध नोच-नोच कर खायेंगे।

□ सोना, चांदी, धन और धान्य के बारे में जिसे लोभ नहीं है, उसे सर्वसामान्य अतिथि समझो।

□ अतिथि की अनुचित मांगों की पूर्ति करना, अथवा अपने सिद्धान्त या नियम को भंग करके अतिथि की लालसा को पूर्ण करना अतिथि सत्कार की मर्यादा नही है।

□ भावुकता में बहकर सिद्धान्त और नैतिकता को ताक में रख देना अतिथि सत्कार नही है।

□ जिस महान् आत्मा ने अपने आने की कोई तिथि या कोई पर्व मुकर्रर नही किया है, तथा गृहस्थ के यहाँ जैसा भी मिल जाय, उसमें न हर्ष है, न शोक है, उसे ही बुद्धिमानों को अतिथि समझना चाहिए।

□ संयम के लाभ के लिए जो घूमता है अथवा उत्कट चर्या करता है, वह अतिथि है।

□ जो तप और शील से युक्त हो, ब्रह्मचारी हो, अपने गृहीत व्रतों पर दृढ हो, निर्लोभी हो, एवं ससार के प्रपंचों को छोड़ चुका हो, ऐसा ही महानुभाव अतिथि है।

३०. दान और पुण्य : एक चर्चा

□ जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है—पुण्य-पाप रूप समस्त कर्मो से मुक्ति पाना। यह देहातीत या संसारातीत अवस्था है।

□ पाप कर्म से प्राणी दुखी होता है, पुण्य कर्म से सुखी।

□ सुख की कामना करने से सुख नहीं मिलता, किन्तु सुख प्राप्ति के कार्य-सत्कर्म (धर्माचरण) करने से ही सुख मिलता है। उस सत्कर्म को ही शुभयोग कहते हैं।

□ शुद्ध योग पुण्य का आस्रव (आगमन) करता है, और अशुद्ध योग पाप का।

□ शुभयोग से ही पुण्यबन्ध होता है।

□ धर्म क्रिया द्वारा दो कार्य निष्पन्न होते हैं—अशुभ कर्म की निर्जरा और शुभ कर्म का बंध।

□ सुख की हेतुभूत कर्म प्रकृति पुण्य है।

☐ पाप लोहे की बेड़ी है और पुण्य सोने की बेड़ी है।

☐ पाप-नाश के लिए ही पुरुषार्थ करना चाहिए।

☐ अशुभ कर्म का निरोध होना संवर है, बंधे हुए अशुभ कर्मो का क्षय होना निर्जरा है और नये शुभ कर्म का बँधना पुण्य है।

☐ भूत अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सराग-संयम, शांति और शौच ये छह सातावेदनीय कर्म (सुख) के हेतु है।

☐ एक मान्यता के अनुसार जिस प्रवृत्ति में धर्म नहीं उसमें पुण्य भी नही। जैन जगत के विचारकों ने इस धारणा का डटकर खण्डन किया है क्योंकि इससे दान सेवा आदि का क्षेत्र बहुत ही संकुचित हो जाता है।

☐ बहुत से कृत्य धर्मबर्द्धक नही है, किन्तु पुण्यकारक है, जैसे तीर्थकरों का वर्षीदान।

☐ बहुत से अनुकम्पापूर्ण कार्यो में धर्म भले ही न हो, किन्तु पुण्यबन्ध तो होता ही है।

☐ पात्र को दान देने से तीर्थकर नाम कर्म आदि पुण्य प्रकृतियों का वन्ध होता है।

☐ जब दाता की भावधारा अत्यन्त शुद्ध उच्चतम श्रेणी पर चढ़ती है तभी उस दान के महाफलरूप तीर्थकर नाम प्रकृति का वन्ध होता है।

☐ अनुकम्पा आदि शुभ भाव के साथ दिया गया अन्नदान, पानदान, वस्त्रदान; अन्नपुण्य, पानपुण्य और वस्त्रपुण्य की कोटि में आता है।

☐ संयती के सिवाय अन्य व्यक्तियों को करुणा, वत्सलता, धर्म-प्रभावना आदि भावना के साथ अन्न आदि का दान करने से निश्चित ही पुण्य वन्ध होता है।

☐ मुख्य वात है देने वाले की सद्भावना और लेने वाला उस दान के लिए योग्य हो।

☐ त्यागी संयतियो को शुद्ध अन्नदान करना महान् पुण्य है। साथ ही क्षुधापीड़ित अभावग्रस्त व्यक्ति को अन्नदान करना भी अन्नपुण्य है।

प्यासे को पानी का दान भी पुण्य का कारण वनता है क्योंकि उसके पीछे भी करुणा और सहानुभूति की भावना जो होती है।

☐ गर्मी से व्याकुल एवं पिपासापीडित व्यक्ति को सान्त्वना देकर पानी पिलाना भी पानपुण्य है।

☐ लयन का अर्थ है—मकान, रहने का स्थान। कोई भूला-भटका,

बेघरबार, सर्दी या गर्मी से पीड़ित व्यक्ति को अगर ठहरने के लिए सद्-भावना से मकान या स्थान दिया जाता है, वहाँ लयनपुण्य होता है।

☐ अप्रतिबद्धविहारी साधु-साध्वियों को जो निवास के लिए भक्तिभाव-पूर्वक मकान देता है, उसके पुण्योपार्जन का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। वह तो महाभाग्यशाली है।

☐ किसी निराश्रित, अनाथ अथवा बीमार आदि को अनुकम्पा लाकर आराम करने के लिए खाट, तख्त या चटाई सद्‌भावपूर्वक देना शयन-पुण्य है।

☐ ठण्ड से ठिठुरते हुए या फटेहाल पुरुष अथवा स्त्री पर अनुकम्पा लाकर वस्त्र देना वस्त्रपुण्य है।

☐ मन से शुभ विचारों का दान देना, अन्तर् से किसी के प्रति शुभ-कामना प्रगट करना, कल्याणकामना एवं मंगलभावना का हृदय से दान देना मनपुण्य है।

☐ शुभ विचारों में बहुत बड़ा बल होता है।

☐ सभी प्राणी सुखी हों, सभी निरोग हों, सब में कल्याण की भावना प्रगट हो, कोई भी प्राणी दुःखित न हो।

☐ मन को पवित्र, दयार्द्र और शुभ भावनाओं से अनुरंजित रखना मन:पुण्य है।

☐ वचनपुण्य का अर्थ है—वचन के दान द्वारा उपार्जित होने वाला पुण्य।

☐ वचनपुण्य का एक पहलू है—दूसरे को सच्ची सलाह देना, सन्मार्ग बताना।

वचनदान का दूसरा पहलू है—पारस्परिक द्वेष, वैर-विरोध या मनोमालिन्य से भविष्य में होने वाले सर्वनाश को वचन (युक्तिसंगत वाणी) द्वारा रोक देना।

☐ निष्पक्ष भाव से सच्चा इन्साफ या न्याय देना भी वचनपुण्य में माना जाएगा।

सेवा भावना से किसी गरीब की सेवा करना, स्वयं परिश्रम करके किसी अपाहिज को सहायता पहुँचाना इत्यादि कार्य कायपुण्य के अन्तर्गत आते हैं।

□ कभी-कभी धन और अन्न देने की अपेक्षा भी काया से सेवा देने का महत्व अधिक हो जाता है।

□ काया से सेवाभावना से श्रमदान देना भी पुण्योपार्जन का कारण होने से उसे भी कायपुण्य कहा जा सकता है।

□ नमस्कार पुण्य के साथ दान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है, किन्तु अहंकार का दान किये बिना, अभिमान का विसर्जन किए बिना नमस्कार होता नही।

□ नमस्कार दान अपनी आत्मा को तो पुण्य से ओतप्रोत बनाता ही है, अन्य अनेको के लिए प्रेरणादाता होने से भी लाभदायक है।

□ मानव-जीवन में अहंकार अनेक अनिष्टों को पैदा करता है। इसको दान करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका है—वीतराग प्रभु के चरणों में सर्वस्व समर्पित कर देना।

□ किसी महापुरुष के चरणों में नमस्कार करके उनका आदेश मानकर वैरविरोध को वही समाप्त कर देना भी नमस्कारजनित पुण्य है।

□ शत्रुओं में अशत्रु होकर जीना परम सुख है। वैरियों में अवैरी होकर रहना परम शम है।

□ नमस्कार पुण्य का एक फलितार्थ यह भी होता है कि समस्त प्राणियो मे परमात्मभाव को देखकर श्रद्धाभाव से नमनपूर्वक देना।

□ नौ प्रकार के पुण्योत्पादक दान सर्वसाधारण अनुकम्पापात्र या तथाविध पात्र के लिए है। साधु-साध्वी को ये वस्तुएँ देने से तो पुण्य बन्ध से भी आगे बढकर कर्म-निर्जरा होती है।

□ नौ प्रकार के पुण्य तो सर्वसाधारण योग्य पात्र को सार्वजनिक रूप में या व्यक्तिगत रूप मे दान करने से उपार्जित हो सकते है, होते है, हुए है।

३१ दान की कला

□ मनुष्य का लक्षण ही यह है—मत्वा कार्याणि सीव्यतीति मनुष्यः। जो मनन करके विचार करके कार्य मे प्रवृत्त होता है, वह मनुष्य है।

□ दान की कला और लाभ के विचार से सम्पन्न व्यक्ति उसी तरीके से दान देता है, जिससे उसके दान मे अधिकाधिक लाभ हो।

☐ विधि, देयवस्तु, दाता और पात्र (दान लेने वाले) की विशेषता से दान से होने वाले लाभ में विशेषता आ जाती है।

☐ अनादर से, अविधि से या अनवसर से दान देने से दान पर दोष की कालिमा चढ जाती है और निपुणता से सुघडपन से, सत्कारपूर्वक, अवसर पर, विधिपूर्वक दान देने पर दान में विशेष चमक आ जाती है।

☐ अतिथि यज्ञ (दान) में विशेषता दाता, पात्र, विधि और द्रव्य को लेकर न्यूनाधिक होती है।

☐ द्रव्य (देय वस्तु) की पवित्रता से, दाता की पवित्रता से, और पात्र (दान लेने वाले) की पवित्रता से, मन, वचन, काया के योगपूर्वक त्रिकरण शुद्धि से दान देने से दान में विशेषता पैदा होती है।

☐ शीलवान को दिए गए दान का महाफल होता है।

☐ दान की विशेषता के लिए चार तत्वों का होना आवश्यक माना गया है—(१) विधि, (२) द्रव्य, (३) दाता और (४) पात्र।

☐ इन चारों का सम्यक् विचार करके दिया गया दान लाभ की दृष्टि से भी उत्तम होता है और वह दूसरों के लिए आदर्श प्रकाशमान दान बनता है।

☐ दान के लिए चित्त, वित्त और पात्र इन तीन त्रिपुटियों का उत्कृष्ट होना परम आवश्यक है।

☐ पर्याप्त एव शुद्ध द्रव्य (धन या साधन), उदार एवं शुद्ध हृदय तथा सुपात्र इन तीनों का संयोग प्रबल पुण्यों से ही मिलता है।

☐ गुणों में अधिक सत्पुरुषों को विनयपूर्वक दिया हुआ थोड़ा सा भी दान सत्फल प्राप्त कराता है।

☐ न्याय से उपार्जित थोड़ा सा भी दान अपने आश्रितों के भरण-पोषण के लिए देने के बाद अपने परिवार के बड़ों की आज्ञा से दीन, तपस्वी आदि को दिया जाता है तो वह भी महादान है।

☐ जो द्रव्य (धन या साधन) न्यायोपार्जित हो, और योग्य देश, काल और पात्र में दिया जाता हो, वही 'अनन्त' (अनन्त गुना फल देने वाला) कहलाता है।

३२. दान की विधि

☐ विधिपूर्वक की हुई अल्पक्रिया या अल्पप्रवृत्ति भी महान फल देने वाली बनती है, जबकि अविधिपूर्वक की हुई अधिक क्रिया या अधिक प्रवृत्ति भी अल्पफल देने वाली होती है।

☐ थोड़े में से विधिपूर्वक दिया गया दान हजारों-लाखों के दान की बराबरी करता है।

☐ दान को श्रेष्ठ बनाने, दान को अधिक मूल्यवान, सुफलवान एवं महालाभयुक्त बनाने के लिए दान की विधि पर ध्यान देना आवश्यक है।

☐ केवल लोभाविष्ट होकर किसी पद, प्रतिष्ठा, नामवरी या सत्ता की आकांक्षा से प्रेरित होकर दान करना अविधिपूर्वक दान है।

☐ दान का फल चाहना, या बदले की आकांक्षा रखना दान नहीं, एक प्रकार की सौदेबाजी है, व्यापार है।

☐ गुणवान पात्र को उचित समय पर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक दान देना चाहिये।

☐ विधि का व्युत्पत्ति से अर्थ होता है—विशेष रूप से धारण करना—ग्रहण करना या बुद्धि लगाना। विशेष रूप से विवेक करना विधि है।

☐ जो दान अनुचित देश और काल में, तथा अपात्रों को दिया जाता जाता है, तिरस्कार और अवज्ञापूर्वक दिया जाता है, उसे तामसदान कहा दिया जाता है।

☐ बहुत अधिक देने से उदारता सिद्ध नही होती, किन्तु ठीक अवसर पर आवश्यकता के क्षणों में सहायता प्रदान करना ही सच्ची उदारता है।

☐ महात्मा बुद्ध ने 'कालदान' के चार प्रकार बताये है—(१) आगन्तुक को दान देना, (२) जाने वाले को दान देना, (३) ग्लान (रोगी, वृद्ध, अशक्त) को दान देना और (४) दुर्भिक्ष के समय दान देना।

☐ समय पर दिया हुआ दान सविधि दान है, और समय बीत जाने पर फिर दान देना अविधियुक्त दान है।

☐ किसको, किस पदार्थ की, कितनी मात्रा मे जरूरत है, इसका विवेक करना विधियुक्त दान है।

☐ दान की विधि में यह विवेक भी समाविष्ट है कि किसको किस वस्तु की, कितनी मात्रा में और किस रूप में आवश्यकता है!

☐ महाव्रती साधु-साध्वियो को न्याय प्राप्त कल्पनीय अन्न, पानी आदि द्रव्यों का दान देना चाहिए।

☐ साधु-साध्वियो को वस्त्र, पात्र, उपाश्रय आदि अन्य वस्तुएँ भी यथोचित रूप में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि के लिए विधिपूर्वक देनी चाहिए।

☐ किसी अनुचित (हिंसा, व्यभिचार, चोरी आदि अनैतिक धन्धे) कार्य के हेतु दान देना भी अविधि है।

☐ उचित कार्य के हेतु, धर्मवृद्धि या रत्नत्रय वृद्धि के हेतु या आध्यात्मिक विकास हेतु दान देना विधि है।

☐ अनुचित काम करने के लिए एवं अपने स्वार्थ या सुख-सुविधा के लिए दान देना गलत है।

☐ विना किसी यशोलिप्सा, प्रतिष्ठा, पद एवं सत्ता की लालसा के किसी स्वार्थ एवं आकांक्षा से रहित होकर निर्भय एवं निश्चिन्त होकर प्रसन्नतापूर्वक दान देना दान की विधि है।

३३. निरपेक्षदान अथवा गुप्तदान

☐ दान के साथ नाम और प्रतिष्ठा की आसक्ति भी दाता को पतन की ओर ले जाती है।

☐ दान देने वाले के सामने वाले (आदाता) पक्ष से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। कोई चीज देकर वदले में कुछ पाने की इच्छा रखना दान नही, व्यापार है।

☐ दान के साथ किसी प्रकार की सौदेबाजी करना, शर्त या प्रतिवन्ध लगाना, या किसी प्रकार के वदले की आशा रखना अविधि है।

☐ लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो निर्धन उसे धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है, वदले में किसी प्रत्युपकार की वांछा नहीं करता, उसी का जीवन सफल है।

☐ साधु-संतों को उनके नियमानुसार ही देना विधियुक्त दान है।

☐ यशोलिप्सा की डाइन वड़े-वड़े दानी महानुभावों का पिंड नहीं छोड़ती।

☐ इस वहुरत्ना वसुधरा में ऐसे भी माई के लाल है, जो किसी भी स्वार्थ या आकांक्षा के विना चुपचाप जरूरतमंद को देकर अपना कर्तव्य अदा करते हैं।

☐ आकांक्षा, फिर चाहे वह किसी पद की हो, सत्ता की हो या अन्य किसी वस्तु की हो, दान के साथ जोड़ना, दान की आत्मा का गला घोंटना है। दान आकांक्षा की मोहिनी से दूषित हो जाता है।

☐ बड़े से बड़े दान में आकांक्षा की खटाई पड़ते ही दान फट जाता है, उसकी स्निग्धता समाप्त हो जाती है।

☐ 'न दत्वा परिकीर्तयेत्'—दान देकर उसका बखान मत करो।

☐ दान इस प्रकार दो कि दाहिना हाथ दे और बाँया हाथ न जाने।

☐ झूठ से यज्ञ नष्ट हो जाता है, तपस्या विस्मय से नष्ट हो जाती है, ब्राह्मण एवं साधु आदि की निन्दा करने से आयु घट जाती है और दान का जगह-जगह बखान करने से व कहने से वह निष्फल हो जाता है।

☐ दान का दिखावा या आडम्बर जीवन के लिए खतरनाक है।

☐ भारतीय मनीषियों ने गुप्तदान की बहुत महिमा बताई है।

☐ बिना किसी आडम्बर, समारोह, प्रतिष्ठा या ढिंढोरे, या प्रदर्शन के या तख्ती, बोर्ड या अखबारों में प्रकाशन के चुपचाप अपना कर्तव्य समझकर या अपने पाप के प्रायश्चित्त के रूप में गुप्त रूप से दान करना गुप्तदान है।

☐ गुप्तदान से सबसे बड़ा लाभ यह है कि देने वाले में अहंभाव नही आता और न प्रसिद्धि की भूख होती है, तथा लेने वाले में हीन भावना या अपने को दवने या नीचा देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती।

☐ गुप्तदान दान के साथ चुपके से घुस जाने वाले अहंकार को मिटाने के लिए है।

☐ विधिपूर्वक गुप्त रूप से दिया गया दान सफल होता है और प्रदर्शन करके आडम्बर सहित दिया गया अनेकों रुपयो का दान निष्फल चला जाता है।

☐ दान के साथ अहंकार, एहसान, अभिमान, नाम एवं प्रसिद्धि का ममत्व आदि विकारों को मिटाने के लिए गुप्तदान रामबाण औषध है।

☐ 'ए ईमानवालो! अपने दान को एहसान जताकर या तकलीफ पहुँचाकर बर्बाद मत करो।'

☐ जो दान अपनी कीर्तिगाथा गाने को उतावला हो जाता है, वह दान नही, अहंकार एवं आडम्बर मात्र है।

☐ सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, और ठीक तरह से दोषरहित दान दो।

☐ क्रोध से, जबरदस्ती से छीनकर, बल-प्रयोग से, मन की भावना के बिना जो वस्तु दी जाती है, उस दान को तामसदान कहा गया है।

☐ मात्सर्य और प्रमाद से दान नहीं देना चाहिए।

☐ अपना कर्ज न चुकाकर या अपने नौकरों की पूरी तनख्वाह न देकर दान देना गलत है।

☐ दान देने में विधि का ध्यान रखा जाय, मन को सरल, नम्र और विवेक के प्रकाश से जागृत कर फिर दान दिया जाय और दान देकर उसके विषय में मुँह को बन्द रखें।

३४. दान के दूषण और भूषण

☐ दान देते समय लेने वाले का अनादर करना, देने में विलम्ब करना, दान देने में अरुचि या बेरुखी बताना, लेने वाले को अपशब्द कहकर, डांट-डपट कर या गालियों की बौछार करके देना, दान देने के बाद दाता के मन में प्रसन्नता के बदले पश्चात्ताप या रंज होना ये दान के पांच दूषण हैं, जिनसे बचना बहुत आवश्यक है।

☐ किसी को व्यंग्य वचन कहकर अनाहृत करना भी दान का दूषण है।

☐ दान देने वाले के मन में यह चिन्ता भी व्यर्थ है कि मै अकेला कैसे इतने याचकों को दे सकता हूँ?

☐ अपने अभावों का रोना न रोते हुए दान दो।

☐ तर्क-वितर्क करके लेने वाले को कायल करके दान देना, दान के वैमुख्य नामक दोष के अन्तर्गत है।

☐ दान में विमुखता, बेरुखापन लाना दान का दूषण है।

☐ दान देते समय भी तर्क-वितर्क या ज्यादा पूछताछ नहीं करनी चाहिए। सहज भाव से, अपनी शक्ति के अनुसार जिसको जो कुछ देना हो तुरन्त दे डालिए।

☐ विलम्ब करना या दान के लिए किसी को टरकाना दान का दूषण है।

☐ 'तुरन्त दान महापुण्य'—शीघ्र दान देना महापुण्य का काम है।

☐ घोषित दान की रकम तुरन्त दे देना, बहुत ही अच्छा है।

☐ दान के विषय में शीघ्रकारी नीति दान के उत्साह को द्विगुणित कर देती है।

☐ दान के दूषणो में एक बहुत ही खटकने वाला दूषण है—अप्रिय वचन।

☐ दान दिया जाता है—प्रसन्नता से, प्रेम से, आत्मीयता से, मन की उमंग से, या श्रद्धा-भक्ति से, उत्साहपूर्वक।

☐ वह कैसा दान है, जिसमें सत्कार नहीं है ?

☐ जहाँ दान के साथ कटुता हो, वहाँ से दान लेने का ही नहीं, उस घर में जाने का भी निषेध किया है।

☐ गालियों और अपशब्दों के साथ जहाँ दान मिलता हो, वहाँ भला कौन स्वाभिमानी पुरुष दूसरी बार जाना चाहेगा ?

☐ दान के साथ मधुर वाक्य अमृत का-सा काम करते है और दाता को यशस्वी, आशीर्वाद से युक्त, सद्भावना से सम्पन्न बनाते है।

☐ दान के साथ कटु वाक्य विष का-सा काम करते हैं, घृणा फैलाते हैं और भविष्य में द्वेष और वैर भी बढ़ा देते है।

☐ दान का पाँचवाँ दूषण है—पश्चात्ताप।

☐ दाता के मन में दान देने के बाद उसका पश्चात्ताप होना भी दान के फल को मिट्टी में मिलाना है।

☐ उदार व्यवित दान देकर पश्चात्ताप नही करता। उसे दान देने के बाद हर्ष होता है कि मुझे अपनी प्रिय वस्तु देने का उत्तम अवसर मिला, आदाता ने अनुग्रहपूर्वक दान लेकर मुझे कृतार्थ किया।

☐ दान देने का पश्चात्ताप उसे ही होता है, जो व्यक्ति अनुदार हो, अपने विषय-सुखों या दैहिक सुविधाओं के प्रति आसक्त हो।

☐ दान देते समय आनन्दातिरेक से आँसू उमड़ आना, पात्र को देखते ही रोमाच हो जाना, आदाता (पात्र) का बहुमान करना, प्रिय वचनो से उसका स्वागत-सत्कार करना, तथा दान के योग्य पात्र का अनुमोदन समर्थन) करना, ये दान के पाच भूषण है। इनसे दान की शोभा बढ़ती है। दान मे विशेषता (चमक) आ जाती है।

☐ दान देना, प्रियवचन कहना, धीरता रखना और उचित का ज्ञान होना, ये चारो गुण अभ्यास मे प्राप्त नही होते, ये चारो सहज गुण है।

☐ लेने वाले पात्र के सामने जाकर देना उत्तम दान है, उसे बुलाकर देना मध्यम दान है, उसके मांगने पर देना अधमदान है, और मांगने पर भी न देकर अपनी चाकरी कराकर देना निष्फलदान है।

☐ जहाँ व्यक्ति दान हृदय से नहीं देना चाहता, वहाँ दान देने की औपचारिकता होती है।

३५. दान और भावना

☐ द्रव्य शुद्धि, दायक शुद्धि और पात्र शुद्धि तीनों की शुद्धता हो तभी दान शुद्ध कहलाता है।

☐ उपेक्षापूर्वक लापरवाही से दान देने में आनन्द भी नहीं मिलता और न ही उत्तम फल प्राप्त होता है।

☐ अतिथि को आते देखकर प्रफुल्लित आँखों से उसका स्वागत करे, फिर प्रसन्न मन से मीठी वाणी बोले, किस वस्तु की उसे आवश्यकता है, यह जाने और उस वस्तु को देकर उसकी सेवा करे, जब अतिथि इच्छा पूर्ण होने पर जाने लगे तो घर के बाहर तक उसे छोड़ने जाए। इन पांचों विधियों से अतिथि-सत्कार करना अतिथि यज्ञ की सच्ची दक्षिणा है।

☐ कौन, कितनी और कैसी वस्तु देता है, इसका महत्व नहीं, महत्व है वस्तु देने के पीछे व्यक्ति की श्रद्धा-भक्ति और हृदय की अर्पण भावना का।

☐ तुच्छ वस्तु का दान भी श्रद्धा-भावना के कारण महामूल्यवान हो जाता है, और इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित एवं प्रसिद्ध हो जाता है।

☐ दरिद्र द्वारा दिया गया दान और समर्थ द्वारा दी गई क्षमा महत्व-पूर्ण है।

☐ दान विधि में और सब कुछ देखने की अपेक्षा, सबसे अधिक ध्यान दाता की भावना, आस्था, श्रद्धा और भक्ति पर ही दिया जाना चाहिए।

३६. दान के लिए संग्रह : एक चिंतन

☐ स्वार्थसिद्धि की आशा से दिया गया दान भी विधियुक्त नहीं कहा जा सकता।

☐ धर्मार्थ या दान-पुण्य करने के लिए जिसकी धन-संग्रह करने की इच्छा है, वह भी शुभकारक नहीं है। वह तो कपड़े को कीचड़ में डालकर

फर धोने के समान वृत्ति है। धन सग्रह करने के लिए पहले तो पाप पक में अपने को डालना, और फिर उसे धोने के लिए दान देना कथमपि शुभावह और सहज प्रवृत्ति नहीं है।

☐ कोई विद्वान मनुष्य विषयों को तिनके के समान तुच्छ समझकर याचकों के लिए लक्ष्मी देता है, कोई पाप रूप समझकर किसी को बिना दिये ही लक्ष्मी का त्याग कर देता है, किन्तु सबसे उत्तम यह है कि लक्ष्मी को पहले से ही अकल्याणकारी जानकर ग्रहण नही करना।

☐ इस प्रकार का दान जो निःस्पृहभाव से बिना किसी नामवरी, प्रसिद्धि या आडम्बर के न्याय नीति से धन प्राप्त करके दिया जाता है, वह कल्याणकर है।

☐ पीड़ितों और क्षुधार्तो की पीड़ा और भूख मिटाने के लिए यही मार्ग शुभावह है कि धनिकों को अपने घर में नित्य विशेष करके धन संग्रह कर रखना चाहिये।

☐ सद्गृहस्थ को अपनी न्यायनीति युक्त कमाई के चार भाग करने चाहिए, एक भाग जमा रखे, दूसरा भाग आजीविकादि कार्य में लगाए, तीसरे भाग में दान–धर्मादि कार्य तथा अपने भोग-उपभोग के कार्य चलाए और चौथे भाग से अपने आश्रितों का पालन-पोषण करे।

३७. देय-द्रव्य शुद्धि

☐ अगर देय द्रव्य कीमती है, किन्तु उससे लेने वाला सन्तुष्ट नही है, या वह लेने से आनाकानी करता है तो वह देय द्रव्य उत्तम नही है।

☐ कोई व्यक्ति अन्याय-अत्याचार से धन कमाकर या दूसरे से छीन–झपटकर, उस द्रव्य का दान किसी योग्य व्यक्ति को करता है, तो वह देय द्रव्य शुभ नही माना जाता।

☐ अन्याय–अनीति से उपार्जित द्रव्य के दान से आदाता की बुद्धि बिगड़ती है।

☐ न्यायागत, कल्पनीय, एषणीय और प्रासुक आहारादि उत्कृष्ट अतिथियों को देना चाहिए।

☐ अन्न आदि द्रव्यों की श्रेष्ठ जाति और उत्तम गुण से युक्त द्रव्य देना द्रव्य विशेष है।

☐ जिससे तप और स्वाध्याय आदि की वृद्धि होती है, वह द्रव्य विशेष है।

☐ भिक्षा में जो अन्न दिया जाता है, वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण स्वाध्याय आदि को बढ़ाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेषता कहलाती है।

☐ हित, मित, प्रासुक, शुद्ध अन्न, पान, निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओं को आवश्यकतानुसार सुपात्र को देता है, वह मोक्षमार्ग में अग्रगामी होता है।

☐ जिन वस्तुओं के देने से राग, द्वेष, मान, दुःख, भय आदि पापों की उत्पत्ति होती है, वे पदार्थ दान देने योग्य नहीं है।

☐ दान ऐसी वस्तु का नहीं देना चाहिए, जो लेने वाले के लिए घातक हो, अहितकारक हो या हानिकारक हो।

☐ कई बार ऐसे दान जो प्राणघातक होते हैं, दाता और आदाता दोनों का अनिष्ट कर डालते है।

☐ जो वस्तु स्वयं श्रम से अर्जित हो, न्याय प्राप्त हो, नीति की कमाई से मिली हो, वह देय वस्तु अधिक बेहतर है।

☐ देय वस्तु के दान के पीछे भी दाता की मनोवृत्ति उदार और निःस्वार्थी होनी चाहिए, न कि अनुदार और दान के बदले में कुछ पाने की लालसा से युक्त।

☐ मनुष्य का सद्भाव और दुर्भाव देय द्रव्य के दान को सफल या विफल बना देता है।

☐ पुण्य फल प्राप्ति के लिए भी शुभ भावना का होना अनिवार्य है।

☐ जिन वस्तुओं के देने से हिंसा (प्राणिघात), विषय वृद्धि, ममत्व, मोह, कषाय, कलह आदि पाप कर्म-वृद्धि होती हो, उन देय द्रव्यों का दान निष्फल और साथ ही पापवर्द्धक समझना चाहिए।

☐ योग्य विशिष्ट देयद्रव्य के कारण दान में चमक आ जाती है।

☐ देय द्रव्य मे विवेक और भावों की पॉलिश चढ़ा देने पर दान में भी चमक-दमक आ जाती है।

३८. दान में दाता का स्थान

☐ दाता का नाम प्रातः स्मरणीय होता है। उससे किसी को प्रायः द्वेष या वैर नही होता । दाता सदैव याचक या आदाता से उच्च स्थान पाता है।

☐ जो देता है, उसकी सम्पदा भी मधुर रहती है, जबकि जो देता नही, सग्रह करके रखता है, उसकी सम्पदा भी खारी (कटु) हो जाती है।

☐ दाता का स्थान भी समाज और राष्ट्र में सदैव ऊँचा रहता है।

☐ दानियों के पास अनेक प्रकार का ऐश्वर्य होता है। दाता के लिए ही आकाश में सूर्य प्रकाशमान है। दानी अपने दान से अमृत पाता है, वह अत्यन्त दीर्घायु प्राप्त करता है।

☐ इस ससार में कई प्रकार के शूर होते है अन्य बातों में शूरवीर तो इस लोक में सैकड़ों की सख्या में मिल सकते है, लेकिन उनकी गिनती करते समय दानशूर ही विशेषता की गणना में आते है।

☐ याचक को इन्कार करने के लिए सत्पुरूषो की जीभ जड़ हो जाती है।

☐ महापुरुषों के पास न देने योग्य कुछ होता ही नही।

☐ वही दाता महान है जिसका मन प्रत्याशा से उपहृत नही है।

☐ दाता छोटा होने पर भी उसकी सेवा की जाती है लेकिन फल न देने वाले महान व्यक्ति की नही की जाती।

☐ निम्न जातीय भी उच्च भावना के फलस्वरूप उच्चकोटि का का दाता कहलाता है वह मानवतावादी होता है और अपने गाढ़े पसीने की कमाई से प्राप्त धन मे से दान देता है।

☐ दाता अगर स्वावलवी, श्रमनिष्ठ हो, मानवतायुक्त हो तो वह चाहे जिस जाति का हो, सर्वत्र सम्मानित होता है।

☐ शूरवीर सौ में से एक होता है, पण्डित हजार मे मे एक होता है, और वक्ता दस हजार मे से एक होता है, लेकिन दाता तो क्वचित् होता है, क्वचित् नही भी होता।

☐ उत्तम दाता याचक के बिना मांगे ही देता है मध्यम मागने पर देता है, किन्तु वह अधमाधम है, जो मांगने पर भी नही देता।

☐ याचना के वाद ही दान धारा की वृष्टि दान की विशेपता को कुछ फीकी कर देती है।

☐ अदाता-कृपण पुरुष ही वास्तव में त्यागी है क्योंकि वह धन को यहीं छोड़कर चला जाता है, दाता को तो मैं कृपण मानता हूँ, क्योंकि वह मरने पर भी धन को नही छोड़ता, अर्थात् पुण्य रूप धन उसके साथ ही जाता है।

☐ ऐसा दाता, जो स्वय तो सुस्वादु भोजन करे, परन्तु दूसरों को अस्वादु भोजन दे, वह दानदास है।

☐ जो जिस प्रकार का स्वयं खाता है, वैसा ही दूसरों को देता है, या खिलाता है, वह दानसहाय है।

☐ जो स्वयं जैसा खाता है, उससे अच्छा दूसरों को खिलाता या देता है, वह दानपति है।

☐ वास्तव में दानदाता में विशेषता तभी आती है, जब दाता में शराब, जुआ, व्यभिचार या मांसाहार आदि दुर्व्यसन न हों।

☐ ग्यारह व्रतों के सम्यक् पालन से वह व्यक्ति (दाता) इस प्रकार की योग्यता एवं पात्रता अर्जित कर लेता है कि उसके दान में किसी प्रकार का दोप-पापांश या अनिष्ट फलप्रदायी तत्त्व नहीं रहता।

३९. दाता के गुण-दोष

☐ इहलोक संवंधी किसी फल की इच्छा न करना, क्षमा, निष्कपटता, अनसूयता, अविषादिता, मुदिता, निरहंकारिता, ये सात गुण दाता में होने चाहिए।

☐ फल निरपेक्षता-किसी प्रकार के वदले की आशा से रहित होकर निष्कांक्ष भाव से ही दान करना चाहिये।

☐ लगाया हुआ द्रव्य व्याज से दुगुना हो जाता है, व्यापार में चौगुना हो जाता है, खेती में सौ गुना और दान में—सत्पात्र में दान देकर लगाया हुआ द्रव्य अनन्त गुना हो जाता है।

☐ दाता को अनन्त गुना लाभ देने वाले दान को तुच्छ वस्तु की वांछा के वदले में वेचकर नष्ट नही करना चाहिए।

□ क्षमाशीलता—दाता याचक के आते ही झुंझलाए नहीं, धैर्य न खोए, उसे क्षमाशील बनकर धैर्य से सभी प्रकार के पात्रों को यथायोग्य देना चाहिए।

□ पात्रों के चित्त में किंचित् मात्र भी अशान्ति पैदा न करते हुए, उन्हें संतुष्ट रखना, उनका अनादर न करना दाता का मुख्य कर्तव्य है।

□ केवल अर्थ (धन) दे देने से कोई दाता नही होता, दाता होता है, दूसरों को सम्मान देने से।

□ जो दाता पात्र को सम्मानपूर्वक दान देकर, पात्रों की ओर कोई आघात हो तो उसे समभावपूर्वक सहन करके दान धर्मरूप कर्तव्य की वृद्धि करता है, उसका दान भी सफल होता है, उसकी कीर्ति भी फैलती है।

□ निष्कपटता—दाता में किसी प्रकार का छल-छिद्र या कपट नही होना चाहिए, उसके स्वभाव में सरलता होनी चाहिए।

□ कपटपूर्वक दिया गया दान उत्तम फलदायी नही होता।

□ जब दाता का कपट प्रकट हो जाता है, तो उसकी कीर्ति भी धुल जाती है, और साथ ही दान का फल भी नष्ट हो जाता है।

□ अनसूयता—दाता में ईर्ष्याभाव नहीं होना चाहिए। दाता बनना अपने धन या साधनों की शक्ति पर निर्भर है।

□ अमुक इतना दान क्यों करता है, ऐसा सोचकर उसे रोकना या उसके दान मे रुकावट डालना दाता का दुर्गुण है।

□ ईर्ष्यारहित दाता ही दान को सफल करता है।

□ अविषादिता—दाता को अपने यहाँ अतिथि, साधु-सन्त या याचक आने पर किसी प्रकार से खिन्न नहीं होना चाहिये।

□ दान देने से पहले उत्साह हो, देते समय प्रसन्नता हो और देने के बाद भी हृदय मे हर्ष हो प्रमोदभाव हो, वही दाता दान का यथार्थ फल प्राप्त करता है।

□ मुदिता—दाता के हृदय मे दान देने का उत्साह एवं उल्लास होना चाहिये।

□ दान देते समय याचक या पात्र पर क्रोध करके बरस पड़े, उसे भला-बुरा कहे, यह दाता की असफलता है।

□ पात्र को देखते ही दाता के मन मे उत्साह की बिजली चमक उठनी चाहिए।

☐ निरहंकारिता—दाता को निरभिमानी होना चाहिए।

☐ महापुराण में दानपति (श्रेष्ठदानी) के सात गुण इस प्रकार बतलाये है—श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और त्याग।

☐ आस्तिक बुद्धि न होने पर दान देने में अनादर हो सकता है।

☐ दान देने में आलस्य न करना शक्ति नामक गुण है।

☐ पात्र के गुणों के प्रति आदर करना भक्ति नामक गुण है।

☐ दान देने आदि के क्रम का ज्ञान होना—विधि या कल्प्याकल्प्य, एपणीय—अनैषणीय, प्रासुक-अप्रासुक का ज्ञान विज्ञान है।

☐ दान के प्रति किसी प्रकार की फलाकांक्षा न रखना अलुब्धता है।

☐ सहनशीलता होना क्षमा नामक गुण है और दान में उत्तम द्रव्य देना, त्याग है।

☐ सन्तोष और दया ये दो गुण दाता में होने ही चाहिये।

☐ श्रेष्ठ दाता वही है, जो अपनी थोड़ी-सी कमाई में से श्रद्धाभाव से विधिपूर्वक योग्यपात्र को दे।

☐ जो आस्तिक, निरहंकारी, वैयावृत्य (सेवा) में तत्पर और सम्यक्त्वी दाता होता है, वही लोक में उत्तम कहा गया है।

☐ संसार में चार प्रकार के दाता कहलाते हैं। वे इस प्रकार है—

(१) कई दाता गर्जते बहुत हैं, पर बरसते बिलकुल नहीं।
(२) कई दाता चुपचाप बरस जाते है, गर्जते नहीं।
(३) कई दाता गर्जते भी हैं, बरसते भी है।
(४) कई दाता न तो गर्जते हैं, न उदार भाव से बरसते हैं।

☐ प्रथम नम्बर के दाता ढपोरशंख के समान हैं। वह कहता है, 'अह ढपोरशंखोऽस्मि, वदाम्येव ददामि न।' "मै तो ढपोरशंख हूँ, केवल कहता हूँ, देता कुछ नही हूँ।"

☐ दूसरे नम्बर के बादल के समान व्यक्ति गुप्तदानी, अहंत्व-ममत्व रहित दानदाता हैं।

☐ तीसरे नम्बर के मेघ के समान दाता भी दानशाला खुलवाकर याचकों को पुकार-पुकार कर देने वाले हैं।

☐ चौथे नम्बर के मेघ के समान दाता 'चमड़ी जाय, पर दमड़ी न जाय' वाली कहावत चरितार्थ करते है।

☐ कृपण के समान दाता न तो हुआ है, और न ही होगा, जो अपने सारे धन को बिना ही छुए, ज्यों का त्यों दूसरों को दे देता है।

☐ वर्तमान युग में अधिकतर दानी किसी न किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर दान देते है।

☐ स्वतः प्रेरणा से दान देने वाले बहुत ही कम होते हैं।

☐ पहला प्रकार उन प्रेरित दाताओं का है, जिनसे दान लेने के लिए ताड़ने की आवश्यकता होती है।

☐ दूसरा प्रकार उन प्रेरित दाताओं का है, जिनसे प्रतिस्पर्धा पैदा करके दान लिया जाता है।

☐ तीसरा प्रकार उन प्रेरित दानियों का है, जिन्हें स्वस्य वाद्य की तरह फूंक मारने की आवश्यकता होती है।

☐ चौथा प्रकार उन प्रेरित दानियों का है जो किसी महापुरुष की प्रेरणा से अभिभूत होकर उसे निभाने के लिए हर सभव सब कुछ देने को तैयार हो जाते है।

☐ दाता की शुद्धि भी दान की सफलता के लिए अनिवार्य है।

☐ दाता को उत्तम, मध्यम या जघन्य कोई भी पात्र मिले, उस समय जाति-पाँति, धर्म-सम्प्रदाय या प्रान्त आदि की दीवारें नही खींचनी चाहिए।

☐ दान देते समय पात्र अवश्य देखना चाहिए, पात्र के अनुरूप वस्तु देनी चाहिए, उसमे अवश्य विवेक करना चाहिए, परन्तु भावना मे किसी प्रकार की कमी नही आने देनी चाहिए।

☐ विधि, द्रव्य, दाता और पात्र, इन चारो मे से दो के साथ अगर दाता और पात्र उत्तम न हों तो दान का यथेष्ट फल प्राप्त नही होता।

☐ किसी प्रकार की प्रतिफल की कामना के विना निःस्वार्थ भाव मे देने वाला मुधादायी तथा निष्काम भाव मे भिक्षाचरी पर जीने वाला मुधाजीवी—दोनो ही (दाता और पात्र) संसार मे दुर्लभ है।

४० दान के साथ पात्र का विचार

☐ देय द्रव्य भी अच्छा और योग्य हो, दाता भी योग्य हो, विधि भी ठीक हो, किन्तु दान लेने वाला पात्र अच्छा न हो, दुर्गुणी हो तो दिया हुआ सारा दान निष्फल जाता है।

☐ दाता को दान लेने वाले पात्र का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

☐ तुच्छ वस्तु थोड़ी सी मात्रा में भी योग्य दाता द्वारा विधिपूर्वक सुपात्र या पात्र को दी जाय तो वह शुभ फलदायिनी बनती है।

☐ पात्र और अपात्र में गाय और सांप जितना अन्तर है। गाय को खिलाये हुए तुच्छ घास के तिनकों से दूध बनता है और सांप को पिलाये हुए दूध से जहर बनता है।

☐ अपात्र में खर्च करना राख में हवन करने के समान है।

☐ जैसे वणिक् लोग छोटे से अच्छे यान पात्र से समुद्र को पार कर लेते है, वैसे ही प्राज्ञजन पात्र को दिये हुए दान के प्रभाव से दुःख समुद्र को पार कर लेते है।

☐ कुपात्र में दिया हुआ दान सात कुल तक का नाश कर देता है। क्योंकि सर्प को पिलाया हुआ दूध आखिरकार जहर ही हो जाता है।

☐ सुक्षेत्र में और सुपात्र में डाला हुआ द्रव्य नष्ट नहीं होता, अतः सुक्षेत्र में बीज बोओ और सुपात्र को दान दो।

☐ सौ बातों की एक बात है कि दान देने से पहले, चतुर दाता को पात्रापात्र विवेक स्वयं विचक्षण बुद्धि से करना चाहिए।

☐ पात्र तीन प्रकार के होते हैं—(१) मुनि, (२) श्रावक और (३) सम्यग्दृष्टि।

☐ देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्विक विदुः—यानी देश, काल और पात्र को दिया हुआ दान ही सात्विक माना जाता है।

☐ अदेशकाल या अपात्र को दिया हुआ दान तामसदान माना जाता है।

☐ उसी दान को अनन्त कहा गया है जो देश, काल, न्यायागत धन और पात्र में दिया गया है।

☐ हमें अनेकान्त दृष्टि से पात्र का विचार करना चाहिए और विवेकपूर्वक दान करना चाहिए।

४१ सुपात्र दान का फल

☐ सत्पुरुषों को यथाविधि दिया गया दान कल्पवृक्ष के समान फलप्रद होता है। कुपात्रों को दिया गया दान क्षणिक कीर्ति दिलाने वाला होता है।

☐ गृहस्थ सम्यक्त्वी या श्रावक को दिया गया दान तो उसका अपना ही पोषण और कल्याण करता है, जबकि महाव्रतियों में भी शिरोमणि वीतराग प्रभु को दिया गया दान केवल अपना ही पोषण और कल्याण नहीं करता, वरन् उस दाता का भी कल्याण करता है।

☐ सुपात्र को दिया हुआ पवित्र धन (द्रव्य) मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने वाला होता है।

☐ जैसे विष (शोषित) भी अमुक रोग में योग्य व्यक्ति लेता है तो वह अमृत रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही अशुद्ध आहार भी सुपात्र को कारण विशेष में देने पर वह भी दाता के लिए अशुभ-परिणामकारक नहीं होता।

☐ श्रमण निर्ग्रन्थो को शुद्ध निर्दोष आहार आदि १४ प्रकार का दान देने वाला सद्गृहस्थ दाता (श्रमणोपासक) आयुष्य पूरा होने पर स्वर्ग में महान् ऋद्धि सम्पन्न सुख-वैभवशाली देवता होता है।

☐ सुपात्र को दान देने से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है और क्रमश मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

☐ जिन जीवो ने एक बार भी सुपात्र को आहार दान दिया है, वे मिथ्यादृष्टि होते हुए भी भोगभूमि के सुखों का उपभोग कर स्वर्ग सुख को प्राप्त करते है।

☐ लेने-देने वाला शुद्धभाव से ले-दे तो सुपात्रदान दाता संसार परित्त करके कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी हो जाता है, मिथ्यात्व से हटकर सम्यक्त्व में आ जाता है।

☐ सम्यक्त्वी जीव नीच गोत्र, स्त्रीवेद और नीची कोटि के देवभवों का बन्ध नही करता।

☐ सुपात्रदान का फल महापुण्य के रूप में मिलता ही है, किन्तु कर्मो की महान् निर्जरा (कर्मक्षय) के फलस्वरूप एक दिन मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है।

☐ सुपात्रदान देने वाला प्रचुर दान या सर्वस्व दान दे देने पर भी जीवन में रिक्तता या अभाव का अनुभव नही करता।

☐ सम्यग्दृष्टि के द्वारा प्रदत्त सुपात्रदान निराला ही होता है। उसकी हृदयभूमि में उदारता की उत्तुंग तरंगें उछलती रहती है।

☐ अनुकम्पादान (अपात्रो या कुपात्रो को) देने का जिनेश्वरो ने कही निषेध नही किया है।

☐ संयमी, व्रती, साधु तथा गुरुजनों को गुरुबुद्धि अथवा श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए, सार्धमिक देशविरत सद्गृहस्थ, सम्यक्त्वी श्रमणोपासक को वात्सल्यभाव के साथ देना चाहिए, और अन्य (अव्रती आदि) को अनुकम्पा बुद्धि से दान देना चाहिए।

☐ सुश्रावक को भोजन करते समय द्वार बन्द नहीं करना चाहिए।

☐ जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है, और जो विषय-कषायों में अधिक रचे-पचे है, ऐसे पुरुषों के प्रति उपकार, सेवा या दान का फल कुदेव रूप में या कुमानुष रूप में आता है।

☐ ज्ञान, विवेक, शक्ति और भक्ति परमात्मा सत्पात्र को देता है, अज्ञ और अन्धकार में डूबे हुओं को नहीं।

☐ दानदाता को पात्र के अनुरूप हर किस्म के साधन अपने यहाँ रखने चाहिए और पात्र की योग्यता, आवश्यकता तथा उसके कल्प-नियम, मर्यादा के अनुरूप श्रद्धा, सत्कार एवं विधिपूर्वक देना चाहिए।

☐ सुपात्रदान का फल पात्र से भी अधिक भावना पर अवलम्बित है, किन्तु विवेकी व्यक्ति पात्र का भी विचार रखता ही है।

४२ पात्रापात्र-विवेक

☐ जो अपनी आत्मा को पापों से बचाता है, वह पात्र है।

☐ जो व्यक्ति मोक्ष के कारणभूत गुणों से संयुक्त तथा ज्ञान, दर्शन व चारित्र एवं तप से सम्पन्न होकर अपनी आत्मा को पापों से बचाता है, वही पात्र है।

☐ जैन धर्म इतना अनुदार नहीं है कि वह अमुक सम्प्रदाय जाति-कुल आदि के दायरे में ही पात्रता को बन्द कर दे।

☐ अपने माने हुए सम्प्रदाय, जाति, प्रान्त या राष्ट्र के अतिरिक्त किसी को भी पात्र न कहना तो सरासर अन्याय है।

☐ जो व्यक्ति अज्ञान, हिंसा, असत्य, व्यभिचार, चोरी, हत्या आदि पापों से विरत होकर धर्म का पालन करता है, उसे ही पात्र कहना चाहिए।

☐ जिस व्यक्ति में विद्या (ज्ञान) और चारित्र हो उस ज्ञान-चारित्र सम्पन्न व्यक्ति को ही पात्र कहा जा सकता है।

☐ पात्र की परीक्षा किसी जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदि के आधार पर नही करनी चाहिए।

☐ सु=अतिशयेन, पापात् त्रायते इति सुपात्रम्। जो अपनी आत्मा की पाप से भलीभाँति रक्षा करता है, वह सुपात्र है।

☐ मोक्ष के कारणभूत गुणों से युक्त व्यक्ति सुपात्र कहलाता है।

☐ जो साधक (गृहस्थ या साधु) सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अहिसा सत्यादि सम्यक्चारित्र से युक्त हो, वह सुपात्र है, चाहे वह अणुव्रती हो या महाव्रती।

☐ जो निर्दयी होकर प्राणियों की हिंसा करता है, कठोर वचन एवं झूठ बोलता है, परिग्रह से युक्त है, पापकर्म करने में चतुर है, तीव्र कषायरूपी सर्पो से घिरा हुआ है ऐसे विषयलोलुपी को आचार्य ने 'अपात्र' कहा है।

☐ उत्तम पात्र सर्वचारित्री (साधु) है, मध्यम पात्र विरताविरत देश-चारित्री श्रावक है और जघन्य पात्र अविरत (व्रतरहित) सम्यग्दृष्टि है। ये तीनों ही सुपात्र कहे जाते हैं।

☐ तीर्थंकर केवलज्ञानी भगवान सब पात्रों में परमोत्तम पात्र (रत्नपात्र) माने जाते है।

☐ लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में समभाव की वृत्ति रखने वाले तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त महाव्रती साधु-साध्वी मुनिराज स्वर्णपात्र के समान है।

☐ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न प्रतिमाधारी या व्रतधारी श्रावक रजतपात्र (चांदी के पात्र) के समान है।

☐ जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के तो धारक है, किन्तु व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण नही कर सके, सिर्फ देव-गुरु-धर्म के प्रति सच्चे हृदय से श्रद्धा-भक्ति रखते है, वे ताम्रपात्र के समान है।

☐ जो सम्यक्त्वगुण से तो रहित है, लेकिन गुणानुवादक है, वे लोहपात्र के समान है।

☐ अनुकम्पापात्र प्राणी मृत्तिकापात्र के समान है।

☐ पांच आश्रव सेवन करने वाले व्यक्ति कांस्यपात्र के समान है।

☐ मिथ्यादृष्टि, कदाग्रही, दुर्व्यसनी, अधर्मी, पापी एवं देव-गुरु-धर्म के निन्दक प्राणी अपात्र एवं कुपात्र है, वे दान के योग्य पात्र नही है।

☐ जो महानुभाव तप, शील (सदाचार) और समता से युक्त हैं, दृढ़ ब्रह्मचर्यधारी है, निर्लोभी, निस्पृह और ममत्वरहित हैं, उन्हें अतिथि (सुपात्र) जानो। ऐसे अतिथि ही दान के सच्चे अधिकारी हैं।

☐ जो व्रतबद्ध-समाजसेवक या सद्गृहस्थ भाई-बहन होते हैं, वे भी सुपात्र दानपात्र हैं।

☐ न्याय से उपार्जित धन के व्यय सम्बन्धी दो अतिक्रम हैं, अर्थात् दुरुपयोग हैं—अपात्र को देना और पात्र को न देना।

☐ जो लोग दीन, अन्ध आदि हैं, वे तो अनुकम्पनीय-दयनीय होने के कारण पात्र है ही, किन्तु ऐसे लोग जो दम्भी, द्रोही, ढोंगी, पाखण्डी आदि नही हैं, सरल है, सम्यग्दर्शन के सम्मुख हैं या हो सकते हैं, वे भी पात्र हैं।

☐ कुपात्र और अपात्र को भी (कष्टपीड़ित हो तो) यथायोग्य दान देना चाहिए, क्योंकि कुपात्र और अपात्र को केवल पात्र या सुपात्र बुद्धि से दान देना निषिद्ध है, करुणाबुद्धि से दान देना निषिद्ध नहीं है।

☐ गृहनायक को कुटुम्ब के लिए बनाया गया आहार स्वयमेव आये हुए पात्र को देना चाहिए।

☐ पात्र-अपात्र के विषय में तटस्थ दृष्टि से, साथ ही मानवीय भावना के साथ विचार करना चाहिए। हृदय और बुद्धि, शास्त्र और व्यवहार दोनो तुला पर तोलकर पात्र-विवेक करके दान में प्रवृत्त होने की आवश्यकता है।

४३ दान और भिक्षा

☐ जो व्यक्ति आरम्भ परिग्रह से युक्त हो, गृहस्थाश्रम मे हो, सशक्त, अंगोपांगसहित, सवल और कमाने-खाने लायक हो, उसे दान लेने (मुफ्त में किसी से लेने) या भिक्षा ग्रहण करने का बिलकुल अधिकार नही दिया गया है। उसे निन्दनीय, नीच और घृणा का पात्र माना गया है। उसे दण्डनीय भी वताया गया है।

☐ जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धर्मो में अनगार, मुनि श्रमण, भिक्षु निर्ग्रन्थ या संन्यासी बने हुए साधक को ही भिक्षा-जीवी बनने और भिक्षा माँगने या दान ग्रहण करने का अधिकार दिया गया था।

☐ कर्तव्यच्युत, समाज के धर्म और हितों की रक्षा के दायित्व से दूर रहकर ब्राह्मण वर्ग दान और भिक्षा पर डटा रहा।

☐ भिक्षा तीन प्रकार की होती है— प्रथम सर्वसंपत्करी भिक्षा मानी गई है, दूसरी भिक्षा पौरुषघ्नी होती है, और तीसरी है—वृत्ति भिक्षा।

☐ सर्वसम्पत्करी भिक्षा वह है, जो साधु-सन्यासियों और त्यागियों द्वारा निःस्पृह एवं निरपेक्षभाव से यथालाभ संतोषवृत्ति से की जाती है। इसे अमीरी एवं श्रेष्ठ भिक्षा कह सकते हैं।

☐ पौरुषघ्नी भिक्षा वह है, जो हट्टे-कट्टे, धन-धान्य सम्पन्न, सशक्त, अंगोपांग युक्त कमाने-खाने की शक्ति वाले तथाकथित लोगों द्वारा केवल कुल-परम्परा के नाम पर की जाती है। ऐसी भिक्षा भिक्षाकर्ता के पुरुषार्थ का हनन करने वाली होने से पौरुषघ्नी बताई है।

☐ वत्ति भिक्षा वह है. जो अन्धे, लूले, लंगड़े, अंगविकल, अशक्त, असहाय, असाध्य, रोगग्रस्त, अतिनिर्धन, दयनीय लोगों द्वारा की जाती है। जिनका वस चलता है, वे ऐसी भिक्षा पर जीना नही चाहते।

☐ भिक्षावृत्ति बहुत ही पवित्र और निर्दोष जीवन प्रणाली है।

☐ सर्वसम्पत्करी भिक्षा न किसी पर बोझरूप है और न ही किसी के लिए अश्रद्धा भाजन।

☐ साधुओं की भिक्षावृत्ति पाप-रहित कही है।

☐ निरवद्य एवं निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना सुदुष्कर है।

☐ अकल्पनीय, अनैषणीय वस्तु न ले, कल्पनीय एषणीय ही ले।

☐ भगवान महावीर ने श्रमणों—निर्ग्रन्थों के लिए नवकोटि विशुद्ध भिक्षा कही है।

☐ भिक्षा में इष्टवस्तु मिलने पर गर्व न करे और न मिलने पर शोक न करे।

☐ आहार कम मिलने या न मिलने पर खेद न करे।

☐ त्यागी श्रमणों, संन्यासियों एव भिक्षुओ की भिक्षा किसी के लिए भी कष्टकारक नही है, न बोझरूप ही है। इसीलिए इसे माधुकरी एवं गोचरी भी कहते है।

☐ सर्वसम्पत्करी भिक्षा ही उपादेय है। वृत्ति भिक्षा को भिक्षा न कहकर समाज के द्वारा दयनीय व्यक्तियो का निर्वाह या पोषण कहना चाहिए। पौरुषघ्नी भिक्षा तो स्पष्टतः आलसियों की फौज बढाने वाली है।

☐ सर्वसम्पत्करी भिक्षा के अधिकारी अपना जीवन भी महाव्रती वन-

कर उच्च चारित्रवान के रूप में विताते है। मानव-जोवन का एक उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करते हैं। समाज को अधिक से अधिक ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्रेरणा देते हैं वास्तविक सुख-शांति का राजमार्ग बताते हैं।

☐ संत विनोबाजी ने मनुष्य के जीवन निर्वाह के विश्व में प्रचलित तीन प्रकार वताये हैं—भिक्षा, पेशा और चोरी।

☐ भिक्षा का अर्थ है—समाज की अधिक से अधिक सेवा करके समाज से केवल शरीर यात्रा चलाने के लिए कम से कम लेना और वह भी लाचारीवश तथा उपकृत भाव से।

☐ चोरी का अर्थ है—समाज की कम से कम सेवा करके अथवा सेवा करने का डौल दिखाकर या विलकुल सेवा किए बिना और किसी समय तो समाज की प्रत्यक्ष हानि करके भी समाज से अधिक से अधिक भोग-विलास के साधन ले लेना।

☐ सदाचारपरायण मर्यादाशील सद्गृहस्थ भूखा रह लेगा, किन्तु किसी से भिक्षा नही माँगेगा।

☐ उच्चकुल के व्यक्ति 'प्रदानं प्रच्छन्नम्' चुपचाप दान देने के संस्कार से ओतप्रोत होने के कारण लेना भी नहीं चाहते।

☐ दान में लेने का अर्थ ही मुफ्त में लेना है।

☐ किसी का कार्य किए विना कोई भी चीज मुफ्त में या दान में न लो यह भारतीय सस्कृति का स्पष्ट आदर्श है।

☐ जो स्वाभिमानी एवं स्वावलंबी होते हैं, वे कष्ट में अपना जीवन गुजार देते हैं, लेकिन किसी से दान नहीं लेते, वल्कि वे दूसरों से मुफ्त में न मांगने की प्रेरणा देते हैं।

☐ मध्यम युग में आम आदमी दान देना पसन्द करता था, लेना नही।

☐ कुछ तेजस्वी और निःस्पृह पात्र दाता की पूरी कसौटी करके ही लेते थे।

☐ निःस्पृह पात्र कभी किसी के दान की अपेक्षा नही रखता। वह दान लेता है तो दीनवृत्ति से नहीं, उदासीनवृत्ति (तटस्थवृत्ति) से लेता है। अगर पात्र दीनतापूर्वक लेता है और अनावश्यक रूप में लेता है तो भिक्षावृत्ति उचित नही कही जा सकती।

४४. विविध कसौटियाँ

☐ प्राचीन काल में दान के योग्य पात्र अपने दाता की पूरी परीक्षा करने के बाद दान लेता था। अगर दाता उसकी कसौटी पर खरा नही उतरता था, तो वह उससे दान लेने से इन्कार कर देता था।

☐ दाता को कई बार कई अग्नि-परीक्षाओ में से पार होना पड़ता है।

☐ पैसा और सांप दोनों बराबर है।

☐ दान के पात्र सहज में नहीं मिलते।

☐ उत्कृष्ट सुपात्र तो मिल भी जाते है, और अनुकम्पापात्र भी मिल जाते है, लेकिन मध्यम सुपात्र व्रतबद्ध लोक सेवक या सद्‌गृहस्थ श्रावक मिलने बहुत ही दुर्लभ है।

☐ भगवान महावीर ने साधर्मी को देने की अपेक्षा साधर्मी वात्सल्य को अधिक महत्व दिया है।

☐ सद्‌गृहस्थ श्रावक पर जब कोई आकस्मिक संकट आ जाय तब भी वह भीख नही मांगेगा, परन्तु दान ले सकता है। ऐसी परिस्थिति उसे दान लेने का अधिकार देती है।

☐ तिनका बहुत हल्का होता है, किन्तु तिनके से भी हल्की रुई होती है, मगर रुई से भी हल्का याचक होता है।

☐ हवा इस डर से याचक को उड़ाकर नहीं ले जाती कि मेरे सम्पर्क में आने पर शायद याचक मुझसे ही याचना करने लगे अथवा मुझे ही मांग ले।

☐ जैन साधुओं के लिए तो याचना और अलाभ ये दो परीषह ही बताये गए है, जो दान लेने से सम्बन्धित है।

☐ जैन और बौद्ध श्रमणों को भिक्षु (भिक्षाजीवी) भी कहा जाता है, और याचक भी।

☐ याचना के शब्द मुँह से निकलते ही हृदयस्थ श्री, धी, ह्री, शान्ति, कीर्ति—ये पांच देवता निकल जाते है।

☐ याचक में दाता को परखने का गुण तो होना ही चाहिए, साथ ही प्रत्येक के सामने दीनतापूर्वक मांगने की वृत्ति नही होनी चाहिए।

☐ जो सहजार्थी होते है, वे दाता की प्रसन्न दृष्टि, शुद्ध मन, मधुर वाणी और विनत मस्तक से समझ लेते हैं कि वैभव के विना ही सहजार्थी याचको की यह पूजा है।

□ मध्यम याचक (पात्र) और जघन्य याचक को अपने लिए तो मुख से मांगना लौकिक व्यवहार की दृष्टि से उचित नहीं है।

□ परमार्थ के लिए माँगने में कोई हानि भी नहीं है।

□ दान वृत्ति पर चलने वाली संस्थाओं के कार्यकर्ता प्रामाणिक होने चाहिए, जो पाई-पाई का हिसाब जनता के सामने प्रस्तुत कर सकें।

□ दाता और दानपात्र की उत्कृष्टता-निकृष्टता की दृष्टि से बौद्ध धर्मशास्त्र में चार प्रकार प्रस्तुत किये हैं—(१) दायक द्वारा दानविशुद्धि, (२) दानपात्र द्वारा दानविशुद्धि, (३) दायक और दानपात्र दोनों द्वारा विशुद्धि और (४) दायक और दानपात्र दोनों द्वारा अशुद्धि।

□ उत्कृष्ट सुपात्र निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी को बताया गया है। उन्हें ही मुधाजीवी कहा जा सकता है।

□ मुधाजीवी भिक्षा पर निर्भर रहता है, वह भी सिर्फ धर्म के साधनभूत देह के पालन एवं संयमयात्रा के निर्वाह के लिए।

□ जो जाति, कुल आदि के सहारे नहीं जीता, उसे ही मुधाजीवी कहा जा सकता है। ऐसा मुधाजीवी निःस्पृहभाव से धर्मोपदेश, धर्मप्रेरणा देता है, अपनी धर्मसाधना करता है और इसी उद्देश्य से भिक्षा लेता है।

□ मुधाजीवी निःस्वार्थभाव से किसी भी प्रकार की कामना से रहित होकर सिर्फ कर्तव्यभाव से जीता है, उसी भाव से वह श्रद्धालु गृहस्थों से आहारादि ग्रहण करता है।

□ मुधाजीवी—निःस्वार्थ भाव से लोगों का कल्याण करके भिक्षा प्राप्त करने वाला भिक्षु ही आदर्श दानपात्र होता है।

□ मुधादायी तथा मुधाजीवी दोनों संसार में दुर्लभ हैं। ऐसे मुधादायी और मुधाजीवी दोनों ही सद्गति में जाते हैं।

□ देने-लेने वालों में जिसकी मनःस्थिति जितनी ज्यादा उदारता, त्याग और निःस्पृहता को लिए हुए होगी, उतना ही वह बड़ा होगा, फिर चाहे वह किसी भी तरह का दान दे या किसी भी तरह का दान ले।

□ मुधाजीवी पात्र ही दाता को मुधादायी बना देते हैं।

□ दान की विशिष्टता और तेजस्विता के लिए जिन चार बातों पर जोर दिया गया है, वे इस प्रकार हैं—(१) दान की विधि की शुद्धि (२) दान देने के लिए देय वस्तु की शुद्धता (३) दानदाता की विशुद्धता (४) दान के योग्य पात्र की विशुद्धि। इन चारों का संयोग ही दान को चमका देता है।

☐ विशिष्ट फलदायक परिपक्व दान के लिए विधि, द्रव्य, दाता और पात्र विशेष ये चारों आवश्यक है।

☐ अगर व्यक्ति के पास और कोई शक्ति नही है, कोई अन्य क्षमता नही है तो कोई हर्ज नही, वह एकमात्र दान की साधना-आराधना ही कर ले तो उसका बेड़ा पार हो सकता है, वह क्रमशः मोक्षपद-परमात्मपद तक प्राप्त कर सकता है।

४५. दान की लहरे

☐ दान समाज से भिन्न-भिन्न समय में, भिन्न-भिन्न रूप में ली गई सहायता का प्रत्यर्पण है।

☐ जीवों का जीवन पारस्परिक उपकार, सहयोग के आधार पर टिका है।

☐ दान देकर किसी से कहना या अपना गुणानुवाद करना अथवा पत्रों में विज्ञापन नहीं करना चाहिए।

☐ विवेकी मनुष्य का तो यह कर्तव्य है कि वह मानव-जीवन को सार्थक करने के लिए दान और भोग, इनमें से भोग को कम से कम अपनाकर दान को ज्यादा से ज्यादा अपनावे।

☐ किन्ही व्यक्तियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे दूसरों को देने में ही अधिक आनन्द समझते है।

☐ दान किसी पर एहसान नही है।

☐ दान तो कर्तव्य है, आत्मशुद्धि का प्रवेश द्वार है, उदारता का अन्तर्नाद है, आत्मविकास का स्वर्ण अवसर है, जागरूकता के लिए प्रहरी है।

☐ दान से मनुष्य को जिस सहज आनन्द की उपलब्धि होती है, वह स्वय उपभोग करने से, अपना ही स्वार्थ सिद्ध करने से या कृपण बनकर तिजोरी मे सम्पत्ति को बन्द करने से नहीं होती।

☐ दान तो फल-प्राप्ति की गारण्टी है।

☐ अपनी आत्मा के अनुग्रह के लिए, अपनी उदारता का विकास करने के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।

☐ पैसा सूद से नही, दान से बढता है।

☐ जो साधन या सम्पत्ति समाज से उपार्जित की है, संगृहीत की है, उसे सम्यक् प्रकार से उचित मात्रा में बाँट देना दान है।

☐ अगर सभी लोग अपनी शक्ति के अनुसार समाज की बैंक में देते रहे तो संसार में अमन-चैन हो जाय।

☐ दान-क्रिया स्वामित्व विसर्जन की क्रिया है।

☐ 'इदं न मम' यह मेरा नही है, इस प्रकार की भावना दाता में पैदा हो, वही सच्चा दान है।

☐ दान समस्त सद्‌गुणों का प्रवेश द्वार है।

☐ दूसरों के लिए तन, मन, धन, साधन आदि खर्च करना, समाज के किसी दुखित, पीड़ित, निर्धन, असहाय, बुभुक्षित व्यक्ति की सेवा में जो भी अपने पास हो, अर्पण करना दान है।

☐ दान देने से वस्तु घटती नही है, बढ़ती है।

☐ प्रातःकाल की शुभ बेला में लोकजिह्वा पर उसी का नाम आता है, जो दानी हो, उदार हो।

☐ समाज में पैसा बहता रहता है तो समाज रूपी शरीर का आरोग्य कायम रहता है।

☐ हाथ की शोभा कंगनों से नहीं है, दान से है।

☐ वह हाथ, जो दान देता है, वह देता नहीं है, इकट्ठा करता है।

☐ भूख और प्यास की पीड़ा कुदरत ने सबको एक सरीखी दी है।

☐ वास्तव में दान की उत्ताल लहरें जब मानस-सिन्धु में उमड़ती है तो वह हर सम्भव उपाय से दूसरे व्यक्ति के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करता है।

पुष्कर-सूक्ति-कोश

धर्म, समाज और संस्कृति

पूज्य उपाध्यायश्रीजी की 'धर्म का कल्पवृक्ष : जीवन के आँगन में' तथा 'श्रावक धर्म-दर्शन' दोनों पुस्तकों से संकलित सूक्तियाँ।

१. धर्म के अनेक रूप

☐ धर्म मानव मात्र के लिए ही नहीं किन्तु प्राणी मात्र के अभ्युदय के लिए, सुख-वृद्धि के लिए, धारण-पोषण के लिए एक सुव्यवस्था का नाम है।

☐ धर्म मानव-जीवन को सुखी, स्वस्थ और शान्त बनाने के लिए पृथ्वी पर एक वरदान है।

☐ धर्म हृदय में घुसी हुई दानवीय वृत्ति को निकालता है और मानवता की पुण्य प्रतिष्ठा करता है।

☐ धर्म दानव को मानव बनाता है और मानव को देव।

☐ धर्म व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने वाला है।

☐ धर्म व्यक्ति, समाज और समष्टि की मानसिक बीमारियों की—आत्मिक विकारों की चिकित्सा करने वाला है।

☐ धर्म मनुष्यों के टूटते हुए हृदयों को जोड़ने वाला है।

☐ धर्म बिगड़ते हुए सम्बन्धों को स्थिर करने वाला है।

☐ धर्म विशृंखलित होती हुई व्यवस्थाओं को सुशृंखलित करने वाला है।

☐ धर्म पृथक-पृथक होती हुई जीवन-धारणाओं को एक ध्येय की ओर ले जाने वाला है।

☐ धर्म संसार के लिए अमृत है, मानव-जगत् के लिए आशीर्वाद रूप है, संस्कृति का निर्माता है व जीवन-निर्माण में सहायक है।

☐ धर्म की प्रबल प्रेरणा के बिना मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता और सिद्धि नहीं मिल सकती।

☐ सर्वत्र धर्म के प्रवेश बिना वास्तविक कार्यसिद्धि दुष्कर है।

☐ धर्म का जीवन के सभी क्षेत्रों में सार्वभौम प्रवेश होने पर ही संसार में स्वर्गीय आनन्द के फव्वारे छूट सकते हैं। संसार स्वर्गीय संगीत की मधुरता पा सकता है।

☐ मानव जाति में धर्म है तो उसका अस्तित्व है, धर्म नहीं है तो अस्तित्व में सन्देह है।

☐ केवल धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म जीवन में नहीं आ जाता।

☐ धर्म आचरण की वस्तु है वह विज्ञापन की चीज नहीं, वह आडम्बर और थोथे प्रदर्शन की वस्तु नहीं है।

☐ धर्म निष्प्राण क्रियाओं में नहीं है।

☐ धर्म विना सोचे समझे भूखे-नंगे रहने में नहीं है।

☐ धर्म किसी प्रकार की वेशभूषा में नहीं है।

☐ धर्म अमुक प्रकार के तिलक छापों में नहीं है।

☐ धर्म विना समझे शास्त्रों को घोंटने में नही है।

☐ धर्म हृदय में, जीवन में और सही सोचने व सही कार्य करने में है।

☐ धर्म अहिंसा में है, सत्याचरण में है, प्रेम में है, न्याय में है, सदाचार और सद्‌विचार में है।

☐ धर्म अपने को जानने पहचानने और समझने में है।

☐ धर्म सबके हित में अपना हित समझने में है।

☐ धर्म अमीरी-गरीबी, जात-पाँत, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता आदि भेदो को मिटाने में है।

☐ धर्म दीन-दुखियों को गले लगाने में है।

☐ धर्म ईमानदारी से व्यवहार करने में है, धर्म कम से कम वस्तुओं से निर्वाह करने में है।

☐ धर्म रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, मिथ्याधारणाओं, कुपरम्पराओं और गलत संस्कारों को मिटाने में है।

☐ धर्म विषम से विषम परिस्थिति में भी नैतिकता के पालन करने में है।

☐ धर्म मन की निर्मलता, पवित्रता और स्वतन्त्रता में है। धर्म समाज से कम से कम लेने और अधिक से अधिक देने में है।

☐ धर्म वह विचार, वचन या आचरण है जिससे विश्वसुखसंवर्धन को क्षति न पहुँचे।

☐ धर्म तो श्वासोच्छ्वास की तरह हर समय साथ रहना चाहिए और उसका हर समय पालन होना चाहिए, आचरण होना चाहिए।

☐ धर्म के लिए तो प्रतिक्षण ही सोचते रहना चाहिए।

□ जो धर्म स्वर्ग का प्रलोभन और नरक के भय बताकर मनुष्य को प्रेरणा देने वाले है, उनकी नीव कच्ची है।

□ जहाँ मानव में स्वर्ग का लोभ और नरक का डर हटा कि वह धर्म को छुएगा नही।

□ इस बुद्धिवादी युग में भय और प्रलोभन के आधार पर धर्म को न ठसाकर कर्त्तव्य, विवेक, समझदारीपूर्वक धर्म का स्वरूप समझाया जाना चाहिए।

□ विशेषत. प्रत्यक्ष आचरण करके बताना चाहिए तभी धर्मतत्व जीवन में उतर सकेगा।

□ धर्म में तो वह ताकत है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में अपना मार्गदर्शन कर सकता है।

□ धर्म का जो काम दर्शन करता आया है वही काम विज्ञान करेगा।

□ दर्शन और विज्ञान दोनों का काम विश्लेषण करने का है, सत्य को विश्व के सामने रखने का है।

□ धर्म में तो कम से कम लेकर या बिलकुल न लेकर बदले में निःस्वार्थ भाव से ज्यादा से ज्यादा देना होता है।

□ धर्म तो हर जगह अपना स्थान रखता है वह हर क्षेत्र में त्याग मांगता है आचरण मांगता है।

□ धर्म को छोडकर एकान्त अर्थ और काम का सेवन मानव-जीवन के लिए एक खतरा है।

दुःख मुक्ति के लिए मोक्ष के लिए धर्म की शरण ही एकमात्र श्रेयस्कर है। इसके बिना संसार नरक की ओर ही गति करेगा।

आप भी दुःख मुक्ति चाहते है, विश्व को सुखमय देखना चाहते है तो धर्म को रग-रग मे रमाइये।

□ अर्थ, काम और पुरुषार्थ के समय भी धर्म को नजर अन्दाज न कीजिए ओझल न कीजिए उसको आंखो के तारे की तरह सामने रखिये।

धर्म का आसन छीनने वाली कुप्रथाओ को धक्का देकर निकालना चाहिए तभी धर्म की प्रतिष्ठा सुरक्षित रह सकती है।

२. धर्म की असलियत

☐ धर्म आत्मा को महात्मा और परमात्मा तक ले जाने वाला एक चिर पथप्रदर्शक है।

☐ धर्म ही समाज का मस्तिष्क है जिसका जीवन में श्वास-प्रश्वास की तरह महत्त्वपूर्ण स्थान है।

☐ धर्म मानव-समाज की चिकित्सा; व्यवस्था और उन्नति के लिए आशीर्वाद बनकर संसार में आया।

☐ धर्म मानव-समाज, राष्ट्र और सृष्टि तक को तमाम उलझनों को—गुत्थियों को सुलझाता रहा है।

☐ धर्म अपने आप में कल्याणकारक है, मंगलमय है, जगत् में शान्ति का सन्देश फैलाने वाला है।

☐ धर्म की ओट में कई बुराइयाँ पनप रही हों तो उन बुराइयों को ढूँढकर दूर करना चाहिए, न कि धर्म की जान लेने पर उतारू होना चाहिए।

☐ धर्म पर अधर्म का, पाप का, अन्धविश्वास का, पाखण्ड का और कुरूढ़ियों का मैल जम गया है तो समझदारी का तकाजा यही है कि उस मैल को दूर हटाया जाय, साफ किया जाय, न कि धर्म को ही साफ करने का प्रयत्न किया जाय।

☐ जब तक मनुष्य के पास हृदय है और हृदय में अच्छी-बुरी प्रवृत्ति है, तब तक वह किसी न किसी रूप में धर्म को अपनाए विना न रहेगा।

☐ धर्मों को नष्ट कर देने का मतलब होगा मानव हृदयों को नष्ट कर देना, मानव को भावनाहीन बना देना।

☐ भावनाहीन मनुष्य बुद्धिमान् होने पर शैतान हो जाता है और बुद्धिहीन मनुष्य कोरा भावुक होने पर हैवान बन जाता है।

☐ मनुष्य को न तो शैतान बनना है और न हैवान, उसे इन्सान वनना है और इन्सान बनने के लिए धर्मों की नितान्त आवश्यकता है।

☐ धर्मों का काम ही मानव में रही हुई पशुता और दानवता को मिटाना या सीमित करना है।

□ सभी धर्मों में एकरूपता का ही नही एकता का बीज बोया जाय तो धर्मों से कल्याण का द्वार खुल सकता है।

□ मानव-समाज धर्मों से बहुत कुछ फायदा उठा सकता है।

३. धर्म, आचार का कल्पतरु

□ भारतीय तत्त्वचिन्तकों के विचार का मुख्य केन्द्रबिन्दु आत्म-विकास है।

□ आत्म-विकास का अर्थ है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विकास करना, आचार और विचार का विकास करना, स्व-स्वरूप का विकास करना, आत्मगुणों की वृद्धि करना और ज्ञान एव क्रिया का विकास करना।

□ आत्म-विकास समुचित मात्रा में नही होता तब तक आध्यात्मिक उत्क्रान्ति नही होती।

□ जब मिथ्याज्ञानरूप कारण नष्ट हो जाता है तो दु.ख, जन्म प्रभृति दोष आदि कार्य भी नष्ट हो जाते हैं।

□ तत्त्वज्ञान से ही दु.खनिवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

□ आचार से मानव-जीवन मे सभी सफलताएँ मिल सकती है।

□ आचार से रहित कोरा ज्ञान या विचार लंगडा है, गतिहीन है, आध्यात्मिक प्रगति मे रुकावट का कारण है।

□ जब तक ज्ञान और क्रिया विचार और आचार मे दोनो पृथक्-पृथक् रहते है तब तक अपूर्ण है।

□ जीवन को समझाने के लिए उच्च विचार के साथ उच्च आचार की आवश्यकता है।

□ जहाँ विचार के साथ आचार का समन्वय होता है वही जीवन ऊपर उठता है, अमरत्व का प्रशस्त सिंहासन प्राप्त करता है।

□ साधक को साधना के आकाश मे आध्यात्मिक उड़ान भरने के लिए, ज्ञान और क्रिया अथवा आचार और विचार की स्वस्थ और अविकल पांखे आवश्यक है अपरिहार्य है।

□ मानव-जीवन मे भी सभी सफलता मिल सकती है जब विचार और आचार की दोनो पांखे सशक्त और अविकल होगी।

☐ साधक जीवन में विचार और आचार के दोनों तार नही है तो आध्यात्मिक प्रकाश फैल नही सकता, उत्क्रान्ति की हवा मिल नही सकती, विश्व के आध्यात्मिक संगीत की स्वर लहरी सुनाई नहीं दे सकती, साधना की गर्मी आ नहीं सकती।

☐ विचार और आचार इन दोनों से ही जीवन रूप जल तैयार हो सकता है, इन दोनों के संयोग के अभाव में जीवन में साधना का प्राण नही आ सकता। वह जीवन एक तरह से आध्यात्मिक मृत्यु को प्राप्त है।

☐ आत्मा की स्वस्थता और मस्ती के लिए भी ज्ञान और क्रिया अथवा विचार और आचार इन दोनों शक्तियों की अपेक्षा है।

☐ आचार और विचार समान रूप से विकसित होने पर ही हमारा आत्मा स्वस्थ और मस्त रह सकता है।

☐ आचार और विचार में से एक की उपेक्षा करके यदि हम जीवन-निर्माण करना चाहें या ऊर्ज्वस्वल व्यक्ति का निर्माण करना चाहें तो आकाश-कुसुमवत् असम्भव है।

☐ हमारे जीवन में विचार और आचार के दोनों काँटे ठीक ढंग से गति न करे या दोनों में से एक काँटा खराव हो जाय तो हमारी जीवन की घड़ी आगे बढ़ने से रुक जायगी।

☐ आत्म-शुद्धि या तपश्चर्या द्वारा जीवन-घड़ी की चिकित्सा करनी पड़ेगी।

☐ आज हमारे आध्यात्मिक जीवन भी सूखे रेगिस्तान जैसे हो रहे हैं, मरुभूमि की मृगमरीचिका की तरह अध्यात्म का आडम्बर जरूर देखने को मिलेगा पर पास जाने पर अथवा सम्पर्क में आने पर आध्यात्मिकता नाम की कोई चीज नही मिलेगी।

☐ कथनी और करनी का मेल ही जीवन को ऊँचा उठाता है।

☐ जीवन भी एक वाक्य है और यह वाक्य तभी पूर्ण होगा जब हम ज्ञान का क्रियात्मक प्रयोग करेंगे, जानकर उसका आचरण करेगे।

☐ साधक ज्ञानी तो है किन्तु आचरणरहित है, उसके लिए वह ज्ञान भाररूप है निरुपयोगी है, किसी काम का नही है।

☐ कोरा ज्ञान वघारने वाला अनुभव रस का—आचरणानन्द का आस्वादन नही कर सकता।

☐ सूर्य और प्रकाश दोनों साथ-साथ रहते हैं, इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया अथवा आचार और विचार साथ-साथ रहेंगे तभी हमारा जीवन अलौकिक साधना से चमक उठेगा।

☐ मनुष्य-जाति का महान् दुर्भाग्य है कि वह विचारों को आचार का रूप देने में बहुत घबराता है।

☐ जब तक समाज के विचार और आचार का यह द्वैविध्य है, तब तक उसकी गाड़ी अवनत दशा के दलदल में फँसी हुई समझनी चाहिए।

☐ विचारों को आचाररूप में परिणत करते समय समाज जो मनसिक निर्बलता बताता है, परिस्थिति को प्रतिकूल बना देता है या ईर्ष्यावश वहीं अटका रहना चाहता है, यह एक भयंकर बीमारी है।

☐ सिर्फ भेजे में किताबें ठूंस देने से ही कोई मनुष्य अगर ज्ञानी बन जाता हो तो पुस्तकालय की अलमारियाँ भी ज्ञानी हो जायेंगी।

☐ किसी विचार को समझ लेने, उच्चारण कर लेने, वाद-विवाद कर लेने से ही कोई काम नहीं होता।

☐ श्रोता मन भर सुनकर कण भर भी आचरण करे तो उससे भी काफी हित हो सकता है।

☐ एक साल में कम से कम एक व्रत भी सुनकर अच्छी तरह धारण करें, अमल में लावे तो बारह वर्षों में बारह व्रत को धारण कर आचरण में लाया जा सकता है।

☐ समाज मे आज जो विचार और आचार के बीच चौड़ी खाई पड़ी हुई है उसे पाटा जाय।

☐ विचारों के अनुरूप जब हम आचरण करे तभी समाज, देश और राष्ट्र का भविष्य उज्ज्वल है।

४. सन्त

☐ सन्त वर्णातीत होता है।

☐ सन्त चारों ही वर्णो से ऊपर उठकर समाज से अलिप्त रहते हुए भी समाज को नैतिक–धार्मिक प्रेरणाएँ देता रहता है।

☐ संयम से भरी जिन्दगी की मस्ती में झूमते हुए हजारो मील की पद-

यात्रा करके जन जीवन को आध्यात्मिक और धार्मिक विचारों का प्रकाश देता चला जाता है।

☐ शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखना हो तो पैदल चलना हितकर है।

☐ ज्ञान और अनुभवों का नया प्रकाश लेना हो तो पैदल विहार करना कल्याणकर है।

☐ पदयात्री को प्रतिक्षण कठिनाइयों की कष्टकर मंजिल के कठिन दौर में से गुजरना पड़ता है।

☐ पैदल घूमना फूलों का मार्ग नहीं, काँटों का मार्ग है।

☐ सच्चा साधक, सच्चा पदयात्री यात्रा में कठनाइयों से घबराता नहीं है।

☐ जो स्वयं जागृत है उसे जगाने के लिए संसार में अनेक निमित्त मिलते है।

☐ जिसमें स्वयं चेतना-शक्ति नहीं है, उसे निमित्त भी विकास करने के लिए सहायक नही होता।

५. साधना और विवेक

☐ जिस साधना में विवेक है वह सम्यक् साधना है, शुभ योग वाली साधना है।

☐ जिस साधना में अविवेक है वह असम्यक् और अशुभ योग वाली साधना है।

☐ शुभ योग वाली साधना जहाँ पाप को नष्ट करती है, वहाँ अशुभ योग वाली साधना पाप को बढ़ाती है।

☐ जहाँ विवेक है वहाँ धर्म है, जहाँ अविवेक है वहाँ पाप है।

☐ विवेक जिस मानव में आ जाता है, उसके जीवन का नक्शा ही बदल जाता है।

☐ विवेक वह जादू है जो एक बार किसी के हाथ लग जाने पर उसके जीवन मे आमूलचूल परिवर्तन कर देता है।

☐ विवेक सत्यासत्य का परीक्षण करने वाला दिव्य नेत्र है।

☐ विवेकी की दृष्टि हंस जैसी होती है।

☐ साधक विवेक की चोंच से सद्-असद् का पृथक्करण कर लेता है और असार को छोडकर सार भाग को ग्रहण कर लेता है ।

☐ जिस इन्सान में विवेक नही है वह इन्सान नही हैवान है ।

☐ विवेक सच्ची और स्थायी निधि है ।

☐ जिस इन्सान को विवेकरूपी निधि प्राप्त हो गई है, उसके लिए अन्य निधियाँ तुच्छ है—नगण्य है ।

☐ जिस समय साधक के हृदय में विवेक का प्रकाश जागृत हो जाता है उस समय उसका जीवन निराला ही बन जाता है ।

☐ विवेकी जहाँ भी जाता है अपने विवेक की खुशबू फैला देता है।

☐ जिसमें विवेक का प्रकाश फैल जाता है वह सारे संसार को अपना आत्मीय समझने लगता है, सारे ससार के साथ वह एकरूपता स्थापित कर लेता है ।

☐ जिसे विवेक की संजीवनी बूटी मिल जाती है, उसे जीवन का मोह और मृत्यु का शोक नही सताता ।

☐ ससार में रोने वालों के साथ सब रोने लगते है, उसका दुःख मिटाने का प्रयत्न नही करते ।

☐ क्रूर काल का कुचक्र सारे संसार के प्राणियो पर घूमता ही रहता है ।

☐ हमे अपनी विवेक-बुद्धि से कार्य करने का अभ्यास करना चाहिए ।

☐ विवेक की मानव-जीवन में पहली और सर्वप्रथम अनिवार्य आवश्यकता है ।

६ आत्मानुशासन और संयम

☐ दूसरो पर अधिकार करना सरल है, किन्तु अपने आप पर शासन करना कठिन है ।

☐ जो अपने-आपको अनुशासन मे नही रख सकता है वह व्यक्ति कभी सुखी नही हो सकता ।

☐ सुख का मूल मन्त्र है—अपने-आपको अनुशासन में रखना ।

☐ संयम स्वेच्छाकृत होता है, परवशीकृत नहीं ।

☐ ऊपर से लदे हुए अनुशासन को ही संयम कहा जायगा तो जेल में कैदियों द्वारा किया जाने वाला काम या भूखे रहना भी संयम ही कहलायेगा।

☐ जिस राष्ट्र, देश, जाति, धर्म या समाज में संयम होता है वह राष्ट्र, देश, जाति, धर्म या समाज कभी दुःखी, पतित और अवनत नहीं हो सकता है।

☐ सभी राष्ट्रों में संयम की मधुर पयस्विनी कल-कल निनाद करती हुई प्रवाहित हो चले तो राष्ट्रों का क़ायापलट हो जाय सभी राष्ट्र सशक्त और समृद्ध हो जाय।

☐ जो आत्मा इन्द्रियों का सेवक है वह सईस है और जो इन्द्रियों का स्वामी है, वह रईस है।

☐ संयम ही मानवता की कसौटी है।

☐ जिसमें जितना अधिक संयम होता है उसमें उतनी ही अधिक मानवता होती है।

☐ जिस मनुष्य का अपने आप पर संयम होता है वह चाहे कहीं भी चला जाय दुःखी नही होता।

☐ अन्तर्मुखी बने बिना वास्तविक संयम आ नहीं सकता।

☐ जिसकी दृष्टि अन्तर्मुखी बन जाती है वह बाह्य जनसमुदाय, जाति या अमुक समाज की दृष्टि से न सोचकर आत्महित की दृष्टि से सोचता है।

☐ संयम जीवन के लिए आवश्यक ही नही, अनिवार्य वस्तु है।

☐ बिना संयम के आने वाले पाप कर्म का प्रवाह (आश्रव) रुक नही सकता।

☐ आश्रव को रोके बिना संवर और सकाम निर्जरा नहीं हो सकती।

☐ संयम विवेक मेथी के लड्डू के समान है, जिसमें कडुआपन तो है लेकिन वह कर्म-रूपी वात को शमन कर आत्मशक्ति की अभिवृद्धि करता है।

☐ जिसके जीवन में संयम की–सदाचार की ज्योति जगमगाती है वही पूजनीय होता है।

☐ एक क्षण भी जीओ, किन्तु जाज्वल्यमान दीपक की तरह प्रकाश करते हुए जीओ।

☐ असंयमी जीवन जीना मृत्यु जैसा है, सुवासरहित पुष्प जैसा है।

☐ संयम जीवन का आन्तरिक सौन्दर्य है।

☐ आज का इन्सान आन्तरिक सौन्दर्य को विस्मृत करके बाह्य सौन्दर्य के पीछे दीवाना बना हुआ है।

☐ वस्तुतः सौन्दर्य का उपभोग करना चाहते है तो भोग-लालसा का दमन कीजिए, संयम और नियम से जीवन को ओत-प्रोत कीजिए।

☐ जितना-जितना आप सयम का आचरण जीवन में करेंगे, उतना माधुर्य आपको प्रत्यक्ष मिलता जायेगा।

७. सत्य

☐ सत्य अपने-आप मे इतना महान है कि उसे ठुकराकर संसार में कोई भी वास्तविक रूप मे जिन्दा नही रह सकता।

☐ सत्य के बिना सारा ससार शून्य है।

☐ सत्य वह आधारशिला है जिस पर सारा ससार टिका हुआ है।

☐ संसार की सारी वस्तुएँ सत्य पर ही प्रतिष्ठित है।

☐ सत्य वह पारसमणि है जिसके स्पर्श होते ही मानव-जीवनरूप लोहा सोना बनकर चमक उठता है।

☐ सत्य को जिसने भी ग्रहण किया वह अगर भिखारी था, कंगाल था, तुच्छ व्यक्ति था तो भी संसार का पूजनीय, आदरणीय और शिरोमणि बन गया।

☐ सत्य केवल वह नहीं है जो वाणी से ही बोला जाता है।

☐ सर्वभूतहितकर वचन, आचरण, विचार या तत्त्व का नाम ही सत्य है।

☐ जहाँ सत्य होता है, वहाँ निर्भयता का सञ्चार होने लगता है।

☐ सत्य और निर्भयता दोनों भाई-बहिन जैसी हैं।

☐ जीवन में जब सत्य आता है तो मानव तमाम स्वार्थी तुच्छ आसक्ति और प्रलोभनों तथा भयों को ठुकरा देता है।

☐ तराजू के एक पलड़े में सहस्र अश्वमेध यज्ञों का फल रखा जाय और दूसरे पलड़े में अकेले सत्य को तो भी सहस्रों अश्वमेध यज्ञों से सत्य वजनदार होगा, बढ़कर होगा।

☐ सत्य की पगडण्डी पर चलें तो आपका जीवन अमृतमय बन जाय।

८. मानव-जीवन

☐ अधजले कंडों की तरह विकारों का, वासनाओं का धुँआ छोड़ते हुए सौ वर्ष तक भी जीता रहे तो उस मानव-जीवन का कोई मूल्य नहीं।

☐ जो जीवन दोषों से विकारों से रहित होकर जीया जाता है, वही वास्तविक मानव जीवन है।

☐ उस व्यक्ति का जीवन सच्चा जीवन है, जो विकारों से जूझता हुआ जीता है।

☐ एक क्षण भी जीना लेकिन जाज्वल्यमान दीपक की तरह प्रकाश करते हुए जीना, सत्कर्म करते हुए जीना।

☐ दुष्कर्मों के लिए एक क्षण भी मत जीओ।

☐ मानव-जीवन को वास्तविक रूप से जीने के लिए ही मानव ने कला को अपनाया है।

९. मानवता का मधुर स्वर

☐ मनुष्य की इन भौतिक प्रगतियों का, बाह्य वैभवों और बाह्य-सौन्दर्य का तब तक कोई मूल्य नहीं है, जब तक इसके अन्तर् में मानवता का नाद न फूट पड़े, उसके हृदय में मानवता की शहनाई न बज उठे। अन्तर् में मानवता का सौन्दर्य न लहरा उठे।

☐ मानव के पास सब कुछ आन्तरिक वैभव है, किन्तु कस्तूरीमृग की तरह वह उसे बाह्य-वैभव में ढूंढ रहा है।

☐ एवरेस्ट पर आरोहण करने वाले मानव के चरण मानव की कुटिया तक पहुँचने में असमर्थ हो रहे हैं, सुनहरे गगन में गति करने वाले मानव को पृथ्वी से नफरत होने लगी है, सारी पृथ्वी उसे काँटों से भरी दिखाई देने लगी है।

☐ विविध वादों के कोलाहल में मानव अपने मानवता के अन्तर्नाद को भूलता जा रहा है।

☐ सचमुच मानव बाहर से विकसित होता दिखाई दे रहा है, पर भीतर से मुरझा रहा है।

☐ हमारे विचारों में संकीर्णता के कारण मानवता खण्ड-खण्ड हो रही है।

☐ दूध की खाली बोतल के रूप में मानव-शरीर है, अगर मानवता रूपी दूध उसमें नहीं है, तो बेकार है।

☐ धर्म-रूपी भव्य-भवन का द्वार मानवता है। जब तक जीवन मे मानवता नही आएगी, तब तक धर्म के द्वार में प्रवेश नही हो सकेगा।

☐ सच है, मानव-शरीर को पाकर भी मनुष्यता प्राप्त नही की, मनुष्यता अपने अन्दर नही जगाई तो सारा किया-कराया गुड़-गोबर है।

☐ सचमुच मानव-जीवन में रूप, बल, बुद्धि और वैभव की, अपने आप मे कोई कीमत नही, अगर मानवता न हो।

☐ अगर किसी भी धर्म मे मानवता नही है तो वह धर्म दुनिया के किसी काम का नही है, वह धर्म मानव-जीवन के लिए अभिशाप है।

☐ मानवता के बिना धर्म निःसत्व है, निष्प्राण है, कोरा कलेवर है।

☐ यदि मानव में मानवता नही आई, तो मानव-शरीर पृथ्वी के लिए भार रूप है, बेकार है, एक सिर-दर्द है।

☐ मानव की बुद्धि-कुशलता के द्वारा अपनाए हुए राजनीति, समाज, धर्मो एव राष्ट्र मे सर्वत्र मानवता पलायित होकर दानवता खेल रही है।

☐ मानव-जाति में से मानवता लुप्त हो गई तो मानव-व्यवहार कैसे चलेगा ?

☐ जहाँ मानवता होती है, वहाँ कर्त्तव्यों और अधिकारो का विवेक होता है, संतुलन होता है, लेन-देन होता है।

☐ मानव का दानव बनना उसकी हार है, मानव का महामानव बनना उसका चमत्कार है, परन्तु मानव का मानव होना उसकी विजय है।

☐ क्या मानव मे मानवता लाए बिना, दानवता और पशुता को हटाए बिना, राष्ट्र-विकास की ये योजनाएँ अपने आप मे सार्थक हो सकती है ?

☐ मानवता की कसौटी मानव की मानवता का व्यवहार ही बन सकता है।

☐ मानवता की चमक से ही मानव की अधिक कीमत है, अन्यथा, मानव-शरीर की ही, अकेले की, कुछ कीमत होती तो लोग मुर्दा शरीर को क्यों नही वेच लेते या घर में रख लेते ।

☐ जहाँ वड़े से वड़े संकट में पड़ने पर भी मानवता न डगमगाये, दानवता या पशुता की शरण न ली जाय, वहीं सच्ची मानवता समझनी चाहिये ।

☐ जिसकी नसों में मानवता का स्पन्दन होता रहता है, वही व्यक्ति सच्चा मानव कहलाने योग्य है ।

☐ जव मानव-हृदय में मानवता अपना स्थायी निवास कर लेगी, तव मानवता को प्रतिक्षण-प्रतिपल मनुष्य भूलेगा नही ।

१०. धर्म : जिन्दगी की मुस्कान

☐ विश्व के प्राय: सभी धर्मों, दर्शनों, विचारधाराओं, वादों और ज्ञान-विज्ञानों का चरम और परम उद्देश्य है–मानव-जीवन को सर्वश्रेष्ठ बनाना, मनुष्य के अन्दर मनुष्यता जगाकर उसे देवत्व और भगवत्त्व तक पहुँचा देना ।

☐ उसी जीवन-पट पर धर्म का रंग चढ़ सकता है, टिक सकता है, जो शुद्ध हो, साफ हो, निष्कपट हो ।

☐ सम्पूर्ण जीव-सृष्टि में मनुष्य-जीवन से बढ़कर श्रेष्ठ जीवन नही है, क्योंकि मनुष्य जीवन मुक्ति का द्वार है ।

☐ देवताओं का केवल हाड़-माँस के ढेर मानव-देह के प्रति आकर्षण नहीं है, उनका आकर्षण मानव के आत्मा, मन, बुद्धि, वाणी और इन्द्रियों के स्वामी मानव-जीवन से है ।

☐ जो जिन्दगी मुस्कराती नही, खिलती नहीं, उन्नत नहीं वनती, वह जिन्दगी पृथ्वी के लिए भारभूत है ।

☐ उस जिन्दगी का क्या मूल्य है जो स्वयं ही मुरझा कर समाप्त हो जाती हो, न किसी के काम आती हो, न दूसरों के लिए प्रेरणादायी वनती हो ?

☐ जिस जिन्दगी में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् नही होता, वह जिन्दगी

मुर्झाई हुई है, उसके पास फटकने मे लोगों को संकोच होता है, ऐसी जिन्दगी का अनुसरण करने को जी नहीं ललचाता।

☐ जो दूसरों की मुस्कान को समाप्त कर स्वयं मुस्कराता रहना चाहता है, वह केवल कल्पना के पंख पर उड़ान भरता है।

☐ मर्यादा पुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी कृष्ण, भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, ईसामसीह, महात्मा गाँधी आदि संसार के महापुरुषों का जीवन पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुस्कान से परिपूर्ण था, उनके जीवन में शांति, प्रेम, क्षमा, न्याय, सत्य आदि की कलाएँ खिली हुई थी।

☐ आन्तरिक परिणामों की जहाँ चचलता हो, वहाँ बाह्य निर्भयता या बाह्य मुस्कान जीवन को प्रभुत्व सम्पन्न नही बना सकती है।

☐ जहाँ द्वेष होता है वहाँ मोह,आसक्ति, मूर्च्छा आदि निश्चित ही अन्दर की तह में छिपे होते हैं।

☐ मनुष्य को अपनी जिन्दगी काँटों, कंकरों, आँधी-तूफानों से न डरते हुए और प्रलोभनों के जाल में न फँसते हुए वितानी चाहिए, तभी उसमें मुस्कान आ सकती है।

☐ जिन्दगी की मुस्कान बढ़ाने के लिए आत्मा तो मुख्य नायक है ही, मन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियाँ और तन भी उनके पूरे-पूरे सहायक है।

☐ वैदिक ऋषियों ने धन की दरिद्रता की अपेक्षा बुद्धि की दरिद्रता को बहुत खतरनाक बताया है।

☐ हे स्नातक, तुम्हारी बुद्धि धन में नही, धर्म में रमे; तुम्हारा मन संकुचित नही, विराट हो।

☐ अगर आत्मा के सद्गुण जीवन में नही आए तो जिन्दगी की मुस्कान सर्वांगसंपूर्ण नही होगी।

११ राम-राज्य

☐ राम का जीवन एक जाज्वल्यमान प्रकाश स्तभ है जिसकी प्रकाश किरणें जैन, बौद्ध और वैदिक संस्कृति व साहित्य को प्रकाशित कर रही है।

राम का जीवन सत्य, सदाचार और कर्तव्य पालन का ज्वलन्त उदाहरण है।

☐ हम रामराज्य तो चाहते है, किन्तु क्या राम की तरह सुख-दुःख के प्रति हमारे में समभाव है ?

☐ "स्वराज्य का सर्वोत्तम रूप राम-राज्य है।" राम-राज्य का अर्थ है भगवान का राज्य, सद्‌गुणों का राज्य, सद्‌वृत्तियों का राज्य।

☐ यदि आप राम-राज्य चाहते है, देश को आबाद और सुखी देखना चाहते है तो नैतिकता की महाज्योति को हृदय में जगाइये।

१२. जिन्दगी की लहरें

☐ दार्शनिक दृष्टि से जीवन एक चिन्तन है, साधक की दृष्टि से जीवन सरिता की धारा के समान अस्थिर है, कवि की दृष्टि से जीवन एक काव्य है, योद्धा को दृष्टि से जीवन एक युद्ध है।

☐ दोष-रहित जीवन ही वस्तुतः जीवन है।

☐ जब तक जीवन को नहीं समझा जाता तब तक ज्ञान-विज्ञान और कला निस्सार है।

☐ इच्छा की प्यास न कभी बुझती है और न कभी पूरी हो पाती है।
The thirst of desire is never filled nor satisfied.

☐ भारतीय महर्षियों ने आसुरी जीवन को निकृष्ट जीवन माना है। इस जीवन के अन्त में पश्चात्ताप है।

☐ जिस जीवन में अहिंसा का आलोक हो, सत्य का सूर्य चमकता हो, प्रेम के प्रदीप जगमगाते हों वह दैवी-जीवन है।

☐ जिसके अन्तर्मानस में दया की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती हो वह दैवी-जीवन है।

☐ जिस जीवन में तत्त्व के प्रति हिमालय के समान अविचल श्रद्धा हो, सम्यग्-ज्ञान का दिव्य आलोक जगमगाता हो और तदनुकूल सम्यक्-आचारण किया जाता हो वह अध्यात्म-जीवन है।

☐ आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान और आत्म-संयम, ये तीनों तत्त्व जीवन को परम शक्तिशाली बनाते है।

☐ सर्वप्रथम सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा चाहिए। जब निष्ठा होगी तभी ज्ञान का आनन्द आयेगा और तभी चारित्र की चारु-चन्द्रिका जीवन में चमकेगी।

☐ भक्ति-योग, ज्ञान-योग और कर्म-योग इन तीनों का जब पूर्ण विकास होता है, तब आत्मा परमात्मा बन जाता है।

☐ आज का जन-जीवन जो अशान्त है उसका मुख्य कारण आसुरी-जीवन ही है।

१३. जीवन के कलाकर : सद्गुरु

☐ सद्गुरु सच्चा पथ-प्रदर्शक है।

☐ सद्गुरुरूपी पावर हाउस में ज्ञान का पूर्ण पावर भरा हुआ है।

☐ सद्गुरु में ज्ञान का अखण्ड प्रकाश होने के बावजूद भी यदि शिष्य में योग्यता नहीं है तो वह अपने जीवन को आलोकित नही वना सकता।

☐ सद्गुरु एक सफल कलाकार है।

☐ सद्गुरु जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन है।

☐ सद्गुरु जीवन रूपी नौका का सफल और कुशल नाविक है।

☐ भगवान यदि रुष्ट हो जाय तो सद्गुरु बचा सकता है, पर सद्गुरु रुष्ट हो जाय तो भगवान की भी शक्ति नही जो उसे उबार सके।

☐ अन्य वस्तुएँ मिलना सरल है, सहज है, पर सद्गुरु का मिलना कठिन है, कठिनतम है 'सद्गुरवस्त्रिलोके।'

☐ जो स्वयं भोग-विलास में निमग्न रहते हों और व्यसनों से व्यथित हो, वे गुरु कैसे बन सकते है ?

☐ सद्गुरु के लिए अपेक्षित है कि वह पाँच इन्द्रियों को वश मे करने वाला हो, तथा नवविध ब्रह्मचर्य गुप्तियों को धारण करने वाला हो।

☐ जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है।

१४. साहित्य : एक चिराग ! एक ज्योति !

☐ साहित्य मानव की निरुपम संपत्ति है।

☐ साहित्य ज्ञान-राशि का संचित-कोश है जिसके अध्ययन, चिंतन और परिशीलन से मानव अपना आध्यात्मिक और बौद्धिक दोनो प्रकार का विकास कर सकता है।

☐ साहित्य मानव के हृदय को बदल देता है।

☐ भारतवर्ष मे वही साहित्य जन-मन को प्रिय हुआ जो धार्मिक भावना से ओत-प्रोत रहा।

☐ जो वासना और विकारों को प्रोत्साहन देने वाला है उसे हम साहित्य नहीं कहते।

☐ साहित्य समाज का दर्पण है।

☐ मिल्टन का कथन है कि किसी अच्छी पुस्तक में उसके लेखक का, उस महान् व्यक्ति का रक्त वहता है।

☐ साहित्य महापुरुषों के विचारों का अक्षय कोश है।

☐ आस्टिन फिलिप्स ने कहा था 'कपड़े भले ही पुराने पहनो पर पुस्तकें नवीन-नवीन खरीदो।'

☐ पुस्तकें जेब में रखा हुआ एक बगीचा है।

☐ जिन घरों में सद्-साहित्य का अभाव है वह घर आत्मा-रहित शरीर के सदृश है।

☐ शरीर के लिए जिस प्रकार भोजन की आवश्यकता है उसी प्रकार मानसिक भूख को शान्त करने के लिए श्रेष्ठ पुस्तकों की आवश्यकता है।

☐ आज के युग में वही समाज और धर्म अपना अत्यधिक उत्कर्ष कर सकते हैं जो साहित्य की दृष्टि से समृद्ध हैं।

☐ साहित्य समाज की आँख है, एक ज्योति है, एक चिराग है, जो अन्धकार में भी आलोक प्रदान करता है।

१५ जीवन का सुनहरा प्रकाश : कर्तव्य

☐ कर्तव्य जीवन का सुनहला प्रकाश है, जीवन का प्रवेश-पर्व है, जीवन-संस्था का शिलान्यास है।

☐ कर्तव्य जीवन का नवनीत है और जीवन को अमर बनाने का श्रेष्ठ रसायन है।

☐ जो फलेच्छा से धर्म-कर्म करता है वह भूल-भरा है।

☐ कर्तव्य-दृष्टि से की जाने वाली साधना में ही स्वर्ण की तरह आभा प्रस्फुटित होती है।

☐ नाम से नहीं अपितु कर्तव्य के द्वारा इन्सान की परख होती है।

☐ जो मनुष्य किसी की विपत्ति में काम नहीं आता उसका संसार में जीना ही बेकार है।

□ जो नरवीर कर्तव्य को पूर्णत. निभाते है वे ही इस संसार में अपना जीवन महान् बनाते हैं और जगत् में भी शान्ति और सुव्यवस्था फैला जाते है।

□ कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति कष्ट के काँटों से घबराकर अपनी राह नहीं छोड़ता, अपनी मुस्कराहट नहीं छोड़ता।

□ कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति कर्तव्य को किसी भी लोभ, स्वार्थ या प्रलोभन के बदले बेचता नही है।

□ कर्तव्य का क्षेत्र क्रमश: विस्तृत से विस्तृततर और विस्तृततम होता जाता है।

□ जो मनुष्य अधिकार पद पाकर कर्तव्य-पालन नहीं करता उसके अधिकार का अ कार उड़ जाता है और क कार दुगुना हो जाता है, यानी धिक्कार उसे मिल जाता है।

□ आज की शिक्षा-दीक्षा और संस्कार ही इस प्रकार के हो रहे हैं कि सब लोग प्राय. कर्तव्य पूर्ण करने में कतराते हैं।

□ ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म और संघ-धर्म आदि धर्म कर्तव्य-निष्ठा के ही सूचक है।

□ वास्तव में यह लोभ और भय पर आधारित धर्म की हवा अधिक दिनों तक टिकती नही।

□ जहाँ धर्म कर्तव्याधारित हो, वही स्थायी रूप से धर्म का पालन, आचरण और निवास हो सकता है।

□ विवेकपूर्ण कर्तव्य की प्रेरणा वहुत कम कार्यो में रहती है और ऐसी प्रेरणा जिन कार्यो के पीछे होती है, वे कार्य कर्तव्य की कोटि में गिने जाते है।

□ प्रत्येक मनुष्य को प्राण कण्ठ तक आ जाने पर भी कर्तव्य ही कर्तव्य करना चाहिए, अकर्तव्य नही, अर्थ-प्रेरित, भय-प्रेरित या स्वार्थ-प्रेरित कार्य नही।

□ जो कर्तव्य-पालन से विमुख होकर जीता है, उसे जीने का भी अधिकार नही है।

□ कर्तव्य की ज्वाला अन्तर्मानस में सतत् प्रज्वलित रहे तो मनुष्य मानव से देव कोटि तक पहुँच सकता है।

☐ वही राष्ट्र श्रेष्ठ है जिसमें राजा, प्रजा, पिता, पुत्र, माता, पुत्री, गुरु और शिष्य अपना-अपना कर्तव्य एक साथ पूरा करते है।

☐ आपकी कर्तव्यनिष्ठा ही आपको अनेक संकटों से पार कर देगी।

☐ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः—अपने-अपने कर्तव्यकर्म में अभिरत मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता ही है।

☐ कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहितः—यदि मेरा कर्त्तव्य मेरे दाहिने हाथ में है तो जय और सफलता अवश्य मेरे बाये हाथ में होगी।

१६ समय का मूल्य

☐ समय की उपेक्षा मानव-जीवन के विकास की उपेक्षा है।

☐ जो व्यक्ति समय-धन का सदुपयोग करते हैं, वे एक दिन संसार के पूजनीय वन जाते हैं और उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

☐ समय का हर क्षण स्वर्ण के कणों की तरह कीमती है।

☐ प्रमाद-रूपी चोर मनुष्य के समय का अपहरण करने में लगा हुआ है, उससे सावधान नहीं रहे तो हार है।

☐ समय की इतनी पावन्दी के कारण ही पाश्चात्य लोग आज विद्या, वुद्धि, धन और स्वास्थ्य-सब में भारतवासियों से आगे बढ़े हुए है।

☐ 'काले काल समायरे' प्रत्येक कार्य या साधना उसके समय पर ही करो।

☐ वास्तव में किसी भी कार्य को कल पर छोड़ना ही, आज के महत्व को घटाना है।

☐ 'कल करूँगा, कल किया जायगा;' इस प्रकार 'कल' की उपासना मत करो; 'आज' के ही उपासक वनो। मनुष्य के कल की वात कौन जानता है ?

☐ अप्रिय कार्यो को टालते रहने से आपकी आत्म-शक्ति क्षीण हो जाती है।

☐ जो समय की कद्र नही करता वह संयम की क्या कद्र करेगा ?

☐ अवसर को, शुभ समय को नही खोने वाले संसार के इतिहास में

चमके है। जिन्होंने शुभ अवसर को खो दिया, अवसर ने उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

१७. समय : जीवन का अमूल्य धन

□ भारतीय धर्म और दर्शन में समय को जीवन का अमूल्य धन कहा है।

□ महत्वपूर्ण कार्यों को ठीक समय पर न करना और अमहत्वपूर्ण कार्यों में समय को बर्बाद करना भी जीवन-रस को सुखाने में एक कारण बना हुआ है।

□ मनुष्य अपने आप में न बलवान है, न दुर्बल। समय या काल ही मनुष्य को महान या क्षुद्र बनाता है।

□ मनुष्य अपना निर्माता—त्राता स्वय ही है।

□ मनुष्य का उत्थानकाल ही सत्युग है और पतनकाल ही कलियुग है।

□ अन्तर्जीवन का युग ही असली युग है।

□ समय का यदि आपने सही मूल्यांकन किया तो जीवन चमक उठेगा।

१८. मन की साधना

□ मन को मुट्ठी में कर लिया तो सारे ससार को मुट्ठी में किया जा सकता है।

□ जीवन के रणक्षेत्र में मन ही सबसे बडा योद्धा है, सेनापति है, बाकी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उसकी आज्ञा में चलने वाली सेना है।

मन-रूपी सेनापति हार गया तो सारी सेना की हार है।

□ सारा संसार आज मन के खेल पर निर्भर है।

□ संसार के अच्छे-बुरे सुन्दर-असुन्दर कार्यों, गतिविधियो और क्रियाकलापों का निर्माता मन ही है।

□ मन चाहे तो संसार में स्वर्ग भी उतार सकता है और वह चाहे तो नरक का दृश्य भी उपस्थित कर सकता है।

मन ही सारे संसार का भाग्यविधाता है।

☐ सारे संसार के उत्थान और पतन की कहानी मन की कहानी है।

☐ आत्मा-रूपी राजा का मन मंत्री है, सारा संचालन उसी के हाथों में है।

☐ मन मंत्री के झाँसे में आकर आत्मा राजा भी चौपट हो जाता है। मन मंत्री के इशारे पर ही इंद्रियाँ सेविका बनकर चलती है।

☐ दिव्य-दृष्टि से ही मन का साक्षात्कार किया जा सकता है।

☐ विचारों की उधेड़बुन करते रहना मन का स्वभाव है।

☐ मनन करने की वजह से ही मन कहा गया है।

१९ मनोनिग्रह की कला

☐ विचार बिजली से भी अधिक वेगवान हैं।

☐ मनुष्य अन्य सभी बातों में—युद्धों में, धनार्जन में, विद्या में, पहलवानी में समर्थ है, परंतु मन-मातंग को वश में करने में सभी नामर्द हैं।

☐ मन को वश में करना जितना कठिन है, उतना ही सरल है।

☐ बाहर का अच्छा प्रदर्शन, बाह्य शान-शौकत, बाहर की प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा—मन की अच्छाई का प्रतिबिम्ब नहीं है।

☐ सच्चा साधक वही है, जिसका अन्तरंग और बहिरंग दोनों समान भूमिका पर चलते हैं।

☐ स्थान बदलने से मन नहीं बदलता है।

☐ मन को कहीं वस्तुओं में या स्थानों में लगाने की जो लोग सोचा करते है, वे मन की रुचि को विकृत बना डालते हैं, मन के स्वभाव को बिगाड डालते हैं।

☐ संकल्प-विकल्प करना, मनन करना तो मन का स्वभाव है।

☐ खाली बैठा हुआ मन उत्पात मचाता है।

☐ आत्मा मन की वृत्तियों का अध्यक्ष है, जीवन की हलचलों का सुपरवाइजर है।

☐ मन को तो साधना चाहिए, तभी वह ठीक ढंग से गति करेगा, अच्छे कार्यों की नींव डालेगा।

□ मन की साधना के लिए सर्वप्रथम आपको उसकी शक्ति को केन्द्रित करने का अभ्यास करना होगा।

□ जब मन अपनी शुद्ध आत्मा या परमात्मा में लीन हो जाता है तो उसकी वृत्तियाँ बिखरती नहीं।

□ जहाँ मन की स्थिरता नहीं होती, शक्तियाँ बिखर जाती हैं, वहाँ चंचलता के कारण किसी भी काम में कामयाबी नही होती।

□ मन एक नटखट बालक की तरह है, उसे अच्छे काम में केन्द्रित नही किया तो वह अनेक बुरे कार्यों में दौड़ लगायेगा।

□ एक ही दिन में मन की विकेन्द्रित शक्ति को आप बुरे विचारों से हटाकर सद्विचारों की ओर नही लगा सकेगे। उसके लिए दीर्घकाल की साधना अपेक्षित है।

□ उच्च साधक के लिए मन की शक्ति को वैराग्य की दिशा में लगाना और उसका भी सतत अभ्यास करना यही मनोनिग्रह का श्रेष्ठ उपाय है।

□ शरीर के साथ मन को भी माँजना है, परिष्कृत करना है, शुद्ध करना है ताकि वह सुन्दर विचारों द्वारा जीवन-उद्यान को हरा-भरा कर सके।

□ शरीर के स्वास्थ्य से आत्मा का मूल्यांकन नही किया जा सकता।

□ जिसने मन को साध लिया, उसने सब कुछ साध लिया।

□ मन को साधने के लिए अभ्यास और वैराग्य द्वारा आसक्ति पर प्रहार कीजिए।

□ मन को शुभ विचारो मे रमाने के लिए उसे एकाग्र कीजिए, अपनी चित्त-वृत्तियों को स्थिर कीजिए।

□ मन को बुरे विचारो से हटाकर अपने जीवन के उद्देश्य मे, ध्येय मे जोड़ देना ही योग है, चित्तवृत्ति-निरोध है।

□ मन के वश मे होने की निशानी ही यही है कि वह वासना के झोंके से बुझे नही, सतत् प्रकाशमान रहे।

२० मृत्यु : एक कला

□ जन्म और मृत्यु अवश्यम्भावी होने पर भी साधारण मनुष्य जन्म के

समय जितनी मिठास का अनुभव करता है, मृत्यु के समय उतनी ही कटुता का।

☐ सबको अमरता प्रिय है, मृत्यु के मुख में कोई नहीं जाना चाहता।

☐ मृत्यु जब आती है तब मंत्रबल, यंत्रबल, तंत्रबल, जनबल, धनबल और अस्त्रबल सभी बेकार हो जाते है, किसी का उसके सामने बस नहीं चलता।

☐ मृत्यु का भय भी मनुष्य को चौका देने वाला बन जाता है।

☐ मृत्यु इस जीवन का अन्त है और दूसरे जीवन का प्रारम्भ है।

☐ मृत्यु का मतलब आत्मा का नष्ट हो जाना नहीं है, और न शरीर का भी आत्यन्तिक अभाव ही है।

☐ मृत्यु तो एक महानिद्रा है।

☐ मृत्यु का यथार्थ कारण मानव-जीवन का परम विकास ही तो है।

☐ वर्तमान शरीर को छोड़कर जीव का दूसरे शरीर में प्रयाण कर जाना ही मृत्यु कहलाता है।

☐ मृत्यु सारी जिन्दगी का निचोड़ है, जीवनभर की तैयारी की परीक्षा है।

☐ मृत्यु तो प्रत्येक मनुष्य की जीवनभर की साधना का माप-दण्ड है।

☐ मृत्यु की कला हस्तगत करने के लिए जीवन की कला हस्तगत करनी पड़ती है।

☐ मृत्यु से मनुष्य को सुन्दर प्रेरणा लेनी चाहिए।

☐ जीवन-यात्री को भी मृत्यु के आने से पहले हो अपना धम और पुण्य का सामान बांध रखना चाहिए।

☐ मृत्यु को देखकर घबराने और पछताने का कारण ही यही है कि मनुष्य अपनी साधना में सतत् जुटा नहीं रहता है, सावधान नही रहता है।

☐ जो व्यक्ति मृत्यु को अपने सिर पर नंगी तलवार की तरह लटकता हुआ देखता है, वह जीवन में निष्पाप रहकर मृत्यु कला सीख सकता है।

☐ मौत का शर सदैव सामने खड़ा है, ऐसा सोचकर मनुष्य सतर्क रहे तो उसे पाप-कर्म सूझेगा ही क्यों ?

□ मृत्यु की कला सीखने के लिए जीवन में पहले से ही साधना होनी चाहिए।

□ जीवितकाल ही कार्यकाल है, मृत्युकाल तो विश्रान्तिकाल है।

२१ भारतीय संस्कृति में मृत्यु का रहस्य

□ मृत्यु जीवन-वृक्ष का फल है, महायात्रा है, महानिद्रा है, जो नई ताजगी और नया उत्साह प्रदान करती है।

□ यदि मृत्यु नही होती तो संसार कुरूप हो जाता।

□ मानव देह मानो एक मटका है।

□ मृत्यु भी जीवन के व्यापार की जाँच करने की संध्या है।

□ मृत्यु उसी की श्रेष्ठ है जो धीरतापूर्वक या शीलाराधना करते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है।

□ कायर की तरह रोते, बिलखते हुए मरने की अपेक्षा संयमशील होकर धैर्यपूर्वक हँसते-हँसते मरना अच्छा है।

□ बाल-मरण मृत्युकला से अनभिज्ञ व्यक्ति का मरण है।

□ कोई उत्कृष्ट समाधिमरण से मरे तो सदा के लिए जन्म-मरण की बेड़ियां तोड़ सकता है।

□ कर्तव्य के लिए जिन्दा रहना और कर्तव्य के लिए मरना है।

□ तलवार चलाने वाले तलवार के ही शिकार होते हैं।

□ जिसका अहिंसा मे पूरा विश्वास है, उसे अपनी रक्षा के लिए किसी की जरूरत नही है।

□ जो मृत्युंजयी वीर मृत्यु को हँसते-हँसते स्वीकार कर लेते है, उनके जीवन मे पूर्व साधना रहती है।

प्रभो, मृत्यु से मुझे अमरता की ओर ले चल।

२२. अपरिग्रहवृत्ति का आनन्द

भारतीय संस्कृति सादगी, कष्टसहिष्णुता, त्याग और कम से कम संग्रह से आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिकाधिक जोर देती रही है।

☐ भारत की सदियों की गुलामी का और उच्च संस्कारहीनता का कारण अपरिग्रह और त्याग की वृत्ति का कम होना ही ज्ञात होता है।

☐ वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण सुख-साधनों का ढेर लग जाने पर भी मनुष्य में त्यागवृत्ति, अपरिग्रहवृत्ति या संतोष न होने के कारण आपसी सघर्ष भी कम नही बढ़े है।

☐ अपरिग्रहवृत्ति का मन्त्र अपनाने से व्यक्ति का जीवन भी आनन्दमय होगा और समाज के जीवन में भी आनन्द की लहरे उठेगी।

☐ अपरिग्रहवृत्ति समाज और व्यक्ति, राष्ट्र और जाति, नगर और गाँव, प्रान्त और प्रदेश सभी के लिए आनन्ददायिनी है।

☐ अपरिग्रहवृत्ति सारे ससार में छाई हुई विषमता, अनैतिकता और संग्रह-लालसा के अन्धकार को दूर करने के लिए प्रकाश का काम करती है।

☐ अपरिग्रहवृत्ति निर्भयता, निःशंकता का प्रवेश-द्वार है।

☐ अपरिग्रहवृत्ति आज के युग में वर्ग-संघर्ष, वर्गभेद, जातिभेद, सम्प्रदाय-भेद आदि सभी भेदों की जड हिलाने के लिए अनिवार्य है।

☐ अपरिग्रहवृत्ति में जो सुख है, जो आनन्द है, जो आध्यात्मिक आल्हाद है, वह स्वर्गीय देवों को भी नसीव नही, बड़े-बड़े चक्रवर्तियों और धनकुबेरों का भी मयस्सर नहीं।

☐ परिग्रहवृत्ति जीवन के लिए एक अभिशाप है।

☐ हजारों वर्षों से भारत में अपरिग्रहवृत्ति का आदर्श चलता रहा।

☐ परिग्रहवृत्ति के चक्कर में पड़कर मनुष्य अपने पैरों पर स्वयं ही कुल्हाड़ी मार रहा है।

☐ जहाँ परिग्रह है, वहाँ मनुष्य भयाक्रान्त रहता है।

☐ परिग्रह स्वयं महाभयरूप है।

☐ सच्चा सुख वही होता है जो स्वाधीन सुख है।

☐ जो अपने वश की चीज है, वहीं सुख है।

☐ सुख माँगने से नही मिलता है, वह तो हमें स्वय पैदा करना पड़ता है। इसका निवास स्थान अंतर् में है।

☐ अगर अन्तर् में अपरिग्रहवृत्ति आ जाय, निर्लोभता आ जाय, निःस्पृहता, निर्ममत्व और निर्द्वन्द्वता आ जाय तो सुख का खजाना खुल सकता है।

☐ अपरिग्रहवृत्ति ही सुख का मूल मन्त्र है।

२३. परिग्रह क्या है ?

☐ परिग्रह का सीधा सम्बन्ध किसी पदार्थ से न होकर आत्मा से है।

☐ जिसकी मूर्च्छा, ममता, गृद्धि या आसक्ति जितनी ही तीव्र होगी, वह उतना ही अधिक सग्रह करने की मन मे लालसा रखेगा, विचार दौड़ायेगा।

☐ अपरिग्रहवृत्ति में भावना को पहला स्थान है, पदार्थ को दूसरा।

☐ त्यागी वह है, निष्परिग्रही वह है जो मनोहर वस्तुएँ उसके अधीन होने पर भी स्वेच्छा से उन्हे ठुकरा देता है, त्याग देता है।

☐ परिग्रहवृत्ति इतनी भयकर है कि वह मनुष्य में मनुष्यता नही रहने देती।

☐ परिग्रहवृत्ति कस्तूरिका मृग की तरह नाच नचाती है।

☐ क्या सामग्रीवृद्धि, संग्रहवृद्धि और तृष्णावृद्धि से संघर्ष, युद्ध या विषमता का उफान बन्द हो सकता है ?

☐ सिक्का वास्तव में समाज की कल्पित वस्तु है।

☐ अर्थलोलुप मानव दानवता का चोला पहने आज बुराइयो का नगा नृत्य कर रहा है।

☐ परिग्रहवृत्ति आज सब बुराइयों की जननी बनी हुई है।

☐ जो इच्छाओ का दास नही बनता, उसके पीछे सारे ससार का धन दौड़ता है।

☐ आशा के पाश से मुक्त मनुष्य जगत् का बन्धु हो जाता है, उसके वश मे सारा जगत् हो जाता है।

☐ अपरिग्रह के द्वारा जो शान्ति स्थापित हो सकती है, वह तलवार तथा अणुबम से कदापि संभव नहीं।

☐ हमारे पास जितना कम परिग्रह होगा उतने ही हम महान बनेंगे।

२४. साधना का सौन्दर्य : अपरिग्रह

☐ पदार्थ ससीम है और तृष्णा असीम है।

☐ पेट भर सकता है, पर मन कदापि नही।

☐ इच्छाओं के निरुन्धन में ही सच्ची शान्ति है।

☐ परिग्रह के कारण आज सर्वत्र विषमता के सन्दर्शन हो रहे है।

☐ जैनदर्शन ने परिग्रह को पाप माना है और उसे नरक का कारण माना है।

☐ अल्पारंभ और अल्प-परिग्रह मानव-जन्म प्राप्त करने के कारण है।

☐ माया और छाया एक सदृश है।

☐ जो स्वेच्छा से अपनी स्वतःस्फूर्त अन्तःप्रेरणा से वैभव होते हुए भी ठुकराकर चल देता है, सादगी से कम से कम आवश्यकताओं से अपना जीवन गुजारता है, उसके पीछे माया अवश्य चक्कर काटती है।

☐ दरिद्र वह है जिसकी तृष्णा महाकाय है, विशाल है।

☐ राष्ट्र की शान-शौकत वैभव के प्रदर्शन में, चमचमाती कारों में घूमने में, हवाई जहाजों में उड़ने में, लम्बे-चौड़े भव्य प्रदर्शनों में नहीं है, अपितु सादगी और अपरिग्रहवृत्ति में है।

☐ असत्य मान्यताएँ, निष्क्रिय विचार जो जीवन के लिए घातक हैं, वे भी एक दृष्टि से परिग्रह ही हैं।

☐ अपरिग्रह साधना का सच्चा सौदर्य है।

२५. जीवन की लालिमा

☐ भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान संस्कृति है। त्याग ही उसका प्राण है, आत्मा है।

☐ सस्कारो को जागृत करने का अर्थ है ब्रह्मचर्य में रमण करना, परमात्मभाव की ज्योति जगाना।

☐ जिस तरह ग्रह, नक्षत्र और ताराओं में चन्द्रमा प्रधान है, उसी तरह विनय, शील, तप, नियम आदि सद्गुणों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

☐ ब्रह्मचर्यरूप तप से मानवों ने मृत्यु पर विजय पायी है।

□ ब्रह्मचर्य जीवन की धुन है और विकार जीवन का घुन है।

□ आकृति की विकृति से मोक्ष प्राप्त करने में बाधा उपस्थित नही होती।

□ जिनका शरीर निर्बल है, जो असमर्थ है, उन्हे आत्मा के दर्शन नही हो सकते।

□ ब्रह्मचर्य जीवन-वृक्ष का पुष्प है और प्रतिभा, पवित्रता, वीरता आदि अनेक उसके मनोहर फल है।

□ ब्रह्मचर्य अमृत है।

□ जीवन का उद्देश्य है—विकार और वासनाओं पर विजय-वैजयन्ती फहराना, त्याग-वैराग्य की निर्मल ज्योति जगाना, यम-नियम की सरस-सरिता में अवगाहन करना।

□ संसार की समस्त शक्तियां ब्रह्मचारी के चरणो में लोटती है। उसका अभिनन्दन करती है।

□ चलचित्रों की प्रतिपल, प्रतिक्षण होने वाली उन्नति से जनता अपने शिष्टाचार व लज्जा को खोती जा रही है।

□ भोग की आग मे जवानी की आहुति देने के लिए यह जीवन नही है।

□ इन्सान अपने आप ही जिन्दा रहता है और अपने आप ही मरता है।

□ मन मे पवित्रता नही है, विचारो मे विराट्ता नही है, इन्द्रियो पर सयम नही है तो सुख और शान्ति के दर्शन आकाशकुसुमवत् है।

□ ब्रह्मचर्य ही जीवन की असली लालिमा है।

□ यदि जीवन को सत्त्वमय बनाना है सशक्त बनाना है, जीवन की लालिमा को चमकाना है तो ब्रह्मचर्य की उपासना कीजिए।

२६. कर्तव्य-निष्ठा

□ अगर धर्मनायक, समाज के मुखिया और राष्ट्रो के नेता अपने कर्तव्यो का ठीक ढग से पालन न करे तो संसार मे प्रलय मच जाय।

□ कमल कीचड भरे पानी मे पैदा होने पर भी उस पानी का गौरव अपने सौरभ और सुषमा से बढाता ही है। दुनिया को निर्लिप्त रहने की ओर कर्तव्य-पालन की प्रेरणा देता ही है।

☐ बालक का लालन-पालन, बालक की शिक्षा-दीक्षा, माता के कर्तव्य-पुनीत हाथों से ही होते है।

☐ रामायण कर्तव्य का बोलता हुआ चलचित्र है।

☐ सरस्वती का वरदहस्त उसी परिवार पर रहता है, जहाँ कर्तव्य की सीमाओं का उल्लंघन न होता हो।

☐ लक्ष्मी का उसी कुटुम्ब में पदार्पण होता है, जहाँ कर्तव्य-पालन की झंकार प्रत्येक सदस्य के हृदय में भर गयी हो।

☐ प्रत्येक घर कर्तव्य की प्राथमिक पाठशाला है।

☐ कर्तव्य जीवनरूपी मानसरोवर का हंस है, उसका निवास मानव-जीवन के पवित्र मान-सरोवर में ही होता है।

☐ कर्तव्य मानव-जीवन का अमृत है।

☐ जन से सज्जन और सज्जन से महाजन बनाने वाला कर्तव्य ही है।

☐ मानव-जीवन के साथ कर्तव्यनिष्ठा का सम्बन्ध भी माता का सा पवित्र है, अटूट है, अखण्ड है।

☐ कर्तव्य की यही परिभाषा ठीक जँचती है कि अन्तरात्मा की वह यथार्थ आवाज, जो चंचल व मोहयुक्त बुद्धि द्वारा ठगी हुई न हो, वही कर्तव्य है।

☐ अन्तरात्मा की सहज आवाज कभी गलत नहीं होती।

☐ कर्तव्य वह है, जहाँ दूसरों के साथ हम वैसा ही व्यवहार करे, जैसा हम अपने साथ चाहते है।

☐ आत्मा की कसौटी से बढ़कर कर्तव्य की दूसरी कोई कसौटी नहीं है।

☐ जिसने अपने कर्तव्य का परित्याग किया है, उसके नाम से जनता युग-युग तक घृणा करती है।

☐ कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति का हृदय वज्र से भी अधिक कठोर और फूल से भी अधिक कोमल होता है।

☐ चमचमाती हुई तलवार की धार पर चलना सरल है, सहज है, सुगम है किन्तु कर्तव्य के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग पर चलना उससे कहीं अधिक कठिन है, दुष्कर है।

□ वही श्रेष्ठ राष्ट्र है जिसमें राजा अपना, प्रजा अपना, पिता और पुत्र अपना, माता और पुत्री अपना तथा गुरु और शिष्य अपना कर्तव्य निष्ठा के साथ पूरा करते है।

२७. जीवन-महल की नीव

□ भारतीय संस्कृति ने जीवन महल के निर्माण और स्थायित्व के बारे मे एक विशिष्ट गुण को मुख्यता दी है, उसे जीवन-निर्माण की नीव बताया गया है। वह गुण है—विनय।

□ जब बुद्धि को नम्रता के साथ मिला दिया जाता है, तब वह दुगुने प्रकाश से चमक उठती है।

□ नम्रता सभी सद्‌गुणों की माता, पोषक, मूल और नीव है।

□ जिस व्यक्ति का हृदयरूपी कमरा विनय के मंगलमय प्रकाश से जगमगा रहा है, वहाँ दुर्गुण रूपी चोर घुस नही सकते।

□ अभिमानी व्यक्ति एक फूटे घड़े के समान है, जो हमेशा खाली ही रहता है।

□ विनय एक सामान्य साधक को भगवत्पद तक ले जा सकता है।

□ विनय सच्चा प्रकाश है, सच्चा विकास है, असीम माधुर्य है, गुणो का पुंज है।

□ जहाँ विनय होता है, वहाँ सच्चा विवेक होता है और जहाँ खुशामदी, दीनता, गुलामी या चापलूसी होती है, वहाँ मोह, असत्य, भय और तृष्णा का जाल ही ज्यादा होता है।

□ विचार, वचन और चिन्तन मे अनुरूपता लाना ही, उन्हे उनके साथ जोड देना ही मस्तक झुकाने का अर्थ है।

□ जहाँ वन्द्य और वन्दक के विचारो मे एकता है, भावना मे अनुरूपता है वही भाव वन्दन है, वही आन्तरिक तप है।

□ ज्ञान दर्शन और चारित्र के प्रति श्रद्धा रखना, उन सद्‌गुणो के प्रति आदर रखना ही सच्चा विनय है, सच्चा तप है।

□ जो विनय के मार्ग पर चलते है, उनका जीवन दीर्घजीवी होकर चमकता है, उनकी विद्या चमकती है उनका यश भूमण्डल में चमकता है, उनका तप और गौरव चमकता है।

☐ विनीत पुरुष को संसार की कोई भी महान् शक्ति क्षति नही पहुँचा सकती।

☐ विनीत व्यक्ति कपास की रूई के समान है, जिसे कोई भी तेज तलवार काट नहीं सकती।

☐ नम्रता वह कवच है जिसे धारण करने पर मनुष्य निर्भय हो जाता है।

☐ कोमल सदा बना रहता है और कठोर परिमित काल तक ही रहता है।

☐ नम्रता, प्रेमपूर्ण व्यवहार और सहनशीलता से मनुष्य तो क्या, देवता भी आपके वश में हो सकते हैं।

☐ विनय से शत्रु भी मित्र बन जाता है।

२८. जीवन का अरुणोदय

☐ जितने भी ऋषि, मुनि, सत, साधु या समाज-निर्माता आये, उन्होंने संस्कार प्रदान करने की बात पर बहुत जोर दिया है और बाल्यकाल से ही जीवन में संस्कारों की नींव डालने का प्रयत्न किया है।

☐ बाल्यकाल जीवन का अरुणोदय है, और तभी से सुसंस्कार की किरणें मानव-जीवन की लालिमा को बढ़ा सकनी हैं, मानव-जीवन को प्रकाशमान कर सकती हैं।

☐ बालक का कोमल हृदय श्वेत कागज के समान होता है।

☐ संतानरूप कार्य में भी माता-पितारूप कारण के गुणावगुण प्रत्यक्ष उतर आते हैं।

☐ गर्भस्थ बालक के कोमल हृदय पर जो संस्कार डाले जाते हैं, वे अमिट होते हैं।

☐ अफसोस यह है कि आज सुसंस्कारों के लिए सर्वत्र सस्ता नुस्खा खोजा जा रहा है।

☐ कोई भी व्यक्ति आज की शिक्षाप्रणाली से सन्तुष्ट नहीं है।

☐ समाज का सारा वातावरण ही अर्थ के कुचक्र पर आधारित हो रहा है। आदमी की इज्जत का पैमाना ही पैसा बन रहा है। ईमानदारी,

सच्चरित्रता, सादगी, संयम आदि गुणों से आदमी की महत्ता का मूल्यांकन नही होता। इसके लिए सारा समाज ही उत्तरदायी है।

☐ धार्मिक क्षेत्र में भी कई कुरूढ़ियाँ ऐसी हैं, जिनका लड़कों पर कोई अच्छा संस्कार नही पड़ता।

☐ सेवा भी एक प्रकार से प्रतिष्ठा कमाने का व्यापार बनती जा रही है।

☐ अखण्ड मानवता के सुसंस्कारों का प्रायः सर्वत्र लोप-सा हो रहा है।

☐ अगर सुसंस्कारों की नीव घरों से ही डाली जानी शुरू हो जाय तो वाद के जीवन को सुसंस्कृत करना कोई कठिन नही है।

☐ अगर आज की माताएँ अपने गहने-कपड़ों की मोह-ममता छोड़कर बालकों के जीवन-निर्माण के लिए कमर कसकर सादगीपूर्वक खड़ी हो जाएँ तो सुसंस्कार देना उनके लिए कोई कठिन बात नही है।

☐ बिना दृढ संकल्प के कोई भी कार्य सफलता के शिखर पर नही पहुँच सकता।

☐ सुसंस्कारों के द्वारा बालक के जीवन का अरुणोदय हो जाने पर उसका जीवन भविष्य में सूर्योदय की तरह प्रकाशमान होगा।

☐ आन्तरिक वृत्तियों के बदले विना जीवन नही वदलेगा और जीवन वदले बिना सुसस्कार नहीं आ सकेगे।

☐ असंस्कृत मानव-जीवन किसी काम का नही होता, उससे जगत् का भी अहित होता है और अपना भी।

☐ सुसंस्कारों के बिना जीवन मे असली झंकार पैदा नही हो सकती, जीवन का वास्तविक प्रकाश नही हो सकता।

☐ जैसे अरुणोदय हुए विना सूर्योदय की कल्पना करना असंभव-सा है, उसी प्रकार सुसस्कारो के द्वारा जीवन का अरुणोदय हुए विना धर्म, संस्कृति, राष्ट्र और सभ्यता का सूर्योदय होना असंभव है।

२९ मन का मनन

☐ शुभ सकल्प ही उत्थान का प्रथम सोपान है और शुद्ध अध्यवसाय ही मोक्ष का कारण है।

ससार की सृष्टि मे मानव के लिए उसका मन एक अजीव पहेली है।

☐ मन अणु है, फिर भी उसमें विराट् शक्ति है, वह सूक्ष्म तत्व है जिसको आँख नही देख सकती।

☐ जिसने मन पर विजय प्राप्त की उसने वस्तुतः संसार पर विजय प्राप्त की।

☐ जो मन के दास हैं, वे संसार के दास हैं. उनके भाग्य में कदम-कदम पर ठोकरें खाना ही लिखा है।

☐ अपने आप का दमन करने वाला इस लोक में और परलोक में सुखी होता है।

☐ विना पख के मन गहरी उड़ानें भरता है।

☐ उन्मार्ग की ओर बढ़ते हुए मनरूपी घोड़े को ज्ञान की लगाम से रोको।

☐ प्रशस्तमन उत्थान का कारण है और अप्रशस्त मन पतन का कारण है।

☐ जिसने एक आत्म-तत्व को पहचान लिया है, उससे सबको पहचान लिया है।

☐ वस्तुतः आत्म-दर्शन ही विश्व-दर्शन है।

☐ सर्वप्रथम तुम आत्महित करो, और हो सके तो दूसरों का भी हित करो।

३०. क्षमा पर्व

☐ दूसरों के द्वारा पहुँचाये हुए कष्टों को चित्तवृत्ति में किंचित् मात्र भी दण्ड की अभिलाषा रखे विना सह लेना क्षमा है।

☐ क्षमा कायरों का नहीं किन्तु वीरों का भूषण है।

☐ जो क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करता, गालियों का उत्तर जो मीठी मुस्कान से देता है, उफान और तूफान में भी जो दृढ़ चट्टान की तरह शान्त भाव से खड़ा रहता है, वही सच्चा वीर है।

☐ जिसका आत्म-वल—मनोवल वढ़ा-चढ़ा होता है, वह किसी अन्य अस्त्र-शस्त्र का सहारा नहीं लेता है।

☐ अपकारी पर उपकार करना, अपराधी को अनुग्रह से वश में करना,

क्षमा से आततायियों का हृदय परिवर्तन करना, यही उत्तम पुरुषों का कार्य है।

☐ क्षमा सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करने वाला वह वशीकरण मन्त्र है जो विरोधियो का भी हृदय वश में कर लेता है।

☐ क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी क्षमा-शस्त्र से पराजित होता है।

☐ अपकार का बदला अपकार से लेना आसुरीवृत्ति है, उपकार का बदला उपकार से देना मानुषीवृत्ति है और अपकार का बदला उपकार से देना यह सच्ची दिव्यता है।

☐ जो शाप दे उसे आशीर्वाद देना यही दिव्यता है।

☐ क्षमा हमारा जीवन है, प्राण है और आत्मा है।

☐ जिसके साथ हमारा मन-मुटाव हो गया है, लडाई-झगड़ा हो गया है, सर्वप्रथम उसी के साथ क्षमा याचना करनी चाहिए।

३१. जीवन : एक नाटक

☐ यह ससार एक नाट्यशाला है, सिनेमाघर है, समस्त प्राणी इसमें आकर अपना पार्ट अदा करके चले जाते है।

☐ मानव-जीवन का नाटक विशेष मनोरंजक होता है, दर्शनीय होता है, दिलचस्प होता है।

☐ हमें इस जीवन रूपी नाटक में द्रष्टा भी बनना है और साथ ही अभिनेता भी बनना है।

☐ सुख और दु:ख, लाभ और अलाभ, जीत और हार इन प्रसगों में सम होकर यानी सन्तुलित होकर जीवनयुद्ध के लिए जुट जाओ। इससे पाप की प्राप्ति नही होगी।

☐ सुख-दु:ख, जय-पराजय, सम्पत्ति-विपत्ति, जन्म-मरण आदि द्वन्द्वो का अन्त तो एक दिन आने ही वाला है, सारे द्वन्द्व नाशवान् है, क्षणभगुर है, इनमे पडकर मनुष्य अपने सुख, कल्याण और हित की कल्पना नही कर सकता।

☐ जो ज्ञाता-द्रष्टा होता है या जीवन-नाटक का पक्का खिलाड़ी होता है, वह कभी विचलित नही होता।

☐ भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी श्रीकृष्ण, प्रेमसिन्धु ईसामसीह उत्कृष्ट कोटि के जीवन-नाटक के अभिनेता थे, पक्के खिलाड़ी थे, सच्चे द्रष्टा थे।

☐ जीवन-नाटक के खिलाड़ी को वाह्य पदार्थों के संयोग और वियोग में हर्ष और शोक में नहीं पड़ना चाहिए।

☐ सम्यक्‌दृष्टि-पुरुष अपना जीवन-व्यवहार करता हुआ भी, अपने जीवन में सभी पदार्थों का यथोचित मर्यादित उपयोग करते हुए एवं सभी संबंधों को उचित प्रकार से निभाते हुए भी, उनमें लिप्त नहीं होता; वह अन्तर् से उन सभी से परे रहता है।

☐ जिस इन्सान को वासना का भूत लग जाता है, उस पर आप्तपुरुषों के उपदेशों के छींटों का कोई असर नहीं होता।

☐ सम्यग् ज्ञाता-द्रष्टा शुभ और अशुभ भावों को छोड़कर शुद्धभाव की उपासना करता है।

☐ आप अपने जीवन-नाटक को सम्यक् प्रकार से खेलिए, इसी में आपके जीवन-नाटक की सफलता है, इसी में जीवन-नाटक की परिपूर्णता है।

३२ ईमानदारी की लौ

☐ सभी शास्त्रों में मनुष्य के चारित्रिक जीवन की बुनियाद को ईमानदारी बताया है।

☐ जीवन का चित्र वनाते समय भी आपने प्रामाणिकता और ईमानदारी—इन दो महत्वपूर्ण वातों को अपने जीवन में अंकित नहीं किया तो सारे जीवन-चित्र का सौन्दर्य फीका पड़ जाएगा।

☐ भारत के बड़े-बड़े सन्तों, ऋषियों-मुनियो, तीर्थंकरों, तत्त्ववेत्ताओं और दार्शनिकों ने सबसे ज्यादा चरित्र-निर्माण पर वल दिया है।

☐ आज वीसवी सदी मे मानव-जीवन में ईमानदारी की लौ जलाने की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

☐ ईमानदारी मानव-जीवन की रक्षक है।

☐ आत्मा गुलामी में पड़ी रहे तो वह आत्म-रक्षा नहीं है।

☐ जिस मनुष्य के जीवन में जितनी शुद्धि है, वह उतना ही सहज निरोगी है।

☐ जहाँ मानव-जीवन में ईमानदारी आयी कि उसकी बहुत सी ऊल-फजूल कल्पनाएँ भाग जाती है, कुदरत भी स्वास्थ्य और सुरक्षा में मदद करने लगती है।

☐ जैसे एक दीपक से अनेक दीपक जलाये जा सकते है, इसी प्रकार ईमानदार मनुष्य-दीपक की ईमानदारी की लौ से अनेक बुझे हुए मानव-दीपक जलाये जा सकते है।

☐ हक की वात समय, श्रम और धन या साधन सभी बातों पर लागू होती है।

☐ अपने पापों को धोने का अनुपम रास्ता ईमानदारी है।

☐ जिसका व्यवहार शुद्ध नही है, व्यवहार में नैतिकता नही है, कोई भी अन्य धार्मिक क्रियाकाण्ड उसकी आत्मरक्षा करने में समर्थ नही है।

३३. धर्म का मूल मंत्र

☐ आज के भारतवासी विचारों से धार्मिक हैं और आचार से अधार्मिक है।

☐ नैतिकता-शून्य धर्म बिना फलों का वृक्ष है और धर्मरहित नैतिकता बिना मूल का वृक्ष है।

☐ ईमानदारी किताबों से नही सिखाई जा सकती, किसी पर दबाव डालकर उसमे वह लाई नही जा सकती। यह तो आत्मा का गुण है।

☐ श्रेष्ठ पुरुष जिन-जिन बातों का आचरण करते है, सर्वसामान्य जनता उन्ही का आचरण करने लगती है।

☐ ईमानदारी अपने-आप ही अपना प्रचार कर देती है, अपनी सुगन्ध फैला देती है।

☐ ईमानदारी को चिरस्थायी बनाने के लिए स्वार्थत्याग का नैतिक वातावरण जीवन के हर क्षेत्र में बनाना होगा।

☐ यथार्थता और ईमानदारी दोनों सगी बहने है।

☐ अगर यहाँ पर आपके जीवन का अमृत रस विनष्ट हो गया है तो आपका सबसे बड़ा विनाश हो गया।

३४. जीवन की झंकार

☐ जीवन में झंकार पैदा करने के लिए विशाल प्रेम की आवश्यकता होती है।

☐ जीवन वीणा में शुद्ध प्रेम की झंकार तभी पैदा होगी, जब मन, वचन और शरीर के तीनों तार तादात्म्य और ताटस्थ्य दोनों से युक्त हों।

☐ जीवन-वीणा बजाते समय कुशल वीणावादक मानव को तादात्म्य और ताटस्थ्य दोनों को संतुलित रखना चाहिए।

☐ प्रेम का मार्ग अग्नि की ज्वाला पर चलने के समान है।

☐ हीरे और काँच में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर मोह और प्रेम में है।

☐ प्रेम आत्मशक्तिवर्द्धक और तारक है, जबकि मोह आत्म-विघातक है।

☐ शुद्ध प्रेम तो आत्मापेक्षी है, उसमें देह की विकृतियों और आकृतियों की अपेक्षा नहीं रहती।

☐ प्रेम तो उत्तरोत्तर वृद्धिशील है, जबकि मोह उत्तरोत्तर ह्रासशील।

☐ प्रेम बदला नहीं चाहता, मोह में बदले की भावना छिपी रहती है।

☐ मोही व्यक्ति केवल अपना सुख चाहता है, जबकि प्रेमी सबके सुख में अपना सुख मानता है।

☐ मोह से घिरे हुए मानव विवेक को भुला बैठते हैं और दुःखों को बुलाते रहते हैं।

☐ जिसका मोह दूर हो गया है, उसका दुख नष्ट हो जाता है।

☐ एकत्व भाव से देखने वालों को मोह कहाँ और शोक कहाँ ?

☐ आप शुद्ध प्रेम को पहचानिए और जीवन में झंकार पैदा कीजिए।

☐ प्रेम के रस का वर्णन किया नहीं जा सकता, वह तो अनुभव ही किया जा सकता है।

☐ मोहावृत हृदय स्वार्थों का घर होता है, उस जीवन में झंकार पैदा नहीं होती।

☐ हर अच्छी चीज की कसौटी होती है, क्योंकि दुनिया में आजकल नक़ली चीजें बहुत चल पड़ी है, जो असली का वेष बनाकर आती है।

☐ जहाँ निःस्वार्थ व अनन्य प्रेम होता है, वहाँ रूखी-सूखी रोटी भी पकवानों की मधुरता को फीकी कर देती है।

☐ इस संसार मे मैने अनेक प्रकार के बन्धन देखे, किन्तु प्रेमरूपी रस्सी का बन्धन निराला ही है। इसी का प्रताप है कि लकड़ी को भेदन करने में चतुर भौंरा कमल के प्रेम में पागल होकर कमल कोष में निष्क्रिय हो जाता है।

३५. प्रेम की प्रभा

☐ प्रेम की अपेक्षा पैसे पर भारत के लोगों का भरोसा अधिक बढ़ता जा रहा है।

☐ क्या शस्त्रास्त्र शक्ति विश्वशांति लाने में कभी सहायक हुई है ? प्रेम की प्रबल शक्ति ही विश्वशांति को कायम कर सकती है।

☐ आज भारत में नैतिकता और मानवता का दिवाला पिट चुका है।

☐ बन्दूक की गोली की अपेक्षा प्रेम की गोली बहुत अधिक असरकारक है।

☐ सम्राट अशोक का हृदय-परिवर्तन डिण्डिमनाद करके कह रहा है कि शस्त्र-बल की अपेक्षा प्रेम-बल बढ़कर है।

☐ दण्ड से, कठोरता से, काषायिक भावों से, शस्त्र प्रयोग से शांति की आशा करना, खून से खून के दाग साफ करने की दुराशा मात्र है।

☐ प्रेम ही विश्वशांति की अमरबेल लगा सकता है, प्रेम ही क्रूर प्रकृति को शान्त-प्रकृति बना सकता है।

☐ कठोरता और शस्त्रवृद्धि या दण्डशक्ति तो स्वयं अंधकार है, उससे प्रकाश क्या खाक होगा ?

☐ दण्ड तो शरीर को बदल सकता है, आत्मा को बदलने की शक्ति उसमें कहाँ है ?

☐ प्रेम में हृदय-परिवर्तन की अद्भुत क्षमता है। प्रेम स्वयं आत्म-विश्वासी है। उसे आदमियत पर भरोसा है।

☐ स्नेह की बूंदे आज शहरों में सूख गई है।

☐ प्रेम में यही तो आकर्षण है कि दूसरे को कुछ भी न देकर मनुष्य उसे अपना बना लेता है।

☐ प्रेम का आसन सर्वत्र स्वार्थ और घृणा ने ले लिया है।

☐ प्रेम की स्थायिता के लिए दोनों ओर से स्वार्थत्याग की जरूरत है।

☐ यह कहना कि तुम एक व्यक्ति को आजीवन प्रेम करते रहोगे, यही कहने के समान है कि एक मोमबत्ती जब तक तुम चाहोगे जलती ही रहेगी।

☐ यदि तुम प्रिय बनना चाहते हो तो प्रेम करो ओर प्रेम के योग्य बनो।

☐ अपने अहं को 'स्व' में केन्द्रित न करके विराट विश्व में फैला दे और सर्वत्र जोडने का काम ही करे, तोड़ने का नही।

☐ जो पहले दूसरों का सुख देखता है, बाद में अपना वही सच्चा प्रेमी हो सकता है।

☐ प्रेम ही स्वर्ग का मार्ग है, मनुष्यत्व का दूसरा नाम है। समस्त प्राणियों से प्रेम करना ही सच्ची मनुष्यता है।

☐ खण्डित प्रेम मुर्दा हो जाता है।

☐ सकुचित प्रेम में अपने ही सुख को प्राधान्य दिया जाता है, जबकि विराट प्रेम में सबको सुखी देखने ही भावना होती है।

☐ आप प्रेम के सार्वभौम रूप को अपनाइए।

३६. परोपकार का पीयूष

☐ सारा चेतन जगत जन्म-मृत्यु के हिण्डोले में झूल रहा है।

☐ जिस मनुष्य ने पूर्वजन्म में किसी भी योनि में दूसरों का कुछ भला किया है, उसे ही इस भव में मानव का शरीर मिला है।

☐ मनुष्य का जीवन परोपकार के आधार पर ही तो टिका है, परोपकार के कारण ही प्राप्त हुआ है।

☐ परोपकार का पीयूष पाकर ही मानव पार्थिव-शरीर को छोड़कर अजर-अमर यशःशरीर को प्राप्त करता है।

☐ मनुष्य का जीवन उस सुगन्धित फूल के समान होना चाहिए, जो स्वयं का बलिदान करके दूसरों को सुगन्ध दे जाता है।

☐ दूसरों के लिए अपने जीवन को लगाना ही परोपकार है।

☐ अगरबत्ती स्वयं जलकर दूसरों को अपनी महक देती है, इसी प्रकार

जो स्वयं मरकर या कष्ट में पड़कर दूसरों को सुखी करता है, वही संसार में अमर रहता है।

☐ बढ़ते हुए पाप को, आसुरी बल को, विशुद्ध पुण्य या परोपकारी वृत्ति के सिवाय कौन भगा सकता है?

☐ जीना उसी का सार्थक है, जो दूसरों के लिए जीये।

☐ मनुष्य एक मुहूर्त भर भी जीए तो शुभ कार्य करते हुए, परोपकार के कार्य करते हुए जीए।

☐ उदार-हृदय साधु पुरुष दूसरों के लिए ही जीते है, दूसरों के लिए अपने प्राणो को भी संकट में डाल देते है।

☐ परोपकार के लिए वृक्ष फल देते है, नदियाँ बहती है, गायें दूध देती है और यह शरीर भी परोपकार के लिए मिला है।

☐ परोपकार एक तरह से अपना ही उपकार है।

☐ दयालु बनने में, परोपकारी बनने में कोई कीमत नही लगती है।

☐ महापुरुषों के रोम-रोम में परोपकार का पीयूष समा गया था।

☐ जो मनुष्य अपने और अपनों के लिए ही सोचता है, उसके जीवन में चमक कैसे आ सकती है?

☐ लोभी, स्वार्थी और अहंजीवी व्यक्ति सुखी या संतुष्ट हो नही सकता।

☐ धन के सिवाय शरीर से, मन से, बुद्धि से, वाणी से और अन्य साधनों से भी परोपकार हो सकता है।

३७ साधना का ध्येय

☐ सुख के अभाव में आत्मा का और आत्मा के अभाव में सुख का अस्तित्व कल्पना से भी अतीत है।

☐ द्रव्य और गुण सदा काल साथ ही रहते है—एक को छोड़कर दूसरा नही रह सकता।

☐ प्राणियों की सतत् प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य सुख नही, ज्ञान है।

☐ ज्ञान प्रकाश देता है, प्रेरणा देता है, किन्तु तृप्ति प्रदान नही कर सकता।

☐ ज्ञान कई बार मनुष्य को व्याकुल बनाकर छोड़ देता है। उस व्याकुलता की निवृत्ति ज्ञेय पदार्थ के यथोचित सेवन से उपलब्ध होने वाली रसानुभूति से ही होती है।

☐ यह असंदिग्ध है कि जीवधारी मात्र की प्रवृत्ति का परम एवं चरम लक्ष्यविन्दु सुख है और वह आत्मा की अपनी वस्तु है।

☐ आनन्द (सुख) आत्मा का स्वरूप है और यह मोक्ष—अनावरण अवस्था में अपने असली स्वाभाविक रूप में प्रकट होता है।

☐ सुख वस्तुतः एक है किन्तु अवस्था-भेद से उसके दो रूप बन जाते है—विकृत सुख और अविकृत सुख।

☐ भौतिक सुख को परमार्थ वेत्ता 'सुखाभास' की सार्थक सज्ञा प्रदान करते है।

☐ भौतिकी सुख क्षणिक है, आध्यात्मिक सुख शाश्वत है।

☐ भौतिक सुख हलाहल के समान हेय है, आध्यात्मिक सुख पीयूष के समान उपादेय है।

☐ पूर्णरूपेण आकुलता का अभाव मोक्ष में ही हो सकता है।

☐ सच्चे सुख की उपलब्धि मुक्ति में ही है।

☐ धर्म मुक्ति का साधन है और मुक्ति परम पुरुषार्थ है।

☐ ज्यों-ज्यों कषाय का कालुष्य और अज्ञान का अन्धकार निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मिकस्वरूप में उज्ज्वलता आती जाती है।

☐ ज्ञान और तदनुसारिणी क्रिया के समन्वय से ही मुक्तिमार्ग की साधना सम्पन्न होती है।

☐ क्रिया के विना ज्ञान निष्फल है।

☐ ज्ञानहीन क्रिया कार्यसाधक नही होती।

☐ समीचीन ज्ञान के आलोक में की जाने वाली समीचीन क्रिया ही साधना को सफल वना सकती है।

☐ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष की परिपूर्ण सामग्री है।

☐ सम्यग्दर्शन मोक्ष-महल का प्रथम सोपान है।

☐ सम्यग्दर्शन ही आध्यात्मिक सुख का मूल स्रोत है।

☐ दृष्टि शुद्ध न होने पर ज्ञान भी बालक के हाथ की तलवार है।

☐ मिथ्याज्ञान बन्धन से मुक्ति नही दिला सकता।

☐ सम्यग्दर्शन रूपी विमल सलिल के अभाव में क्रिया का सोडा-साबुन मुक्तिमार्ग में अनुपयोगी है।

☐ सम्यग्दर्शन वास्तव में एक अलौकिक ज्योति है।

☐ सम्यग्दर्शन के अभाव में धर्म नही टिकता।

☐ जिसका अन्तर्‌तर सम्यग्दर्शन के आलोक से प्रकाशित हो गया है, वह पशु भी मनुष्य के सदृश हो जाता है और जिसकी आत्मा मिथ्यात्व के कारण विवेकविकल है, वह मनुष्य भी पशु के समान है।

३८. साधना का सर्वोच्च वरदान : सम्यग्दर्शन

☐ आत्मा की दृष्टि-शक्ति के सामने सघन राग-द्वेष का चश्मा जब तक चढा रहता है तब तक बाह्य चश्मा न होने पर भी आत्मा शुद्ध स्वरूप में पदार्थों का अवलोकन नही कर सकता।

☐ मनुष्य की जैसी दृष्टि बन जाती है, वैसी ही उसे सारी सृष्टि नजर आने लगती है।

☐ अन्तर्‌तर के संस्कारों द्वारा जनित विभिन्न वृत्तियाँ इस दृष्टिवैचित्र्य का मूल कारण है।

☐ कलुषित वृत्तियाँ दृष्टि को मलिन बनाती है।

☐ सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर आत्मा को पूर्वदृष्ट पदार्थ नूतन स्वरूप मे दृष्टिगोचर होने लगते है।

☐ चक्रवर्ती की असाधारण अतुल और अनुपम विभूति को भी सम्यग्दृष्टि तुच्छ समझता है। उसकी विशुद्ध दृष्टि मे वह 'काक-बीट' है। इस प्रकार की निष्कालिम दृष्टि प्राप्त हो जाना ही सम्यग्दर्शन है।

☐ सम्यग्दृष्टि जीव विवेक को दृष्टि से ओझल नही होने देता।

☐ जीव अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन तत्वो पर श्रद्धान उत्पन्न हो जाना सम्यग्दर्शन है।

☐ यथार्थ श्रद्धा प्रतीति एवं रुचि रूप आत्मपरिणति ही सम्यग्दर्शन है।

३९. आत्मा-बहिरात्मा

☐ बहिरात्मा पर-रूप को ही स्व-रूप मानता है।

☐ बहिरात्मा देह को ही आत्मा समझता है।

☐ भ्रमग्रस्त बहिरात्मा सुख-प्राप्ति के लिए दुःखों के मार्ग को अपनाता है और सुख से वंचित होता जाता है।

☐ सम्यग्दर्शन के अभाव में मुक्ति प्राप्त नही हो सकती।

☐ सघन राग-द्वेष रूप आत्म-परिणाम ही ग्रन्थि है।

☐ अनिवृत्तिकरण ही सम्यक्त्व प्राप्ति का द्वार है।

☐ सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा में विवेक का आलोक आविर्भूत हो जाता है।

☐ परमात्मदशा में आत्मा का पूर्ण विशुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है, निर्मल चिदानन्द उपलब्ध हो जाता है।

४०. सम्यग्दृष्टि : जीवनदृष्टि

☐ सम्यग्दर्शन का उदय होते ही आत्मा में एकदम नवीन आलोक उत्पन्न होता है।

☐ आचार, विचार का क्रियात्मक मूर्तरूप है।

☐ सम्यग्दृष्टि का मन मोक्ष में और तन ससार में होता है।

☐ सम्यग्दृष्टि का भोग भ्रमर के समान है तो मिथ्यादृष्टि का मक्खी के समान।

☐ सम्यग्दृष्टि फूल अथा शूल में, मित्र तथा शत्रु में और इष्ट तथा अनिष्ट में समबुद्धि अनुभव करता है।

☐ तू अपना सुख पीछे देख, प्रथम दूसरे के सुख का विचार कर।

☐ यह शरीर स्वर्ण-कलश के समान है, इसमें विलास की शराब न भरो, अनुकम्पा का अमीरस भरकर इस स्वर्ण कलश की शोभा बढ़ाओ।

☐ अनुकम्पा सम्यक्त्व की कसौटी है।

☐ जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन का आविर्भाव हुआ है, उसमें अनुकम्पा का आविर्भाव अवश्यंभावी है।

☐ जो निश्चित रूप से परलोक-पुनर्जन्म स्वीकार करता है, वह आस्तिक है और जो उसे नही अंगीकार करता, वह नास्तिक है।

☐ सम्यग्दृष्टि आत्मा में आस्तिकता का गहरा भाव होता है।

४१. सम्यक्दर्शन का आलोक

☐ सुमेरुतुल्य दु:ख के अन्तराल मे कदाचित् राई जितना सुख है भी तो वह भी शहद-लपेटी तलवार की धार को चाटने के समान है।

☐ किसके चित्त में शान्ति है? किसके मन में सन्तुष्टि है? कौन निराकुलता का अमृतपान कर रहा है?

☐ समस्त संसार दु:ख से परिपूर्ण है और कही भी सुख की उज्ज्वल किरण नजर नही आती।

☐ जन्म-जरा-मरण की भीति तलवार के समान सभी के गर्दन पर लटक रही है।

☐ जब तक बाह्य पदार्थों में सुख की कल्पना है, इन्द्रियो के विषयभोग सुख के साधन समझे जा रहे है, तब तक सुख की प्राप्ति होना सम्भव भी नही है।

☐ वास्तविक सुख का अक्षय भण्डार आत्मा में ही है।

☐ मानव! सुख की खान आत्मा है, स्वयं तू है।

☐ सुख चाहिए तो ज्ञानियों के ज्ञानालोक में देख।

☐ जब आत्मा स्व-स्वरूप मे निमग्न होता है, तब वह सुख अपूर्व, अद्भुत, अनुपम और अनिर्वचनीय होता है।

☐ सम्यक्त्व के अभाव मे न अन्तर्चक्षु खुलते है और न सुख का रसास्वादन ही किया जा सकता है।

☐ श्रद्धा एव विश्वास के बिना जीवन का विकास नही होता।

☐ जिनोक्त तत्त्वो पर अटल विश्वास होना श्रद्धा है और श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है सम्यक्त्व है।

☐ निर्बल को सदा और साथ ही प्रामाणिक आप्तपुरुष का आसरा लेना ही चाहिए।

☐ जिस श्रद्धा के साथ प्रज्ञा का प्रकाश नही होता, वह अन्धश्रद्धा कहलाती है।

☐ अन्धश्रद्धा का ही परिणाम है कि हमारी और आपकी आत्मा अभी तक जन्म-मरण के अनवरत प्रवाह से बाहर नहीं निकल सकी है।

☐ अन्धश्रद्धा में विवेक का अभाव होता है और जहाँ विवेक नहीं वहाँ धर्म कहाँ ?

☐ श्रद्धा विवेक की सुपुत्री है।

☐ लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के उद्देश्य से साधना करना चिन्तामणि के बदले कोयला खरीदना है।

☐ क्रिया की जायेगी तो उसका फल अवश्यम्भावी है।

☐ मुनि के सद्गुणों पर ही दृष्टि जानी चाहिए, और उन्हीं से प्रेम करना चाहिए, उन्ही की उपासना करनी चाहिए।

☐ अध्यात्म जगत् में पौद्गलिक सौन्दर्य के लिए कोई स्थान नही है।

☐ पल-पल पलटने वाले इस शरीर में सौन्दर्य ही क्या है ?

☐ शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है, उसकी पवित्रता रत्नत्रय से है।

☐ बाह्य शौचाचार से अन्तरतर की शुद्धि नहीं हो सकती।

☐ जल से आत्मा की मलीनता धुल सकती हो तो निरन्तर जल में विचरण करने वाले जलचर जन्तु सीधे स्वर्ग-मोक्ष में क्यों नहीं चले जाते ?

☐ धर्म ही जलाशय है और ब्रह्मचर्य ही शान्तितीर्थ है, आत्मा के विशुद्ध भाव ही पवित्र घाट है, जिसमें स्नान करके मैं कर्म-रज को हटाता हूँ।

☐ अरे मूढ़ ! क्यों भटकता फिरता है बाहर, सब कुछ तो तेरे भीतर भरा है।

☐ आत्मा का मैल ही वास्तविक मैल है। जब वह धुल जाता है तो फिर धोने के लिए कुछ नहीं रह जाता।

☐ मैले वे हैं जो पाप कर्मो से मलीन है।

☐ भद्रपुरुष दूसरे के गुणों को देखता है, उनकी कद्र करता है, प्रशसा करता है।

☐ 'गुणिषु प्रमोदम्' का स्वर जीवन में सतत् झंकृत रहना चाहिए।

☐ सद्गुणों के प्रति उत्कट अनुराग से आत्मा में आध्यात्मिक शक्ति का अभ्युदय होता है।

☐ गुणों के प्रति आदर व्यक्त करने का सही उपाय गुणी पुरुषों का आदर करना है।

☐ सच्चा सम्यग्दृष्टि अपने स्वधर्मी बन्धु के पतन को देखकर निश्चेष्ट नही रह सकता।

☐ नितान्त एकान्त जीवन व्यतीत न कर सकने के कारण, सुख-दुख में सहानुभूति और संवेदना प्राप्त करने के लिए, मानव मानव से प्रेम करता है।

☐ हम पारस्परिक सहयोग और सहकार के बल पर ही जीवनयापन कर सकते है।

☐ वात्सल्य निष्पाप और पावन होता है।

☐ सच्चा जीवन वह है जो दोषशून्य हो जिसमे विकारो की कालिमा न हो।

☐ विचार और आचार के प्रयोग द्वारा सद्धर्म एव सन्मार्ग के प्रभाव का प्रसार करना ही प्रभावना आचार है।

४२ जीवन-दृष्टि की मलिनताएं

☐ व्रतभग की बुद्धि उत्पन्न होना अतिक्रम है और उसके लिए साधन-सामग्री जुटाने का प्रयास करना व्यतिक्रम है।

☐ व्रत की मर्यादा से बाहर की क्रिया अतिचार की कोटि मे आती है।

☐ जब व्रती जान-बूझकर कोई व्रतविरुद्ध आचरण करता है, तब वह आचरण 'अनाचार' की कोटि मे परिगणित होता है।

☐ व्रत एक प्रकार का सयम है और वह निश्रेयस् के लिए इच्छापूर्वक अंगीकार किया जाता है।

☐ संयम बलात् आरोपित नहीं किया जाता और न किया ही जा सकता है।

☐ [illegible] जीवन की महत् [illegible] है। वह संयम से टूटना नहीं आने देती।

☐ [illegible]

☐ [illegible]

☐ [illegible]

☐ श्रद्धा-मूलक शका सम्यक्त्व का अतिचार नहीं है। अश्रद्धामूलक शंका सम्यक्त्व का अतिचार है।

☐ प्रज्ञा से, तर्कबुद्धि से धर्म की परीक्षा करनी चाहिए।

☐ विवेकविकल श्रद्धा अन्धश्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा में चैतन्य नही होता।

☐ जीवन में श्रद्धा और तर्क का समुचित समन्वय हो।

☐ जिस तर्क के पीछे श्रद्धा का वल होता है, वह सम्यक्त्व का आभूषण वनता है।

☐ श्रद्धालुओं की शंकाएँ, विषय को विशद् और स्पष्ट करने के लिए होती है।

☐ सम्यग्दर्शन को मलिन वनाने वाला दूसरा अतिचार 'कांक्षा' है।

☐ साधक तप करे एक मात्र कर्म-निर्जरा के लिए।

☐ ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ वढ़ता जाता है, वल्कि लाभ ही लोभ-वृद्धि का कारण बन सकता है।

☐ विचिकित्सा का अर्थ है – फलप्राप्ति में सन्देह करना।

☐ अच्छी एवं अनुकूल संगति गुणों को उत्पन्न करती है और कुसंगति दोषों को उत्पन्न करती है।

☐ त्याज्य वस्तु के दोषों को भी उसी प्रकार समझना चाहिए, जिस प्रकार ग्राह्य वस्तु के गुणों को समझना आवश्यक है।

४३. साधना का मूलाधार

☐ संसार का प्रत्येक जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से सिद्ध, बुद्ध, परमात्मरूप है।

☐ ससारी आत्मा कर्मावरणों से ग्रस्त है।

☐ मिथ्यात्वग्रस्त जीव दृष्टिविपर्यास के कारण हित को अहित और अहित को हित मानता है।

☐ गुरु आदि के उपदेश के बिना ही उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन 'निसर्गज' कहलाता है।

☐ गुरु आदि के हितोपदेश रूप निमित्त से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन 'अधिगमज' कहलाता है।

☐ सम्यक्त्व को सबल एवं सक्षम बनाने के लिए भावनाओं का होना अनिवार्य है।

☐ धर्मरूपी वृक्ष सम्यग्दर्शन के बिना टिक नही सकता।

☐ सम्यक्त्व, धर्मरूपी नगर का विशाल प्राकार है।

☐ सम्यक्त्व, धर्मरूपी प्रासाद की नीव है।

☐ धर्म की रक्षा के लिए सम्यक्त्व की रक्षा करना आवश्यक है।

☐ सम्यक्त्व, मोक्ष प्राप्ति का अधिकार-पत्र है।

☐ साधना का मूलाधार सम्यग्दर्शन है।

☐ सम्यग्दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति ही यथार्थ द्रष्टा बनता है, उसमे सतत सत्य की लौ जलती है।

४४ अन्तर् का आलोक

☐ जीव यद्यपि अनन्त गुणों की बहुमूल्य समृद्धि से परिपूर्ण है, तथापि उसमें चेतना समृद्धि ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

☐ ज्ञान के आलोक में ही हम अपने एव बाह्य जगत् के अस्तित्व को पहचान पाते है।

☐ ज्ञेय अपने स्वरूप में और ज्ञान अपने स्वरूप में स्थित है।

☐ पदार्थ की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति ज्ञान के ही अधीन हैं।

☐ ज्ञान के अभाव में वस्तु की सत्ता, असत्ता से अधिक मूल्य नही रखती।

☐ आत्मा ज्ञाता है, इतर द्रव्य ज्ञेय है।

☐ आत्मा और ज्ञान में गुण-गुणी सम्बन्ध है। गुणी आत्मा और गुण ज्ञान है।

☐ जगत् में गुण के अभाव मे गुणी का और गुणी के अभाव मे गुण का अस्तित्व नही देखा जाता।

☐ ज्ञान न तो आत्मा से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न है और न जड़ का धर्म या कार्य है।

☐ चेतना के बिना आत्मा की और आत्मा के बिना चेतना की कल्पना ही नही की जा सकती।

ज्ञान आत्मा का सहज स्वभाव है। ज्ञान से ही आत्मा ज्योतिर्मय है।

☐ ज्ञान कल्पवृक्ष से भी बढ़कर अभीष्ट की सिद्धि करने वाला है।

☐ कल्पपादप, कामधेनु, कामकुम्भ, चिन्तामणि इनमें आत्मा को भ्रम के अन्धकार से उबारने की क्षमता नहीं है।

☐ समग्र सृष्टि में कौन-सा लौकिक और लोकोत्तर अभीष्ट है, जो ज्ञान के द्वारा साध्य न हो?

☐ ज्ञान अन्धकार को नष्ट करके चेतनमय प्रकाश की प्रभास्वर रश्मियाँ विकीर्ण करता है।

☐ पुद्गलमय प्रकाश में और ज्ञान-प्रकाश में महान् अन्तर है।

☐ पौद्गलिक प्रकाश परावलम्बी और ससीम होने के साथ-साथ अस्थाई भी है।

☐ ज्ञान-प्रकाश न परावलम्बी है, न कोई उसकी निर्धारित सीमा है।

☐ जीव के समस्त दुःखों का मूल विषमभाव है।

☐ मूढ़ता ही विषमभाव की जननी है।

☐ ज्ञान समभाव को जाग्रत करता है और क्रोधादि कषायों का उन्मूलन कर देता है।

☐ धर्म की आराधना का मूल आधार ज्ञान ही है।

☐ जिसे आत्मा-अनात्मा का विवेक नहीं, आस्रव-संवर की पहचान नहीं, बन्ध-निर्जरा का भान नहीं, उसकी साधना का पथ यदि विपरीत दिशागामी हो तो आश्चर्य ही क्या?

☐ अज्ञ पुरुष कर्मक्षयकारी क्रियाओं को भी कर्मबन्ध का हेतु बना लेता है जबकि ज्ञानी पुरुष कर्मबन्ध के कारणों को कर्मक्षय का कारण बना लता है।

☐ ज्ञान ही निश्रेयस् के पथिक के लिए प्रदीपालोक है।

☐ यद्यपि ज्ञान और सुख पृथक्-पृथक् आत्मधर्म है, तथापि दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है!

☐ अज्ञानवादी के अनुसार अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

☐ जड़-पदार्थों में लेशमात्र भी ज्ञान नही है वे सब प्रकार की दुखानुभूति से बचे हुए है। उन्हें न चिन्ता है, न शोक है, न खेद है, न उद्वेग है।

☐ घटना अपने आप में कोई प्रभाव नही रखती।

□ दुःख और शोक मोहजनित है, ज्ञानजनित नही।

□ ज्ञान दुःख और भय का जनक नहीं। यही नही, वह आनन्द और निर्भयता का अखण्ड स्रोत भी है।

□ ज्ञान के प्रकाश में शोक, दुःख और भय जैसी वृत्तियों के लिए कोई अवकाश नही। ये वृत्तियाँ अज्ञान से ही प्रस्तुत होती हैं।

□ प्रज्ञा (ज्ञान) के प्रासाद पर आरूढ़ होकर ही मनुष्य भय से छुटकारा पा सकता है।

□ भय एक प्रकार का मानसिक रोग है। ज्ञान ही इस रोग की सर्वोत्तम औषधि है।

□ ज्ञान के प्रखर प्रकाश में विचरण करने वाले पुरुषों के पास सांसारिक भीति नही फटक सकती। क्योंकि ज्ञान सुखों की खान है।

□ ज्ञान के प्रदीप का प्रकाश फैलते ही भय का अन्धकार दूर हो जाता है।

□ दुःख, शोक, सन्ताप और भय को जीतने के लिए ज्ञान ही सर्वोत्तम साधन है।

४५. साधना का प्रकाश स्तंभ : सम्यग्ज्ञान

□ जब अपने समस्त पर्यायो के साथ ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, तभी उसमे परिपूर्णता आती है।

□ प्रत्येक आत्मा मे, फिर वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो, अनन्त एवं परिपूर्ण ज्ञान शक्ति विद्यमान रहती है।

□ ज्यो-ज्यों आवरण की सघनता बढती जाती है, ज्ञान-शक्ति का प्रकाश मन्द-मन्दतर होता चला जाता है।

□ जैसे-जैसे आवरण में हल्कापन होता चला जाता है, ज्ञान के विकास मे वृद्धि होती जाती है।

□ आत्मा की ज्ञान-शक्ति को आवृत कर देने वाला आवरण—ज्ञानावरण आत्मा का स्वभाव नही, विभाव है। विभाव है इसीलिए विनाशशील है।

□ ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान में अधूरापन उत्पन्न करता है।

☐ ज्ञानावरण में ज्ञान को मिथ्या, भ्रान्त या विपरीत बना देने की क्षमता नहीं है।

☐ दर्शन-मोहनीय कर्म ज्ञान को मिथ्या रूप में परिणत करता है।

☐ सम्भव है, उच्चतम विद्वत्ता का धनी भी मोह की दृष्टि से निकृष्टतम स्थिति में हो।

☐ सामान्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की बात दूर रही, अतीन्द्रिय अवधिज्ञान भी मिथ्यात्व के कारण मलिन होता है।

☐ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब सम्यग्दर्शन के साथ होते है, तब सम्यग्ज्ञान रूप होते है, और जव मिथ्यादर्शन के साथ होते हैं तो मिथ्याज्ञान बन जाते है।

☐ जिस ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ अपने सही रूप में प्रतिभासित होता है, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

☐ ज्ञेय पदार्थ को अन्यथा रूप में जानने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है।

☐ पदार्थ का सम्यक् निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

☐ पागल का ज्ञान और शब्द प्रयोग वास्तविकता से जनित नही, वरन् मन की तरंग से जनित हैं।

☐ मिथ्यादृष्टि के अन्तर्लोक में कषाय की तीव्रता के कारण सत्-असत् का विवेक नही होता।

☐ सम्यग्ज्ञान आत्मा के अनादिकालीन भवबन्धनों को काट कर आत्मा को बन्धनमुक्त बनाता है।

☐ जो ज्ञान आत्मा को बन्धनमुक्त नही कर सकता, वह ज्ञान नही, अज्ञान ही कहा जा सकता है।

☐ साधारणतया ज्ञान तीखी तलवार के समान है।

☐ जव तक मनुष्य की दृष्टि में निर्मलता नहीं आ जाती, उसमें आत्मोन्मुखता उत्पन्न नहीं हो जाती, तव तक उसके ज्ञान से न उसी का हित हो सकता है और न दूसरों का।

☐ मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यदृच्छा पर अवलम्बित होता है।

☐ सम्यग्दृष्टि अपनी भूल को समझता है तो उसे स्वीकार करने में

तनिक भी नहीं हिचकता, परन्तु मिथ्यादृष्टि अपनी भूल पर पर्दा डालने के लिए सौ नई भूलें करता है।

☐ मिथ्यादृष्टि ज्ञान के वास्तविक फल से वंचित रहता है, इस कारण भी उसका ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

☐ ज्ञान का फल है पापमय व्यापारों से विमुख होना, अश्रेयस्कर कार्यों से निवृत्त होकर श्रेयस्कर कार्यों में प्रवृत्त होने में ही ज्ञान की सफलता है।

☐ जिसकी विद्यमानता में भी अन्धकार विद्यमान रहता हो, उसे आलोक ही नही कहा जा सकता।

☐ ज्ञान आत्मिक आलोक है और राग-द्वेषादि कषाय आत्मिक अन्धकार है।

☐ ज्ञानालोक का उदय होने पर कषायान्धकार ठहर नही सकता।

☐ कार्य, कारण से ही उत्पन्न होता है और कारण, कार्य को उत्पन्न करता ही है।

☐ जो कारण, कार्य का जनक नही, वह वस्तुत कारण ही नहीं है।

☐ सम्यग्दर्शन का सहभावी ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

☐ सम्यग्दर्शन से परिपूत ज्ञान आत्मा में हेय-उपादेय का विवेक जागृत करता है, आत्मा की कलमष-कालिमा को दूर करता है और आत्मा को ज्योतिर्मय बना देता है।

४६. ज्ञान की तरंगे

☐ मूल मे, समस्त जीव एक-सी चेतना के धनी हैं, किन्तु अनेक प्रकार की उपाधियां उसमें विभिन्नता उत्पन्न कर देती है।

☐ चेतना के द्वारा जब सामान्य अंश ग्राह्य होता है तब चेतना 'दर्शन' कहलाती है और जब वही चेतना वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करती है तो उसे 'ज्ञान' कहते है।

☐ समस्त रूपी-अरूपी पदार्थों के सामान्य अंश को विषय बनाने वाली चेतना केवलदर्शन कहलाती है।

☐ केवलज्ञान त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों, गुणों और

पर्यायों को युगपत् विषय करने वाला सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, जिसके होने पर आत्मा सर्वज्ञ पद का अधिकारी हो जाता है।

☐ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्येक संसारी जीव को अवश्य प्राप्त रहते हैं।

☐ आत्मा को होने वाला ज्ञान, यदि इन्द्रिय या मन के द्वारा होता है तो वह परोक्ष कहलाता है और इन्द्रिय-मन से न होकर सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

☐ श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है, श्रुतज्ञान वस्तुतः मति का ही एक विशिष्ट भेद है।

☐ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का स्वामी ही अवधिज्ञान का स्वामी होता है।

☐ जैसे अवधिज्ञान छद्‌मस्थ जीव को होता है, उसी प्रकार मनः पर्यायज्ञान भी छद्‌मस्थ जीव को ही होता है।

☐ अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है वैसे मनःपर्यायज्ञान का विषय भी रूपी ही है।

☐ जैसे मनःपर्यायज्ञान अप्रमत्त संयमी को होता है, उसी प्रकार केवल-ज्ञान भी अप्रमत्त संयमी को ही प्राप्त होता है।

☐ मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

☐ मति, श्रुत, अवधिज्ञान, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, दोनों को प्राप्त हो सकते हैं।

☐ मनःपर्याय और केवलज्ञान को मिथ्यादृष्टि प्राप्त नहीं कर सकता।

☐ प्रारम्भ के चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और केवलज्ञान क्षायिक है।

☐ अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी सिर्फ रूपी वस्तुओं को ही जानने में समर्थ होते है, अतएव देशप्रत्यक्ष है, जबकि केवल-ज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

४७. ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः

☐ आत्मा के समस्त बन्धनों को काटना और आवरणों को दूर करना शुद्ध आत्मोपलब्धि है। यही सिद्धि और मुक्ति है।

☐ कोई भी सिद्धि साधनों की समग्रता के बिना उपलब्ध नहीं की जा सकती।

☐ क्या ज्ञान मुक्ति का अविकल साधन है ?

☐ ज्ञान एक विशिष्ट प्रकार का प्रकाश है। उसकी सहायता से हम अपने जीवन के लक्ष्य को स्थिर कर सकते है, लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों को समझ सकते हैं और लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग में आने वाले विघ्नों को तथा उनके निराकरण के उपायों को जान सकते हैं।

☐ शुद्ध ज्ञान के अभाव में आत्मा चौरासी के चक्कर में पड़ा भटक रहा है।

☐ जब तक आत्मारूपी आकाश में विवेक-सविता का महान् उदय नहीं होता और उसके प्रकाश में जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान नहीं लेता, तब तक वह जन्म-जरा-मरण की व्यथाओं से व्यथित होता हुआ मोह-अन्धकार में भटकता ही रहता है।

☐ साधना के क्षेत्र में सम्यग्ज्ञान का महत्व वचन-अगोचर है।

☐ प्रकाश पथ-प्रदर्शन कर सकता है, मगर चला नहीं सकता।

☐ प्रकाश ज्ञान साधना के सन्मार्ग की ओर इंगित कर सकता है और उस सम्बन्ध की सही-सही जानकारी दे सकता है, मगर गति करना उसका दायित्व नही है।

☐ प्रकाश लक्ष्य तक पहुँचा नहीं सकता। लक्ष्य पर पहुँचने के लिए ज्ञान के प्रकाश में क्रिया करनी होगी, चलना होगा।

☐ जैसे ज्ञान के अभाव में क्रिया अर्थशून्य है, उसी प्रकार क्रिया के अभाव में ज्ञान भी निष्फल है। साधना की सफलता के लिए दोनों का यथोचित्त समन्वय अनिवार्य है।

☐ जब तक ज्ञान के साथ क्रिया का संगम नहीं होता, तब तक मुक्ति के जन्म की कोई सम्भावना नही की जा सकती।

☐ ज्ञाननिरपेक्ष क्रिया और क्रियानिरपेक्ष ज्ञान कार्यसाधक नही होते।

☐ ज्ञानीजन संसार को भीषण अटवी मानते है।

☐ अज्ञानी मोक्ष के लिए क्रिया करता है, परन्तु उसकी क्रिया वन्ध का कारण वन जाती है।

□ त्राण हो सकता है उनका जो अपने जीवन में ज्ञान और सदाचार का, आचार और विचार का, ज्ञान और कृति का समन्वय करके चलते है।

□ ज्ञान और क्रिया का संयोग होने पर ही मोक्ष-फल की प्राप्ति हो सकती है।

□ ज्ञान क्रिया का और क्रिया ज्ञान का पूरक है।

□ मुमुक्षु-जनों को ज्ञान और चारित्र दोनों की आराधना समान भाव से करनी चाहिए। यही मोक्ष का राजमार्ग है और इस प्रकार के समन्वय में ही साधना की सफलता है।

४८ ज्ञान : प्रकाश-किरण

□ वस्तु चाहे अपरिचित हो, या परिचित हो, अथवा अतिपरिचित हो, ज्ञान प्रथम दर्शन, फिर अवग्रह, ईहा और अवाय इसी नियत क्रम से होता है।

□ चार ज्ञान मूक है, जबकि श्रुतज्ञान अमूक (मुखर) है।

□ चार ज्ञानों से वस्तुस्वरूप का प्रतिभास हो सकता है, परन्तु प्रतिपादन नहीं हो सकता, जबकि शब्दात्मक होने से श्रुतज्ञान प्रतिपादक भी है।

□ श्रुत का ज्ञानात्मक रूप भावश्रुत कहलाता है शब्दात्मक रूप द्रव्य-श्रुत कहलाता है।

□ श्रुतज्ञान का पूर्ण रूप से वर्णन होना संभव भी नहीं है।

□ अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है।

□ इस सृष्टि में दृश्य भाग की अपेक्षा अदृश्य भाग बहुत ही अधिक है।

□ अवधिज्ञान प्राप्त होने पर एक ऐसा अद्भुत संसार सामने आ जाता है, जिसे पहले कभी देखा न था और जो साधारण मानव की कल्पना से भी परे है।

□ यों तो ज्ञान में अपना कोई आकार नहीं होता, किन्तु जिस आकार के क्षेत्र में स्थित वस्तुओं को वह जानता है, वही ज्ञान का आकार कहलाता है।

□ मनःपर्यायज्ञान मनुष्यगति के सिवाय अन्य गतिवर्ती जीव को नही होता।

□ संयम-विशुद्धि मनुष्य मे ही संभव है।

☐ ऋजुमति मन:पर्यायज्ञान उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, परन्तु विपुलमति मन:पर्यायज्ञान अप्रतिपाती है – केवलज्ञान होने तक बना ही रहता है।

☐ अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्यायज्ञान में विशुद्धता भी अधिक होती है।

☐ जहाँ अपूर्णता है, वहाँ विविधता अवश्यम्भावी है, किन्तु पूर्णता में विविधता के लिए अवकाश नही होता।

☐ केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है, अतएव उसमें विविधता नही है। स्वरूप से वह एक ही प्रकार का है।

☐ किसी भी वस्तु में परस्पर विरोधी दो स्वभाव नही हो सकते। यदि आत्मा ज्ञानस्वभाव है तो अज्ञानस्वभाव नहीं हो सकता।

☐ ज्ञान स्वभाव है तो अज्ञान विभाव होगा ही।

☐ अज्ञान का पूर्ण रूप से हट जाना और विशुद्ध ज्ञान का उत्पाद हो जाना सर्वज्ञता है।

☐ तर्क की कसौटी पर सर्वज्ञाता खरी उतरती है।

४६. सम्यक्चारित्र

☐ साधना के तीन सोपानों में सम्यक्चारित्र तीसरा और अन्तिम है।

☐ जब जीवन में चारित्र की साधना मूर्तरूप ग्रहण कर लेती है तब आत्मा कृतार्थ हो जाती है, उसे चरम और परम फल प्राप्त हो जाता है।

☐ ज्यों ही चारित्र पूर्ण हुआ कि मुक्ति तत्काल हो जाती है।

☐ सम्यग्दर्शन का फल सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान का फल चारित्र है।

☐ संयम वह प्राचीर है जो नवागत कर्मो के परिस्राव को निरुद्ध कर देता है और तप वह आत्मतेज है जो पुरासंचित कर्म-समूह को उसी प्रकार भस्म कर देता है जैसे घास-फूस को अग्नि।

☐ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के परिपाक से पुष्ट आत्मा सम्यक्चारित्र के लोकोत्तर प्रभाव से अपने ध्येय को प्राप्त करता है।

☐ चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र हो, चाहे व्यावहारिक, चारित्र का मूल्य और महत्व निर्विवाद है।

□ अहंकार से ग्रस्त होकर चारित्र को अंगीकार न करने वाले, नाना शास्त्रों के ज्ञाता भी इस संसार-सागर में डूब चुके हैं।

□ एक जन्म की साधना से तर्थंकरत्व की प्राप्ति नहीं होती।

□ जन्म-जन्म के तपोजनित सुसंस्कारों के परिपाक से उत्पन्न होने वाले तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञानों के धारक होते है।

□ प्रव्रज्या अंगीकार करते ही तीर्थंकरों को चतुर्थ ज्ञान मनःपर्याय भी प्राप्त हो जाता है।

□ चारित्र की उज्ज्वलता और पूर्णता प्राप्त करने के लिए घोरतर तप करना पड़ता है।

□ गृहस्थ हो अथवा त्यागी, दोनों की श्रद्धा एक सी होती है; किन्तु चारित्र के सम्वन्ध में यह बात नहीं है।

□ गृहस्थ और गृहत्यागी के उत्तर-दायित्वों में महान् अन्तर है।

□ धर्म प्राणीमात्र के लिए है। धर्म सार्वकालिक है; वह ऐसा लोकोत्तर रसायन है कि प्रत्येक जीवधारी उसका सेवन करके अमरत्व प्राप्त कर सकता है।

□ धर्म केवल त्यागियों के लिए ही होता तो संसार में उसकी इतनी महिमा न होती।

□ कितने ही गृहस्थ, भिक्षुओं से भी संयमोत्तर-संयम में बढ़े-चढ़े होते हैं।

□ धर्म का सम्बन्ध मुख्यतया भावना के साथ है। भावना की पवित्रता, उच्चता और दिव्यता गृहस्थावस्था में भी असंभव नहीं है।

□ भवन और वन संयम के नियामक नहीं हैं।

□ वस्तुतः अनासक्त पुरुष के लिए गृह भी तपोवन है।

□ साधक को जव उत्कृष्ट आराधना अभीष्ट होती है तो उसे गार्हस्थिक वातावरण से अपना नाता तोड़ना पड़ता है।

□ गृहत्याग से उत्कृष्ट संयम की साधना में सहायता मिलती है, क्योंकि त्याग-अवस्था में सहज हो जो निर्द्वन्द्वता प्राप्त हो सकती है, गृहस्थावस्था में वह दुर्लभ है।

□ पूर्णरूपेण पापों का परित्याग सर्वविरति कहलाता है और आंशिक रूप से पापों का त्याग करना देशविरति कहलाता है।

५०. नीति और धर्म

☐ नीति धर्म की नींव है।

☐ धार्मिकता का प्रधान आधार नैतिकता है। जिस मनुष्य के जीवन में नैतिकता का कोई मूल्य नहीं है, उसमें धार्मिकता का अंकुर पनप नहीं सकता।

☐ धर्म की प्रतिष्ठा से पहले जीवन में नीति की प्रतिष्ठा की जाय।

☐ दुर्व्यसन रूपी बुराइयाँ इतनी भयंकर है कि उनके रहते धार्मिकता तो क्या, भद्रता भी जीवन में नहीं आ सकती।

☐ जुआ ऐसा उन्माद है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य आँख रहते अन्धा और मस्तिष्क की नसे ठीक रहते पागल हो जाता है।

☐ धर्म-साधना के पथ के पथिक को अपना चित्त कोमल और करुणामय बनाना होगा और मांस-भक्षण जैसे राक्षसी कृत्य से बचना होगा।

☐ जो चाहता है कि उसकी इन्सानियत का दिवाला न निकले, उसे मदिरापान से कोसों दूर रहना चाहिए।

☐ वेश्यागमन यह दुर्व्यसन कुल की कीर्ति पर कलंक की कालिमा पोतने वाला है।

☐ शिकार का व्यसन अत्यन्त घृणित व्यसन है और जो पापभीरु है, वे इसे अपना नही सकते।

☐ चोरी की कुटेव भी गृहस्थ-धर्म का विघात करने वाली है।

☐ धर्म का परिपालन करने की पात्रता प्राप्त करने के लिए चोरी के व्यसन से दूर रहना भी आवश्यक है।

☐ परस्त्रीगमन यह कुव्यसन विषयासक्ति का वर्धक, समाज की सुव्यवस्था का विनाशक और अनेक भयंकर अनर्थों तथा पापों का जनक है।

☐ मार्गानुसारी के ये गुण जिन्दगी के हीरे हैं, जो जिन्दगी को चमकाते है, बहुमूल्य बनाते है।

☐ दुर्व्यसन जीवन को नीरस व सत्वहीन बनाते है।

☐ साधक का कर्तव्य है कि वह दुर्व्यसनों का परित्याग कर सद्गुणों को ग्रहण कर जीवन को सुखमय, मंगलमय बनावें।

☐ कुछ लोगों को साधनों की प्रचुरता ही आत्म-विस्मृत बना देती

है। वे बाहर की ओर ही देखते है। अपनी ओर नजर करने की फुर्सत ही उन्हें नहीं होती।

☐ जिसने अपने आपको नही समझा, वह अपने जीवन की कृतार्थता को कैसे समझ सकता है ?

☐ जिसने सम्पूर्ण संकल्प के साथ 'पर' से नाता त्याग दिया, उसे कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा।

☐ जो पदार्थ प्राप्त हैं, और जो प्राप्त नहीं है, किन्तु जिन्हें प्राप्ति की कामना स्पर्श कर सकती है, उन सबका परित्याग ही आत्मोपलब्धि का साधन है।

☐ त्याग का वास्तविक अर्थ है—'ममत्व को हटा लेना।'

☐ सबसे बड़ा त्याग स्वत्व की भावना को हटा लेना ही है।

☐ बाह्य पदार्थों से दूर भागकर त्यागी कहलाने का मनोरथ व्यर्थ है।

५१. धर्म की रीढ : अहिंसा

☐ अहिंसा ही मानव की आकृति में मानवत्व और देवत्व के प्राणों की प्रतिष्ठा करती है।

☐ अहिंसा के अभाव में परिवार, समाज और राष्ट्र का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता।

☐ अहिंसा के प्राण के बिना भी व्यक्ति और समाज जीवित नहीं रह सकता।

☐ धर्म आत्मा में एकरस है। वह आत्मा का स्व-भाव है, अतएव आत्मा की तरह ही अमर है, उसका आदि नहीं, अन्त भी नही। इसीलिए अहिसा भी अमर है। वह प्राणीमात्र में नैसर्गिक है।

☐ वस्तुतः अहिसा सनातन सत्य है और किसी भी काल मे उसके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

☐ वास्तव में अहिंसा का स्वरूप अत्यन्त विराट् है और वह हमारे सहस्रों रोगों की एकमात्र अमोघ औषधि है।

☐ वास्तव में अहिंसा की उपयोगिता अमर्याद और शक्ति अचिन्त्य है।

☐ अहिंसा के अतिरिक्त विश्वशांति का दूसरा कोई उपाय ही नहीं हो सकता।

□ जब तक हम मनुष्योत्तर प्राणियो के प्रति भी दयाशील नही होगे, तब तक हृदय मे क्रूरता, कठोरता और हिसा-भावना बनी रहेगी।

□ एकांगी अहिसा भी अपने उद्देश्य को पूरा नही कर सकती—मानव के मन में से हिसा के संस्कारों का समूल उन्मूलन नही कर सकती।

□ मनुष्य को अहिसा के पथ पर ही चलना चाहिए और जितना सम्भव हो, अग्रसर होते जाना चाहिए।

□ श्रद्धाशील पुरुष को एक न एक दिन मुक्ति मिल जाती है।

□ साधारणतया किसी भी प्राणी को प्राणो से वियुक्त करना हिसा समझा जाता है, परन्तु हिसा की यह व्याख्या परिपूर्ण नही है।

□ प्रमाद-कषाय ही वास्तविक हिंसा है और जैनागम उसे भाव-हिसा कहते है।

□ क्रोध आदि कषायो के योग से किसी भी प्राणी के या अपने निज के प्राणो का व्यपरोपण करना निश्चित रूप से हिसा है।

□ समग्र जैनाचार का आधार अहिसा ही है।

□ सत्य भी धर्म है अस्तेय भी उपादेय है, ब्रह्मचर्य भी आराधनीय है, पर ये सब धर्म अहिसा धर्म की ही शाखाएँ है।

□ अहिसा ही सम्यक्चारित्र और पापाचार का मापक दण्ड है। समस्त कर्तव्यों में अहिसा ही मूर्धन्य कर्तव्य है।

□ रागादि कलुषित भावों का प्रादुर्भाव न होना अहिसा है और कलुषित भावो की उत्पत्ति होना हिसा है।

□ प्रमाद और कषाय से किया जाने वाला प्राणवध हिसा है। इस हिसा से बचने का उपाय प्रमाद और कषाय का परित्याग करना है।

□ अहिसा का पालन करने के लिए आवश्यक है कि साधक अपने अन्त-करण को स्वच्छ, पवित्र और अकलुष बनाए।

□ जो भी जीवधारी इस धरती पर जन्मा है उसे इस पर रहने का और इससे पोषण प्राप्त करने का अधिकार है।

□ जब तक मनुष्य, मनुष्येतर प्राणियो के प्रति न्याय नहीं करेगा, मनुष्य के प्रति भी न्याय नहीं कर सकता।

□ दूसरो द्वारा किये जाने वाले जिस व्यवहार को तुम अपने लिए उचित नही समझते वह व्यवहार दूसरो के प्रति करना भी अनुचित है।

☐ शुद्ध बुद्धि से, न्यायपूर्ण विचार करने पर, स्वतः हिंसा-अहिंसा का भेद समझ में आ जाता है।

☐ आज हिंसा अत्यन्त शक्तिशाली बन गई है, उसका प्रतिकार करने के लिए अहिंसा को भी अत्यन्त सक्षम बनाने की आवश्यकता है।

५२. साधना का मूल स्रोत : सत्य

☐ आत्मा अनादिनिधन तत्त्व है, क्योंकि वह सत् है। सत् की सत्ता सदैव अक्षुण्ण रहती है।

☐ इस लोक में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो सोच-समझकर व्यक्त वाणी का उच्चारण कर सकता है।

☐ जीभ मांस का टुकड़ा मात्र नही है, वह हृदयगत भावनाओं को व्यक्त करने का और दूसरों के मनोगत विचारों को अवगत करने का असाधारण और सर्वोत्तम साधन है।

☐ प्रमाद या कषाय के अधीन होकर जिव्हा का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

☐ मुख्य रूप से जिव्हा के दो कार्य हैं—रस का अनुभव करना और वाणी का उच्चारण करना।

☐ असत्य वचन बोलना जिव्हा का दुरुपयोग है और सत्य वचन का प्रयोग करना सदुपयोग है।

☐ जो वस्तु अथवा घटना जैसी है, उसे वैसी ही न कहकर अन्यथा कहना असत्य है।

☐ यथार्थ होने पर भी जो वचन अप्रशस्त है, किसी के पक्ष में अहितकर है, अनर्थकारी है, जिससे किसी को पीड़ा होती है या हानि पहुँचती है, वह भी असत्य ही है।

☐ जो वचन अहिंसा के पोषक हों या अहिंसा के विरोधी न हों, वे सत्य है और जो इसके प्रतिकूल हों, वे असत्य हैं।

☐ सत्य यह है कि सभी कुछ सत्य में ही प्रतिष्ठित है।

☐ सत्य वह वशीकरण मन्त्र है, जिसके अद्भुत प्रभाव से मनुष्य मात्र ही नहीं, देवता भी वफादार दास की तरह वशीभूत हो जाते है और मनोवांछित कार्य को सम्पन्न करते हैं।

☐ सत्य में समस्त मंगलो का निवास है। सत्य के आधार पर ही सौजन्य का टिकाव होता है।

☐ सत्यवादी के सुयश का सौरभ अनायास ही दिग्दिगंत मे व्याप्त हो जाता है।

☐ वस्तुतः असत्य भाषण पापो का प्रच्छादन है। सत्य में पापों से बचाने की अपूर्व क्षमता है।

☐ जो मनुष्य सत्य को सर्वोपरि मानकर अपने जीवन में स्थान देता है, वही वास्तव में धर्मनिष्ठ होता है।

☐ मनुष्य को सत्य भाषण करना चाहिए, मगर वह सत्य प्रिय भी होना चाहिए, अप्रिय नही।

☐ जो अपने आप में असत्य है, वह प्रिय होने पर भी भाषणीय नही है।

☐ जहाँ सत्यता और प्रियता का समन्वय न हो सकता हो, वहाँ मौन धारण करना ही योग्य है।

☐ दुष्फलों से बचने के लिए असत्य से बचना चाहिए।

☐ असत्य का विपाक कटुक ही होता है।

☐ अन्तिम विजय सत्य की होगी, असत्य की नही।

५३ चोरी के विविध रूप

☐ चोरी का मुख्य कारण है—अन्तर् में छुपा लोभ या असीमित लालसाएँ।

☐ अहिंसा और सत्य व्रतो की रक्षा के लिए अस्तेय व्रत की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि चोरी करने वाला हिंसक और असत्यभाषी भी होता है।

☐ वित्त मनुष्य का बाह्य प्राण है और जो उसका अपहरण करता है, वह मानो उसके प्राणो का घात करता है।

☐ हिंसा और असत्य की जननी चोरी सत्पुरुषो के लिए एकान्तत त्याज्य है।

☐ प्रशस्तबुद्धि पुरुष अदत्त ग्रहण नहीं करता।

☐ धरोहर को हड़पना जीवन के आधार को निर्दयतापूर्वक नष्ट कर देना है। प्राणों का अपहरण करना भी कदाचित् इतना पीड़ाप्रद नही।

☐ चोरी का पाप कभी-कभी प्राणवध रूप हिसा को भी मात कर देता है।

☐ चोरी के फलस्वरूप मनुष्य को दुर्भाग्य का भाजन बनना पड़ता है।

☐ सुख की अनुभूति भीति और व्याकुलता की स्थिति में नहीं हो सकती और चोर के अन्तःकरण में सतत् भीति बनी रहती है।

☐ शासकीय क्षेत्र में चोरी की बीमारी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

☐ मिलावट करना स्पष्ट चोरी है।

☐ चोरी का माल खरीदना भी चोरी है।

☐ पूरी की पूरी परकीय रचना को अपनी रचना के रूप में प्रसिद्ध करना तो चोरी है ही।

☐ प्रत्येक विचारक अपने पूर्ववर्त्ती विचारकों से लाभ उठाता है।

☐ धार्मिक एव नैतिक नियमों का दृढ़ता के साथ अनुसरण करके ही जीवन को साधनामय बनाया जा सकता है।

☐ साधक के लिए अनिवार्य है कि वह सभी प्रकार की चोरी के पाप से बचे।

५४ ब्रह्मचर्य की अपार शक्ति

☐ साधक का जीवन जब तक तपोमय नहीं बनता तब तक आत्म-शुद्धि का संकल्प कितना ही सबल हो, सफल नही हो सकता।

☐ तपस्या की अग्नि में आत्मा का समग्र मैल भस्म हो जाता है और आत्मा अपने सहज स्वभाव में देदीप्यमान सो उठता है।

☐ अतीत में जो भी साधक महान् बने हैं, तपस्या की बदौलत ही।

☐ वस्तुतः इस जगत में कोई ऐसा महत्वपूर्ण संकल्प नही, जो तपस्या से साध्य न हो।

☐ तपस्या प्रबल से प्रबल विघ्नों को चुटकियों में नष्ट कर देती है। देवों-दानवों को भी आज्ञाकारी दास बना लेती है।

□ तपस्या मन और इन्द्रियों की उच्छृंखलता को दूर कर उन्हे नियंत्रित करती है और दुर्वासनाओं की जड़ें उखाड़ फेंकती है।

□ तपस्या का मूलाधार-प्राण ब्रह्मचर्य है।

□ ब्रह्मचर्य विहीन कठिन से कठिन तपश्चर्या भी निर्जीव और निष्फल है।

□ ब्रह्मचर्य सब तपों में उत्तम है।

□ तन की सबलता का अर्थ उसकी स्थूलता या निरंकुशता नही, वरन् सवीर्यता है।

□ वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्य की पहली भूमिका या शर्त है।

□ आज कहाँ दृष्टिगोचर होती है वह तेजस्वता? कहाँ है वह ओजस्विता? गुलाब के फूल से खिले हुए चेहरे आज कितने देखने को मिलते है?

□ जीवन-निर्माण काल मे, अर्थात् कम से कम आयु के प्राथमिक चतुर्थांश में मनुष्य सब प्रकार के विलासमय संपर्कों से पृथक रककर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे।

□ विधिवत् परिणीत पत्नी के अतिरिक्त अन्य समस्त रमणियो के प्रति माता बहन की भावना स्थापित करे। मन पवित्र रहेगा।

□ आसक्ति मे वासना का विष मिश्रित होता है, प्रीति मे निर्मल प्रेम की ही विमल धारा प्रवाहित होती है।

□ आज के 'सिनेमा हाउस' वह अग्निकुंड बने हुए है, जिनमे यमराज की विकराल जिह्वा के समान लपलपाती हुई प्रचण्ड अग्निज्वालाएँ घर-घर मे फैलकर सयम और सदाचार को समूल भस्म कर रही है।

□ जहाँ जाने से ब्रह्मचर्य-साधना मे विघ्न उपस्थित होता हो, वहाँ नही जाना चाहिए।

□ ब्रह्मचर्य परमधर्म, परमशौच, परमतप और परमजप है।

□ ब्रह्मचर्य के सद्भाव से ही सब साधनाएँ सफल होती है।

□ ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य नीरोग, शक्तिमान्, दीर्घजीवी, यशस्वी, ओजस्वी, तेजस्वी, और वर्चस्वी बनता है।

☐ ब्रह्मचारी का यश इतना उज्ज्वल होता है कि अतीत का अन्धकार भी उस पर पर्दा नहीं डाल सकता।

☐ पूर्ण ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप में चर्या अर्थात् रमण करना।

☐ पर-पदार्थों से पराङ्मुख होकर अपने ही स्वरूप में लीन होना पूर्ण ब्रह्मचर्य है और यही मुक्ति का साक्षात् कारण है।

☐ समस्त इन्द्रियों की एवं मन की बहिर्मुख प्रवृत्ति का परित्याग करने से ही ब्रह्मचर्य व्रत में पूर्णता आती है।

☐ ब्रह्मचारी को जिह्वा और चक्षु आदि इन्द्रियों पर संयम रखना आवश्यक है।

☐ ब्रह्मचर्य के साधक को उन्मादजनक, गरिष्ठ, कामवर्द्धक और अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला समस्त लौकिक कल्याणों के साथ परम लोकोत्तर कल्याण का भी भागी होता है।

☐

५५. साधना का सौन्दर्य : अपरिग्रह

☐ पर-पदार्थों में ममत्वबुद्धि स्थापित करना और उन्हें अपना मानकर संग्रह करना, परिग्रह है।

☐ पर-पदार्थों का संचय भी परिग्रह है और सचय न होने पर भी उनके प्रति आसक्ति, ममता, तृष्णा या गृद्धि रखना भी परिग्रह है।

☐ दुःख का मूल परिग्रह में ही है।

☐ जब पुत्र, कलत्र आदि जन भी आत्मा के नहीं है, तब धन, भवन और वसन आदि जड़ पदार्थ आत्मीय हो सकते हैं, यह सम्भावना ही कैसे की जा सकती है ?

☐ जो भद्र पुरुष समस्त पर-पदार्थों को आत्मभिन्न समझ लेता है, वह उनके संयोग में सुख और वियोग में दुःख का अनुभव नहीं करता।

☐ जगत् की कोई घटना या कोई भी वस्तु आत्मा में क्षोभ नहीं उत्पन्न कर सकती।

☐ असंदिग्ध है कि जागतिक पदार्थों में ममत्वबुद्धि स्थापित करना और उनकी कामना करना ही दुःख का उद्गमस्थल है।

☐ हे साधक, अगर तू दुनिया के दु.खों से उद्विग्न हो गया है और उनसे बचना चाहता है, तो एक ही मार्ग है—कामनाओं पर विजय प्राप्त कर ।

☐ अप्राप्त पदार्थों की कामना भी अनर्थों का कारण है ।

☐ भौतिक शरीर के निर्वाह के लिए भौतिक पदार्थों की आवश्यकता है । धर्मशास्त्र जीवन-निर्वाह का निषेध नही करते ।

☐ कामनाओं को पुष्ट करने के बदले नष्ट करना चाहिए । यही अपरिग्रहव्रत का रहस्य है ।

साधक का अममताभाव शनैः-शनैः इस सीमा पर पहुँच जाता है कि शरीर, इन्द्रियों और प्राणों के प्रति भी उसे मोह नही रह जाता ।

जो वस्तु पराई है, उसके आने में हर्ष क्या और जाने से विषाद क्या ? इस प्रकार की निर्द्वन्द्वता प्राप्त हो जाने पर ही परमात्मावस्था प्रकट होती है ।

बहिरात्मा— अज्ञानी [illegible] बाह्य पदार्थों को अपना मानकर उनके अर्जन और संरक्षण में ही [illegible] रहता है ।

परिग्रह के लिए लोग हिंसा, झूठ, चोरी आदि अनेक पापों का आचरण करते हैं । [illegible] परिग्रह सभी पापों का कारण है । ज्ञानियों ने इसे अनर्थ का मूल [illegible] है ।

परिग्रह ने [illegible] और बुद्धि पर भी अधिकार कर लिया है ।

परिग्रह [illegible] है [illegible] अशान्ति, चिन्ता, असंतृप्ति, वेदना, [illegible]

[illegible] वह [illegible] का भाजन बनेगा । [illegible] रहेगी ।

धर्म एवं जीवन

१. मानव-जीवन की विशेषता

□ जो मनुष्य दूसरों को दुःखी देखकर पसीजता नहीं, जिसकी अन्तश्चेतना में पीड़ित को देखकर करुणा का झरना नही फूटता, वह मनुष्य नही, मनुष्य के रूप में पशु है।

□ परहितार्थ शरीर समर्पण करने वाले पुण्यभागी एवं इतिहास प्रसिद्ध भी हुए हैं।

□ आध्यात्मिक विकास की दौड़ में मानव देवों से आगे है।

□ मनुष्य बड़ा सौभाग्यशाली है कि उसे उन्नत हृदय मिला है, विचार करने के लिए।

□ सुख और दुःख दोनों के ताने-बाने से मानव-जीवन बुना हुआ है, इसलिए मनुष्य को दुःखों से बचने और सुखों को बढ़ाने का अवसर भी प्राप्त है। वह चाहे तो उद्देश्य की दिशा में पुरुषार्थ करते हुए आत्मीय-चेतना को बढ़ाते-बढ़ाते उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँच सकता है।

□ सामान्य जीवन से तात्पर्य है—जैसा भी ढर्रा चल रहा है, उसे चलने देना। वह गलत हो तो भी उसमें रद्दोबदल करने की बात न सोचना, न करना।

□ विशेष जीवन का स्वरूप होता है—एक सुनिश्चित व्यवस्था और विधि के साथ उद्देश्यपूर्ण जीवन बिताना।

□ पशु की तरह खाने, पीने, सोने और जीवन के उद्देश्य को ओझल करके जिन्दगी पूरी कर देने मे सुरदुर्लभ मानव-जीवन को खो देना, परले सिरे की मूर्खता है।

□ मनुष्यों में पशुओं मे अगर कोई विशेषता है तो धर्म की ही विशेषता है।

☐ जिन मनुष्यों में धर्म-मर्यादा नहीं है, जो धर्म के आचरण से रहित है, वे पशु के समान है।

☐ देव धर्माचरण में मनुष्य से बहुत पीछे है। देव, त्याग, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान नहीं कर सकते।

☐ मनुष्य को अज्ञानान्धकार से निकलकर मोहनिद्रा का त्याग करना चाहिए और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उत्तमोत्तम बनकर, उत्तम कर्तव्य द्वारा सर्वोत्तम परमपद पाने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

☐ मानव के मन में श्रेष्ठता का अहंकार भी नहीं होना चाहिए। अन्यथा श्रेष्ठता का मद भी जाति, कुल आदि के मद की तरह पतन का कारण बन जाएगा।

☐ जब तक मनुष्य अपनी बुद्धि से कभी यह विचार नहीं करता कि संसार में अशान्ति और दुःख क्यों है? इन दुःखों और अशान्ति को दूर करने के लिए मैं क्या कर सकता हूँ? तब तक मानव को बुद्धि से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता।

☐ अगर मानव कोरी बुद्धि से ही श्रेष्ठ माना जाता तो संसार में इतनी पीडा, कलह और दुःख क्यों होते?

☐ विज्ञान ने मनुष्य को मनुष्य बनना सिखाया होता तो ये लडाई-झगडे, दंगे-फसाद, युद्ध, लूटपाट, झूठ-फरेब, घृणा, अशान्ति और नाना दुःख न होते।

☐ सुख-शान्ति अच्छे मनुष्यों से उत्पन्न होती है और अच्छे मनुष्य बनाना विज्ञान के बस की बात नहीं।

☐ क्या राजनीतिक संसार में सुख-शान्ति उत्पन्न करने में समर्थ है? इसका उत्तर भी नकार में आएगा।

☐ राजनैतिक पार्टियां मनुष्य को अलग-अलग घेरों में बाँट तो सकती है, मनुष्य के हृदय से मनुष्यता निकालकर उसे जानवर तो बना सकती है, परन्तु मनुष्य नहीं बना सकती।

☐ क्या ये जातियां मनुष्य को मनुष्यता का पाठ पढाकर सच्चा मानव बना सकती है? नहीं, कदापि नहीं।

☐ जाति-पांति के भूत ने तो मानव को आपस में लडाकर कमजोर कर दिया।

☐ धर्म-सम्प्रदाय भी मानवता के टुकडे-टुकडे करते आए हैं।

☐ जातियों, धर्मसम्प्रदायों या वर्गों के वश की बात नहीं कि वे मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनायें।

☐ क्या धन-सम्पत्ति के कारण मनुष्य दूसरे प्राणियों से ज्येष्ठ—श्रेष्ठ माना जा सकता है ? इसका उत्तर भी नकारात्मक है।

☐ श्रेष्ठता का मापदंड भारतीय संस्कृति में धन-वैभव को कतई नहीं माना गया।

☐ बल भी मानव की ज्येष्ठता या श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं हो सकता।

☐ केवल सत्ता, धन, वैभव एवं महत्ता किसी मानव की ज्येष्ठता-श्रेष्ठता का कारण नही है।

☐ जिसका परिवार मानवता की दृष्टि से पिछड़ा हुआ हो, आत्म-विकास की साधना से शून्य हो, उसे श्रेष्ठ मानव कैसे कहा जा सकता है ?

☐ आत्मसंपदा के अभाव में मनुष्य मणिविहीन सर्प की तरह अर्द्ध-विकसित या अविकसित कहलाएगा।

☐ आत्मबल की उपलब्धि का आंशिक सुख भी करोड़ों सांसारिक सुखों से बढकर होता है।

☐ मनुष्य की महानता या श्रेष्ठता बाह्य नहीं, आन्तरिक है।

☐ आन्तरिक सम्पदाओं के आधार पर ही मनुष्य की श्रेष्ठता प्रमाणित होती है।

☐ भौतिक सम्पदाएँ तुच्छ है, नगण्य हैं, अल्पकाल तक महानता या बड़प्पन का क्षणिक आभास बताकर वे नष्ट हो जाती हैं।

☐ जीवन की सुन्दरता बाहर की चमक, दमक या वैभव की झंकार में नहीं, मनुष्य के आन्तरिक जगत् में हुआ करती है।

☐ जिसके जीवन में जितनी अधिक सात्विकता, आत्मशक्तियों का विकास एवं गुणों की प्रचुरता होगी, उसका जीवन उतना ही प्रसन्न, सुन्दर एवं आत्मिक स्वास्थ्य का द्योतक होगा।

☐ अधिकांश लोग तुच्छ एवं अवास्तविक जीवन-प्रयोजन की पूर्ति के लिए रात-दिन हाय-हाय में पड़े रहते हैं।

☐ यह संसाररूपी समुद्र है, इसमें मानव-शरीर को जहाज कहा गया है। कुशल मानव इसका मल्लाह है।

☐ मनुष्य जीवन का उद्देश्य संसार समुद्र को पार करके उस पूर्णता,

मुक्ति या परमात्मतत्व अथवा सिद्धत्व को प्राप्त करना है, जिसके प्राप्त करने के बाद कुछ भी पाना शेष न रहे और न ही उसकी इच्छा हो।

☐ मनुष्य आज जिन बातों को पूर्णता के लिए अपनाता है और सदा-सर्वदा के लिए सन्तुष्ट हो जाना चाहता है, वे सब नश्वर हैं, असत्य है, मिथ्या भ्रान्तियाँ है।

☐ पूर्णता की प्राप्ति के लिए शाश्वत तत्व को पाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। धर्म शाश्वत तत्व है, अधर्म या शुभाशुभ कर्म अशाश्वत हैं।

☐ पूर्णता की प्राप्ति के लिए आत्मा के जो गुण है, अहिंसा, सत्य आदि जो आत्मा के धर्म है, उन्हें अपनाना आवश्यक है।

☐ जहाँ राग, द्वेष, मोह, माया, लोभ आदि विकार आत्मा में घुसे कि मनुष्य अपने धर्म से गिरा।

☐ मानव-जीवन की श्रेष्ठता तभी सिद्ध हो सकती है, जब मनुष्य अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य को समझे। जीवन का सदुपयोग करे।

☐ मनुष्य धर्ममर्यादा मे रहकर ही सच्चा मानव बना रह सकता है।

☐ धर्म-मर्यादा मे जीवन को चलाने के लिए मनुष्य को मानव-तन के साथ मानव-मन को जोड़े रखना चाहिए।

☐ धर्म ही एक ऐसा माध्यम है, जो मानव को पूर्णता के शिखर पर क्रमशः ले जा सकता है। परन्तु पूर्णता के शिखर पर पहुँचने के लिए धर्मपालन का पद-पद पर जागृतिपूर्वक पुरुषार्थ करना होगा।

२ व्रत का स्वरूप

मोह और सांसारिक प्रमाद में लिप्त मनुष्य घड़ी भर एकान्त मे बैठकर इतना भी नही सोचता कि इस कौतूहलपूर्ण नरतन मे जन्म लेने का उद्देश्य क्या है?

☐ मानव-जीवन का यह अवसर मनुष्य को अपनी जीवन यात्रा की परीक्षा देने के लिए मिला है।

☐ मानव जीवन का प्रत्येक दिन मनुष्य के लिए एक-एक प्रश्नपत्र है।

☐ अथाह संसार सागर मे प्रवाहित मनुष्य संसार के सुखो को, इद्रियों के भोगो को पदार्थों के स्वामित्व को, धन, पुत्र तथा विविध कामनाओं और एषणाओं को ही जीवन का लक्ष्य बनाकर इस बहुमूल्य अवसर को खो देता है।

☐ जब तक बुढ़ापा आकर पीड़ित नहीं कर लेता, जब तक शरीर में किसी प्रकार की व्याधि नहीं बढ़े, और जब तक इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्माचरण कर लो।

☐ एकमात्र धर्म ही मनुष्य का साथी बनता है, अन्तिम समय में।

☐ आत्मा की अनन्त शक्ति को साधना से जगाना ही मानव-जीवन की सार्थकता है।

☐ चूँकि धर्म तो अपने आपमें एक भाव है, जो मनुष्य को अमुक-अमुक सीमा में रहने या आत्मा को रखने की बात बताता है लेकिन उक्त धर्म के अनुसार चलानेवाला कौन है ?

☐ धर्म का स्थान सरकारी कानून से ऊँचा है। उसका पालन अगर किया जा सकता है तो व्रतों के माध्यम से ही।

☐ मनुष्य जब स्वेच्छा से व्रत ग्रहण करता है, तभी वह अपने जीवन में धर्माचरण यथेष्ट रूप से कर सकता है, धर्म-मर्यादा में चलकर अपने और दूसरों के जीवन को सुखी और आश्वस्त बना सकता है।

☐ बिना व्रत के मनुष्य बिना पाल का तलाब है, किसी भी समय वह धर्म-मर्यादा को लांघकर अपने और समाज के जीवन को चौपट कर सकता है, अशान्त बना सकता है।

☐ व्रत-विहीन व्यक्ति तट-विहीन नदी की तरह उच्छृंखल है, कभी भी प्रलय का रूप धारण करके अपने और समाज के जीवन को वह मृत्यु के मुख में धकेल सकता है, अशान्ति की ज्वाला भड़का सकता है।

☐ मानव-जीवन के लिए एक व्रत एक तटबन्ध है, जो स्वच्छन्द बहते हुए जीवन प्रवाह को मर्यादित बना देता है, नियंत्रित कर देता है।

☐ मनुष्य अगर व्रतों का स्वेच्छिक बन्धन स्वीकार नहीं करेगा तो उसका जीवन-बल—आत्मबल बिखर कर क्षीण हो जायेगा।

☐ साधु-जीवन महाव्रतबद्ध होता है, इसलिए समाज का कोई भी व्यक्ति साधु-साध्वी पर अविश्वास नहीं करता।

☐ जो आदमी अपने जीवन को व्रतमय या प्रतिज्ञामय नहीं बनाता, वह कभी स्थिर या निश्चल नही रह सकता।

यों देखा जाय तो व्रत ग्रहण करना एक प्रकार की दीक्षा ग्रहण करना है।

☐ व्रत ग्रहण करना भी एक उत्तरदायित्व है, जिसे लेकर मानव अपने जीवन को निर्विघ्नता से सकुशल पार कर लेता है।

☐ साधना की दृष्टि से क्लिष्ट चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है। व्रत ग्रहण करने वाला एक प्रकार से योग-साधना करता है।

☐ व्रत एक प्रकार से आत्मसयम है।

☐ व्रत भी आचारसहिता का काम करते है। व्रत आचारसहिता के जाने-देखे बिना ही उसकी पूर्ति कर देते है।

☐ जीवन-निर्माण के लिए व्रतों को अपनाना, उन्हे जीवन में उतारने और प्रत्येक प्रसंग पर सतर्क होकर निर्दोष आचरण करने का अभ्यास करना आवश्यक है।

☐ व्रत किसी पर लादे नही जाने चाहिए, वे तो स्वेच्छा से स्वीकृत होने चाहिए।

☐ कोई बलात् किसी को व्रत नही देता। थोड़ी देर के लिए मान लें कि व्रत बन्धन है, तो भी स्वेच्छा से स्वीकृत बन्धन है।

☐ अपना आत्मदमन स्वयं करना चाहिए, निःसन्देह आत्मदमन दुष्कर है। जो आत्मदमन कर लेता है, वह इस लोक मे और परलोक मे सुखी होता है।

☐ व्रतों को ग्रहण करने की आवश्यकता तो अड़चनो को पार करने के लिए ही होती है। व्रत एक प्रकार का अटल निश्चय है, जिसके द्वारा असुविधा सहने पर भी विचलता नही आती।

☐ जो वस्तु पापरूप एवं आत्म-विकास-घातक हो, उसका निश्चय व्रत ही नही कहलाता।

☐ जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की आपको आदत नही पड़ी, उसके सम्बन्ध में व्रत ग्रहण करना चाहिए।

☐ सत्य तो वही है, जो सब जीवो के लिए हितकर हो। जिस सत्य के साथ अहिसा नही है, वह सत्य सत्य ही नही है।

☐ व्रतधारी को दृढ़ निश्चय होना चाहिए कि मेरा शरीर जाय या रहे, मुझे इस व्रत (धर्म) का पालन करना ही है।

☐ व्रत लेना निर्बलता का सूचक नही, अपितु वीरतासूचक है।

☐ व्रत बन्धन नहीं, अपितु अपने जीवन के गठन, दृढ़ निश्चय, वीरता एवं समाज विश्वास के लिए स्वेच्छा से स्वीकार है।

☐ व्रत ग्रहण न करने वाले का मन किसी भी समय ढीला हो सकता है।

☐ सत्य इतना सहज सरल है कि यह सहज स्वाभाविक रूप से सध जाता है।

☐ मन तो आत्मा का नौकर है, उसके कहे अनुसार चलना और अपने को स्वातंत्र्यवादी कहना अत्यन्त हास्यास्पद है।

☐ विचार किये बिना व्रत नही लेने चाहिए।

☐ व्रत देने की चीज नही, स्वयं लेने की चीज है।

☐ महाव्रत और अणुव्रत ग्रहण करने के लिए सबके लिए द्वार उन्मुक्त रखे है।

☐ सभी जाति के लोग, यहाँ तक कि सभी वर्ग या कौम के लोग अहिंसादि व्रतों का पालन कर सकते हैं।

☐ हर परिस्थिति में व्रत ग्रहण करके उनका पालन किया जाना चाहिए। बल्कि संकट के समय तो दृढ़तापूर्वक व्रत पालन करना चाहिए।

☐ जितने भी व्रत हैं, वे सभी व्यवहार के योग्य हैं।

☐ व्रत ऐसा अकुश नहीं है, जो हमारी अन्तश्चेतना को क्षत-विक्षत कर दे। बल्कि यह स्वेच्छिक अंकुश है जो हमारी चेतना को स्वस्थ, शक्तिशाली एवं विकसित करता है।

☐ आप चिन्तन-मनन करके, अपनी रुचि, शक्ति और क्षमता देखकर व्रतग्रहण करने का प्रयत्न करें।

☐ व्रतो का ग्रहण से आपकी आत्मा में क्षमता और शक्ति बढ़ेगी। आप मानव-जीवन के लक्ष्य की ओर प्रगति कर सकेंगे।

३. व्रतनिष्ठा एवं व्रतग्रहण-विधि

☐ जीवन को धर्म से ओतप्रोत करना हो तो उसके लिए व्रतनिष्ठा आवश्यक है।

☐ राजनीतिज्ञों की राय बहुधा भौतिकता-प्रधान होती है। वे रोगों के मूल कारणों का उपचार न करके उनके लक्षणों का उपचार करते है, इसी कारण संसार के राष्ट्रों का वातावरण संघर्षमय एवं अशान्त बना रहता है।

□ शस्त्रीकरण मे प्रतिद्वन्द्विता, गुप्त कूटनीति, गुटबंदी, युद्ध की विभीषिका आए दिन मँडराती रहती है।

□ अध्यात्मप्रधान भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने रोगों का सही निदान करके अहिसा आदि व्रतो की निष्ठा को ही उनके निवारण के उपाय के रूप में बताया था।

□ व्रताचरण का मार्ग जीवनपथ के रूप में स्वीकार करने पर व्यर्थ के संघर्ष और अशान्ति की सम्भावना नही रहती।

□ विश्व व्यवस्था की दृष्टि से व्रतबद्धता बहुत ही आवश्यक है। व्रत-बद्धता ही राजनीतिकों के लिए नकेल है, जो उन्हें उत्पथ पर जाने से रोक सकती है।

□ वस्तुओं की वहुलता होते हुए भी मनुष्य गरीब है, और आत्म-विकास के अनेक साधन होते हुए भी वह अन्धकार से घिरा है।

□ व्रत ग्रहण करने से पशुता पर नियंत्रण लग जाएगा, जीवन अनुशासन में चलेगा। एक-दूसरे के सहयोग से जीवन सुखकर वन जाएगा।

□ भारत के जितने भो धर्म है, उन सबमे व्रतों-उपव्रतो या यम-नियमों का बहुत बड़ा महत्व है।

□ महाव्रत हो या अणुव्रत, दोनों का आदर्श चारित्र की पूर्णता तक पहुँचना है।

□ आदर्श को नीचा गिरा देने पर व्रत-पालन में मनुष्य आगे नही वढ पाता।

□ आदर्श को आप क्षीण न करे, न ही निम्न कोटि में उतारे, न ही प्रत्येक व्रत की व्याख्या अपनी सुविधानुसार हलके रूप मे करें।

□ जो पूर्ण है, वही सत्य है वह आदर्श है, जो अपूर्ण है, वह आदर्श नही होता।

□ पूर्णता तक पहुचने का अर्थ ही है—परमात्मा तक पहुँचना।

□ आदर्श आपके लिए ध्रुवतारा होना चाहिए—आदर्श जितना ऊंचा होगा आपका प्रयत्न भी उतना ही तीव्र और उत्कृष्ट होगा।

□ आदर्श सत्य तो वह है, जिसे जानने के बाद उस पर दृढ निष्ठा के साथ अमल किया जाय।

□ उच्च आदर्श के साथ आत्म-परीक्षण सतत् जारी रहना चाहिए।

☐ राजा, योगी, अग्नि और पानी इनका क्या भरोसा ? जब तक ये सीधे चलते है, तब तक तो ठीक है, उलटे चलने पर ये किसी के नहीं होते।

☐ जो व्यक्ति एकदम नीचे दर्जे का आदर्श बना लेता है, वह व्यक्ति ऊँचा कैसे उठ सकता है ?

☐ प्रत्येक व्रत मूलस्पर्शी होता है, यानी उसका सम्बन्ध मूल तक रहता है।

☐ व्रत की व्याप्ति नो स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक रहती है। व्रत का मूल स्वरूप सूक्ष्म है, उसका बाह्य रूप स्थूल।

☐ व्रतों की सूक्ष्मता का पालन कठिन होता है। व्रत की सूक्ष्मता को आदर्श कहते है।

☐ प्रत्येक व्रत के साथ यह सूक्ष्म रूप न हो तो उस व्रत का पालन करने में दम्भ आने की सम्भावना है, उसके पालन में शिथिलता या शब्दस्पर्शी वृत्ति आ जाएगी।

☐ व्रतों का चिन्तन निश्चय दृष्टि से होगा तो व्यवहार रूप तो अपने आप आ ही जाएगा।

☐ व्रतों का आदर्श (निश्चय) दृष्टि से जब भी चिन्तन हो, तब देह निरपेक्ष होना चाहिए, देह दृष्टि से, देह को ध्यान में रखकर नहीं होना चाहिए।

☐ जो अपने व्रतों का उद्देश्य महान् रखता है. उसे जब भी कोई परिस्थिति विवश करती है, तब वह उसके आगे घुटने नहीं टेकता।

☐ व्रतों का उद्देश्य उच्च और महान् रखने वाले व्यक्ति का मन भी प्रचण्ड हो जाता है।

☐ अन्तिम मंजिल तक पहुँचने के लिए व्रतों के महान् उद्देश्य के साथ-साथ तीव्रतम अध्यवसाय का होना जरूरी है।

☐ व्रतों के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए आप जो भी कार्य करें, पूर्ण उत्साह से तथा तन, मन और साधनों की पूर्ण शक्ति के साथ उसमें जुट पड़े। आपको सफलता निश्चित ही मिलेगी।

व्रतों का उद्देश्य कर्मों की निर्जरा, आत्म-शुद्धि, परमात्मप्राप्ति या वीतरागताप्राप्ति होना चाहिए, कोई भौतिक, सांसारिक लिप्सा, स्वार्थ भय, प्रलोभन या तृष्णा व्रतों का उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

□ भय से, लोभ से या अन्य किसी सांसारिक प्रयोजन से व्रत-पालन करना उचित नही है। आत्मा में शान्ति, समता या वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही व्रतपालन श्रेयस्कर है।

□ मोक्ष रूपी अन्तिम पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए व्रतों का पूर्ण आदर्श सामने रखकर व्रतसाधना करना ही एकमात्र सरल उपाय है।

□ व्रतसाधना को ही धर्म पुरुषार्थ माना गया है, जो मोक्ष पुरुषार्थ रूप फल के लिए साधन है।

□ आपको हर क्षण परमात्मा के साक्षित्व का भान रखना चाहिए, ताकि आप व्रतों की मर्यादा को खण्डित न होने दें।

□ वह शुद्ध आत्मा (परमात्मा) आपकी प्रत्येक क्रिया को सतत् देख रहा है, इस बात का आपको सदैव भान रखना चाहिए। उसकी प्रेरणा (शुद्ध आत्मा की आवाज) के विरुद्ध कभी नही जाना चाहिए।

□ व्रत लेने का अर्थ है - संकल्प करना, फिर उसके पालन का प्रयत्न करना, जो शेष है।

□ व्रत ले चुकने के बाद मृत्युपर्यन्त उसके पालन का प्रयत्न मन, वचन और काया से करते रहना चाहिए।

□ एक बार व्रत ले लिया, तब उसके पालन में शिथिलता नही आने देनी चाहिए, जब तक शरीर है, तब तक वह व्रत छोड़ना नही चाहिए।

□ व्रत पालन के लिए सतत् गतिशील रहने मे एवं अन्त तक निरन्तर प्रयत्न करते रहने में ही व्रत की सार्थकता है।

□ व्रती साधक को सर्वप्रथम शल्यरहित होना चाहिए। शल्य तीन प्रकार के है—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य।

□ व्रतधारी जिस भाव से, जिस महान् उद्देश्य से व्रत ग्रहण करता है, उसके साथ माया (कपट) रूपी शल्य नही होना चाहिए।

□ व्रत पालन निष्कांक्ष भाव से करना चाहिए। व्रत-पालन के पीछे फलाकांक्षा नही होनी चाहिए।

□ व्रतों का पालन किसी भी धन, सन्तान, विजय, सत्ता, स्त्री या

अन्य सांसारिक वस्तु की प्राप्ति या स्वर्गादि सुख, देवांगना आदि की लिप्सा से करना साधक के लिए उचित नहीं है।

☐ जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक व्रती का ज्ञान भी सम्यक् नहीं कहलाता, और न उसका चारित्र ही सम्यक् कहलाता है।

☐ वास्तव में मिथ्यात्व का त्याग ही एक प्रकार से सम्यक्त्व का ग्रहण करना है। मिथ्यात्व त्याग करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ही जाती है।

☐ मिथ्यात्व का अर्थ 'न जानना' नहीं है, अपितु 'उल्टा जानना' है।

☐ सम्यक्‌दृष्टि के पाँच चिन्ह हैं—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था।

☐ सम्यक्त्व के अभाव में श्रावकत्व नहीं रह सकता।

☐ अनगार-धर्म के व्रतो को महाव्रत कहते हैं, आगार-धर्म के व्रतों को अणुव्रत।

☐ जिन व्रतों का पालन श्रमणों को पूर्णतः करना पड़ता है, गृहस्थ उनका आंशिक रूप से ही पालन कर सकता है।

☐ अणुव्रत तभी कहलाएँगे, जब महाव्रत होंगे और महाव्रत भी तभी महाव्रत कहलाएँगे, जब अणुव्रत होंगे।

☐ श्रावक धर्मपालक अणुव्रती के अभाव में साधु धर्मपालक महाव्रती टिक नही सकता।

☐ पाँच अणुव्रतों का परस्पर एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

☐ सब व्रतों का हेतु एक ही है। वह है—देहाध्यास क्षीण करके, आत्मा के साथ लगे हुए हिंसा आदि विकारों को दूर करके अद्वैत-अभेद का अनुभव करना।

☐ सभी व्रतों का समावेश अहिसा में हो हो जाता है।

☐ पंच व्रतों को योग दर्शनकार पंच यम कहते हैं। बौद्ध धर्म ने इन्हे पचशील बताया है।

☐ देहासक्ति को दूर करके स्व-स्वरूप में (आत्मभाव में) रमण करने के लिए ही सारे व्रत है।

☐ गृहस्थ का अर्थ ही यह है—जिसके साथ घर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, जमीन-जायदाद आदि लगे हैं।

☐ करण का अर्थ है—जिसके जरिये कार्य किया जाय। करण तीन है—कृत, कारित और अनुमोदित।

☐ योग का अर्थ है—शरीर के तीन साधनों को प्रवृत्ति या कार्य से जोड़ना। योग भी तीन है—मन, वचन और काया।

☐ जो गृहस्थ-जीवन की जिम्मेदारी से हटकर प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक की जिम्मेदारी ले लेता है, वह तीन करण तीन योग से व्रत ग्रहण कर सकता है।

४. अणुव्रती, श्रमणोपासक और श्रावक

☐ मानवजीवन का लक्ष्य उस परिपूर्णता को प्राप्त करना है, जिसे मुक्ति, शुद्ध आत्मतत्व की प्राप्ति, परमात्मपद की उपलब्धि कहते है।

☐ सद्‌गृहस्थ की केवल जिज्ञासा ही उसे अधिकारी नही बना देती, वरन् अणुव्रत के तत्वों मे अवगाहन की उसमें पात्रता भी होना आवश्यक है।

अधिकारी व्यक्ति ही अणुव्रत, गुणव्रत, और शिक्षाव्रत ग्रहण कर सकते है।

☐ यदि अणुव्रती सद्‌गृहस्थ अपना आत्म-विकास पूर्णतया करना चाहता है तो आत्म-विकास के पथ पर आगे बढ़े हुए महाव्रती साधु-साध्वियों की शरण मे जाकर उनसे उसे यथार्थ अनुभव प्राप्त करना चाहिए।

अगर अणुव्रती श्रावक विवेकी और समझदार हो तो महाव्रती श्रमण अपनी साधना यथार्थ रूप से कर सकता है, अन्यथा महाव्रती साधु-साध्वियो को शुद्ध सात्त्विक आहार मिलने मे बडी कठिनाई होती है।

श्रमणोपासक को अपना जीवन, खान-पान और रहन-सहन भी सात्त्विक बनाना पड़ता है।

अणुव्रतादि ग्रहण किये बिना कोई भी व्रती श्रावक नही कहला सकता।

धर्म एवं जीवन

१. मानव-जीवन की विशेषता

☐ जो मनुष्य दूसरों को दुःखी देखकर पसीजता नहीं, जिसकी अन्तश्चेतना में पीड़ित को देखकर करुणा का झरना नहीं फूटता, वह मनुष्य नहीं, मनुष्य के रूप में पशु है।

☐ परहितार्थ शरीर समर्पण करने वाले पुण्यभागी एवं इतिहास प्रसिद्ध भी हुए हैं।

☐ आध्यात्मिक विकास की दौड़ में मानव देवों से आगे हैं।

☐ मनुष्य बड़ा सौभाग्यशाली है कि उसे उन्नत हृदय मिला है, विचार करने के लिए।

☐ सुख और दुःख दोनों के ताने-बाने से मानव-जीवन बुना हुआ है, इसलिए मनुष्य को दुःखों से बचने और सुखों को बढ़ाने का अवसर भी प्राप्त है। वह चाहे तो उद्देश्य की दिशा में पुरुषार्थ करते हुए आत्मीय-चेतना को बढ़ाते-बढ़ाते उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँच सकता है।

☐ सामान्य जीवन से तात्पर्य है—जैसा भी ढर्रा चल रहा है, उसे चलने देना। वह गलत हो तो भी उसमें रद्दोबदल करने की बात न सोचना, न करना।

☐ विशेष जीवन का स्वरूप होता है—एक सुनिश्चित व्यवस्था और विधि के साथ उद्देश्यपूर्ण जीवन बिताना।

☐ पशु की तरह खाने, पीने, सोने और जीवन के उद्देश्य को ओझल करके जिन्दगी पूरी कर देने में सुरदुर्लभ मानव-जीवन को खो देना, परले सिरे की मूर्खता है।

☐ मनुष्यों में पशुओं से अगर कोई विशेषता है तो धर्म की ही विशेषता है।

☐ जिन मनुष्यों में धर्म-मर्यादा नही है, जो धर्म के आचरण से रहित है, वे पशु के समान है।

☐ देव धर्माचरण में मनुष्य से बहुत पीछे है। देव, त्याग, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान नहीं कर सकते।

☐ मनुष्य को अज्ञानान्धकार से निकलकर मोहनिद्रा का त्याग करना चाहिए और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उत्तमोत्तम बनकर, उत्तम कर्तव्य द्वारा सर्वोत्तम परमपद पाने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

☐ मानव के मन में श्रेष्ठता का अहंकार भी नहीं होना चाहिए। अन्यथा श्रेष्ठता का मद भी जाति, कुल आदि के मद की तरह पतन का कारण बन जाएगा।

☐ जब तक मनुष्य अपनी बुद्धि से कभी यह विचार नहीं करता कि संसार में अशान्ति और दुःख क्यों है ? इन दुःखों और अशान्ति को दूर करने के लिए मै क्या कर सकता हूँ ? तब तक मानव को बुद्धि से श्रेष्ठ नही माना जा सकता।

☐ अगर मानव कोरी बुद्धि से ही श्रेष्ठ माना जाता तो संसार में इतनो पीड़ा, कलह और दुःख क्यों होते ?

☐ विज्ञान ने मनुष्य को मनुष्य बनना सिखाया होता तो ये लड़ाई-झगडे, दंगे-फसाद, युद्ध, लूटपाट, झूठ-फरेब, घृणा, अशान्ति और नाना दुःख न होते।

☐ सुख-शान्ति अच्छे मनुष्यो से उत्पन्न होती है और अच्छे मनुष्य बनाना विज्ञान के बस को बात नही।

☐ क्या राजनीतिक ससार मे सुख-शान्ति उत्पन्न करने मे समर्थ है ? इसका उत्तर भी नकार मे आएगा।

☐ राजनैतिक पार्टियाँ मनुष्य को अलग-अलग घेरो में बाँट तो सकती है, मनुष्य के हृदय से मनुष्यता निकालकर उसे जानवर तो बना सकती है, परन्तु मनुष्य नही बना सकती।

☐ क्या ये जातियाँ मनुष्य को मनुष्यता का पाठ पढाकर सच्चा मानव बना सकती है ? नही, कदापि नहीं।

☐ जाति-पाँति के भूत ने तो भारत को आपस में लडकर कमजोर कर दिया।

☐ धर्म-सम्प्रदाय भी मानवता के टुकडे-टुकडे करते आए है।

☐ जातियों, धर्मसम्प्रदायों या वर्गों के वश की बात नहीं कि वे मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनायें।

☐ क्या धन-सम्पत्ति के कारण मनुष्य दूसरे प्राणियों से ज्येष्ठ—श्रेष्ठ माना जा सकता है ? इसका उत्तर भी नकारात्मक है।

☐ श्रेष्ठता का मापदंड भारतीय संस्कृति में धन-वैभव को कतई नहीं माना गया।

☐ बल भी मानव की ज्येष्ठता या श्रेष्ठता का प्रतीक नहीं हो सकता।

☐ केवल सत्ता, धन, वैभव एवं महत्ता किसी मानव की ज्येष्ठता–श्रेष्ठता का कारण नहीं है।

☐ जिसका परिवार मानवता की दृष्टि से पिछड़ा हुआ हो, आत्म-विकास की साधना से शून्य हो, उसे श्रेष्ठ मानव कैसे कहा जा सकता है ?

☐ आत्मसंपदा के अभाव में मनुष्य मणिविहीन सर्प की तरह अर्द्ध-विकसित या अविकसित कहलाएगा।

☐ आत्मबल की उपलब्धि का आंशिक सुख भी करोड़ों सांसारिक सुखों से बढकर होता है।

☐ मनुष्य की महानता या श्रेष्ठता वाह्य नहीं, आन्तरिक है।

☐ आन्तरिक सम्पदाओं के आधार पर ही मनुष्य की श्रेष्ठता प्रमाणित होती है।

☐ भौतिक सम्पदाएँ तुच्छ है, नगण्य हैं, अल्पकाल तक महानता या बडप्पन का क्षणिक आभास बताकर वे नष्ट हो जाती हैं।

☐ जीवन की सुन्दरता बाहर की चमक, दमक या वैभव की झंकार में नही, मनुष्य के आन्तरिक जगत् में हुआ करती है।

☐ जिसके जीवन में जितनी अधिक सात्विकता, आत्मशक्तियों का विकास एवं गुणों की प्रचुरता होगी, उसका जीवन उतना ही प्रसन्न, सुन्दर एवं आत्मिक स्वास्थ्य का द्योतक होगा।

☐ अधिकांश लोग तुच्छ एवं अवास्तविक जीवन-प्रयोजन की पूर्ति के लिए रात-दिन हाय-हाय में पड़े रहते हैं।

☐ यह संसाररूपी समुद्र है, इसमें मानव-शरीर को जहाज कहा गया है। कुशल मानव इसका मल्लाह है।

☐ मनुष्य जीवन का उद्देश्य संसार समुद्र को पार करके उस पूर्णता,

मुक्ति या परमात्मतत्व अथवा सिद्धत्व को प्राप्त करना है, जिसके प्राप्त करने के बाद कुछ भी पाना शेष न रहे और न ही उसकी इच्छा हो।

☐ मनुष्य आज जिन बातों को पूर्णता के लिए अपनाता है और सदा-सर्वदा के लिए सन्तुष्ट हो जाना चाहता है, वे सब नश्वर हैं, असत्य हैं, मिथ्या भ्रान्तियाँ है।

☐ पूर्णता की प्राप्ति के लिए शाश्वत तत्व को पाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। धर्म शाश्वत तत्व है, अधर्म या शुभाशुभ कर्म अशाश्वत है।

☐ पूर्णता की प्राप्ति के लिए आत्मा के जो गुण हैं, अहिंसा, सत्य आदि जो आत्मा के धर्म हैं, उन्हें अपनाना आवश्यक है।

☐ जहाँ राग, द्वेष, मोह, माया, लोभ आदि विकार आत्मा में घुसे कि मनुष्य अपने धर्म से गिरा।

☐ मानव-जीवन की श्रेष्ठता तभी सिद्ध हो सकती है, जब मनुष्य अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य को समझे। जीवन का सदुपयोग करे।

☐ मनुष्य धर्ममर्यादा मे रहकर ही सच्चा मानव बना रह सकता है।

☐ धर्म-मर्यादा में जीवन को चलाने के लिए मनुष्य को मानव-तन के साथ मानव-मन को जोड़े रखना चाहिए।

☐ धर्म ही एक ऐसा माध्यम है, जो मानव को पूर्णता के शिखर पर क्रमशः ले जा सकता है। परन्तु पूर्णता के शिखर पर पहुँचने के लिए धर्मपालन का पद-पद पर जागृतिपूर्वक पुरुषार्थ करना होगा।

२ व्रत का स्वरूप

☐ मोह और सांसारिक प्रमाद में लिप्त मनुष्य घड़ी भर एकान्त मे बैठकर इतना भी नही सोचता कि इस कौतूहलपूर्ण नरतन में जन्म लेने का उद्देश्य क्या है ?

☐ मानव-जीवन का यह अवसर मनुष्य को अपनी जीवन यात्रा की परीक्षा देने के लिए मिला है।

☐ मानव जीवन का प्रत्येक दिन मनुष्य के लिए एक-एक प्रश्नपत्र है।

☐ अथाह संसार सागर मे प्रवाहित मनुष्य संसार के सुखों को, इंद्रियों के भोगो को पदार्थों के स्वामित्व को, धन, पुत्र तथा विविध कामनाओं और एषणाओं को ही जीवन का लक्ष्य बनाकर इस बहुमूल्य अवसर को खो देता है।

☐ जब तक बुढ़ापा आकर पीड़ित नहीं कर लेता, जब तक शरीर में किसी प्रकार की व्याधि नहीं बढ़े, और जब तक इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्माचरण कर लो।

☐ एकमात्र धर्म ही मनुष्य का साथी बनता है, अन्तिम समय में।

☐ आत्मा की अनन्त शक्ति को साधना से जगाना ही मानव-जीवन की सार्थकता है।

☐ चूँकि धर्म तो अपने आपमें एक भाव है, जो मनुष्य को अमुक-अमुक सीमा में रहने या आत्मा को रखने की बात बताता है लेकिन उक्त धर्म के अनुसार चलानेवाला कौन है ?

☐ धर्म का स्थान सरकारी कानून से ऊँचा है। उसका पालन अगर किया जा सकता है तो व्रतों के माध्यम से ही।

☐ मनुष्य जब स्वेच्छा से व्रत ग्रहण करता है, तभी वह अपने जीवन में धर्माचरण यथेष्ट रूप से कर सकता है, धर्म-मर्यादा में चलकर अपने और दूसरों के जीवन को सुखी और आश्वस्त बना सकता है।

☐ बिना व्रत के मनुष्य बिना पाल का तलाब है, किसी भी समय वह धर्म-मर्यादा को लांघकर अपने और समाज के जीवन को चौपट कर सकता है, अशान्त बना सकता है।

☐ व्रत-विहीन व्यक्ति तट-विहीन नदी की तरह उच्छृंखल है, कभी भी प्रलय का रूप धारण करके अपने और समाज के जीवन को वह मृत्यु के मुख में धकेल सकता है, अशान्ति की ज्वाला भड़का सकता है।

☐ मानव-जीवन के लिए एक व्रत एक तटबन्ध है, जो स्वच्छन्द बहते हुए जीवन प्रवाह को मर्यादित बना देता है, नियंत्रित कर देता है।

☐ मनुष्य अगर व्रतों का स्वेच्छिक बन्धन स्वीकार नहीं करेगा तो उसका जीवन-बल—आत्मबल बिखर कर क्षीण हो जायेगा।

☐ साधु-जीवन महाव्रतबद्ध होता है, इसलिए समाज का कोई भी व्यक्ति साधु-साध्वी पर अविश्वास नहीं करता।

☐ जो आदमी अपने जीवन को व्रतमय या प्रतिज्ञामय नहीं बनाता, वह कभी स्थिर या निश्चल नहीं रह सकता।

यों देखा जाय तो व्रत ग्रहण करना एक प्रकार की दीक्षा ग्रहण करना है।

☐ व्रत ग्रहण करना भी एक उत्तरदायित्व है, जिसे लेकर मानव अपने जीवन को निर्विघ्नता से सकुशल पार कर लेता है।

☐ साधना की दृष्टि से क्लिष्ट चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है। व्रत ग्रहण करने वाला एक प्रकार से योग-साधना करता है।

☐ व्रत एक प्रकार से आत्मसंयम है।

☐ व्रत भी आचारसंहिता का काम करते है। व्रत आचारसंहिता के जाने-देखे बिना ही उसकी पूर्ति कर देते है।

☐ जीवन-निर्माण के लिए व्रतों को अपनाना, उन्हे जीवन में उतारने और प्रत्येक प्रसंग पर सतर्क होकर निर्दोष आचरण करने का अभ्यास करना आवश्यक है।

☐ व्रत किसी पर लादे नही जाने चाहिए, वे तो स्वेच्छा से स्वीकृत होने चाहिए।

☐ कोई बलात् किसी को व्रत नही देता। थोड़ी देर के लिए मान ले कि व्रत बन्धन है, तो भी स्वेच्छा से स्वीकृत बन्धन है।

☐ अपना आत्मदमन स्वयं करना चाहिए, निःसन्देह आत्मदमन दुष्कर है। जो आत्मदमन कर लेता है, वह इस लोक मे और परलोक में सुखी होता है।

☐ व्रतो को ग्रहण करने की आवश्यकता तो अड़चनो को पार करने के लिए ही होती है। व्रत एक प्रकार का अटल निश्चय है, जिसके द्वारा असुविधा सहने पर भी विचलता नही आती।

☐ जो वस्तु पापरूप एवं आत्म-विकास-घातक हो, उसका निश्चय व्रत ही नही कहलाता।

☐ जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की आपको आदत नही पड़ी, उसके सम्बन्ध मे व्रत ग्रहण करना चाहिए।

☐ सत्य तो वही है, जो सब जीवो के लिए हितकर हो। जिस सत्य के साथ अहिंसा नही है, वह सत्य सत्य ही नही है।

☐ व्रतधारी को दृढ निश्चय होना चाहिए कि मेरा शरीर जाय या रहे, मुझे इस व्रत (धर्म) का पालन करना ही है।

☐ व्रत लेना निर्बलता का सूचक नही, अपितु वीरतासूचक है।

☐ व्रत बन्धन नहीं, अपितु अपने जीवन के गठन, दृढ़ निश्चय, वीरता एवं समाज विश्वास के लिए स्वेच्छा से स्वीकार है।

☐ व्रत ग्रहण न करने वाले का मन किसी भी समय ढीला हो सकता है।

☐ सत्य इतना सहज सरल है कि यह सहज स्वाभाविक रूप से सध जाता है।

☐ मन तो आत्मा का नौकर है, उसके कहे अनुसार चलना और अपने को स्वातंत्र्यवादी कहना अत्यन्त हास्यास्पद है।

☐ विचार किये बिना व्रत नहीं लेने चाहिए।

☐ व्रत देने की चीज नहीं, स्वयं लेने की चीज है।

☐ महाव्रत और अणुव्रत ग्रहण करने के लिए सबके लिए द्वार उन्मुक्त रखे है।

☐ सभी जाति के लोग, यहाँ तक कि सभी वर्ग या कौम के लोग अहिंसादि व्रतों का पालन कर सकते हैं।

☐ हर परिस्थिति में व्रत ग्रहण करके उनका पालन किया जाना चाहिए। बल्कि संकट के समय तो दृढ़तापूर्वक व्रत पालन करना चाहिए।

☐ जितने भी व्रत है, वे सभी व्यवहार के योग्य है।

☐ व्रत ऐसा अंकुश नही है, जो हमारी अन्तश्चेतना को क्षत-विक्षत कर दे। बल्कि यह स्वेच्छिक अंकुश है जो हमारी चेतना को स्वस्थ, शक्तिशाली एवं विकसित करता है।

☐ आप चिन्तन-मनन करके, अपनी रुचि, शक्ति और क्षमता देखकर व्रतग्रहण करने का प्रयत्न करें।

☐ व्रतों का ग्रहण से आपकी आत्मा में क्षमता और शक्ति बढ़ेगी। आप मानव-जीवन के लक्ष्य की ओर प्रगति कर सकेंगे।

३. व्रतनिष्ठा एवं व्रतग्रहण-विधि

☐ जीवन को धर्म से ओतप्रोत करना हो तो उसके लिए व्रतनिष्ठा आवश्यक है।

☐ राजनीतिज्ञों की राय बहुधा भौतिकता-प्रधान होती है। वे रोगों के मूल कारणों का उपचार न करके उनके लक्षणों का उपचार करते हैं, इसी कारण संसार के राष्ट्रों का वातावरण संघर्षमय एव अशान्त बना रहता है।

☐ शस्त्रीकरण मे प्रतिद्वन्द्विता, गुप्त कूटनीति, गुटबंदी, युद्ध की विभीषिका आए दिन मँडराती रहती है।

☐ अध्यात्मप्रधान भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने रोगों का सही निदान करके अहिंसा आदि व्रतो की निष्ठा को ही उनके निवारण के उपाय के रूप में बताया था।

☐ व्रताचरण का मार्ग जीवनपथ के रूप मे स्वीकार करने पर व्यर्थ के संघर्ष और अशान्ति की सम्भावना नही रहती।

☐ विश्व व्यवस्था की दृष्टि से व्रतबद्धता बहुत ही आवश्यक है। व्रतबद्धता ही राजनीतिकों के लिए नकेल है, जो उन्हे उत्पथ पर जाने से रोक सकती है।

☐ वस्तुओं की बहुलता होते हुए भी मनुष्य गरीब है, और आत्म-विकास के अनेक साधन होते हुए भी वह अन्धकार से घिरा है।

☐ व्रत ग्रहण करने से पशुता पर नियंत्रण लग जाएगा, जीवन अनुशासन मे चलेगा। एक-दूसरे के सहयोग से जीवन सुखकर बन जाएगा।

☐ भारत के जितने भी धर्म है, उन सबमे व्रतो-उपव्रतो या यम-नियमो का बहुत बड़ा महत्त्व है।

☐ महाव्रत हो या अणुव्रत दोनों का आदर्श चारित्र की पूर्णता तक पहुँचना है।

☐ आदर्श को नीचा गिरा देने पर व्रत-पालन मे मनुष्य आगे नहीं बढ़ पाता।

☐ आदर्श को उच्च श्रेणी न करें न ही निम्न कोटि मे उतारें, न ही प्रत्येक व्रत की व्याख्या अपनी बुद्धि-अनुसार हल्के रूप में करें।

☐ जो पूर्ण है वही सत्य है, वह आदर्श है। जो अपूर्ण है, वह आदर्श नहीं होता।

☐ पूर्णता का मतलब ही यही है—पराकाष्ठा तक पहुँचना।

☐ [illegible]

☐ [illegible]

☐ [illegible]

☐ राजा, योगी, अग्नि और पानी इनका क्या भरोसा ? जब तक ये सीधे चलते हैं, तव तक तो ठीक है, उलटे चलने पर ये किसी के नहीं होते ।

☐ जो व्यक्ति एकदम नीचे दर्जे का आदर्श बना लेता है, वह व्यक्ति ऊँचा कैसे उठ सकता है ?

☐ प्रत्येक व्रत मूलस्पर्शी होता है, यानी उसका सम्बन्ध मूल तक रहता है ।

☐ व्रत की व्याप्ति तो स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक रहती है । व्रत का मूल स्वरूप सूक्ष्म है, उसका बाह्य रूप स्थूल ।

☐ व्रतों की सूक्ष्मता का पालन कठिन होता है । व्रत की सूक्ष्मता को आदर्श कहते हैं ।

☐ प्रत्येक व्रत के साथ यह सूक्ष्म रूप न हो तो उस व्रत का पालन करने में दम्भ आने की सम्भावना है, उसके पालन में शिथिलता या शब्दस्पर्शी वृत्ति आ जाएगी ।

☐ व्रतों का चिन्तन निश्चय दृष्टि से होगा तो व्यवहार रूप तो अपने आप आ ही जाएगा ।

☐ व्रतो का आदर्श (निश्चय) दृष्टि से जब भी चिन्तन हो, तब देह निरपेक्ष होना चाहिए, देह दृष्टि से, देह को ध्यान में रखकर नहीं होना चाहिए ।

☐ जो अपने व्रतों का उद्देश्य महान् रखता है, उसे जब भी कोई परिस्थिति विवश करती है, तब वह उसके आगे घुटने नहीं टेकता ।

☐ व्रतों का उद्देश्य उच्च और महान् रखने वाले व्यक्ति का मन भी प्रचण्ड हो जाता है ।

☐ अन्तिम मंजिल तक पहुँचने के लिए व्रतों के महान् उद्देश्य के साथ-साथ तीव्रतम अध्यवसाय का होना जरूरी है ।

☐ व्रतों के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए आप जो भी कार्य करें, पूर्ण उत्साह से तथा तन, मन और साधनों की पूर्ण शक्ति के साथ उसमें जुट पड़े । आपको सफलता निश्चित ही मिलेगी ।

☐ व्रतों का उद्देश्य कर्मो की निर्जरा, आत्म-शुद्धि, परमात्मप्राप्ति या वीतरागताप्राप्ति होना चाहिए, कोई भौतिक, सांसारिक लिप्सा, स्वार्थ भय, प्रलोभन या तृष्णा व्रतों का उद्देश्य नही होना चाहिए ।

☐ भय से, लोभ से या अन्य किसी सांसारिक प्रयोजन से व्रत-पालन करना उचित नही है। आत्मा मे शान्ति, समता या वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही व्रतपालन श्रेयस्कर है।

☐ मोक्ष रूपी अन्तिम पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए व्रतों का पूर्ण आदर्श सामने रखकर व्रतसाधना करना ही एकमात्र सरल उपाय है।

☐ व्रतसाधना को ही धर्म पुरुषार्थ माना गया है, जो मोक्ष पुरुषार्थ रूप फल के लिए साधन है।

☐ आपको हर क्षण परमात्मा के साक्षित्व का भान रखना चाहिए, ताकि आप व्रतों की मर्यादा को खण्डित न होने दे।

वह शुद्ध आत्मा (परमात्मा) आपकी प्रत्येक क्रिया को सतत् देख रहा है, इस बात का आपको सदैव भान रखना चाहिए। उसकी प्रेरणा (शुद्ध आत्मा की आवाज) के विरुद्ध कभी नही जाना चाहिए।

व्रत लेने का अर्थ है संकल्प करना, फिर उसके पालन का प्रयत्न करना, जो शेष है।

व्रत ले चुकने के बाद मृत्युपर्यन्त उसके पालन का प्रयत्न मन, वचन और काया से करते रहना चाहिए।

एक बार व्रत ले लिया तब उसके पालन मे शिथिलता नही आने देनी चाहिए जब तक शरीर है, तब तक वह व्रत छोड़ना नही चाहिए।

व्रत पालन के लिए सतत् [illegible] रहते [illegible] अन्त तक निरन्तर [illegible] ही व्रत की सार्थकता है।

व्रती साधक को [illegible] होना चाहिए। [illegible] निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य।

[illegible]

[illegible]

अन्य सांसारिक वस्तु की प्राप्ति या स्वर्गादि सुख, देवांगना आदि की लिप्सा से करना साधक के लिए उचित नही है ।

☐ जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक व्रती का ज्ञान भी सम्यक् नहीं कहलाता, और न उसका चारित्र ही सम्यक् कहलाता है ।

☐ वास्तव में मिथ्यात्व का त्याग ही एक प्रकार से सम्यक्त्व का ग्रहण करना है। मिथ्यात्व त्याग करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ही जाती है ।

☐ मिथ्यात्व का अर्थ 'न जानना' नहीं है, अपितु 'उल्टा जानना' है ।

☐ सम्यक्दृष्टि के पाँच चिन्ह है—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था ।

☐ सम्यक्त्व के अभाव में श्रावकत्व नही रह सकता ।

☐ अनगार-धर्म के व्रतों को महाव्रत कहते है, आगार-धर्म के व्रतों को अणव्रत ।

☐ जिन व्रतों का पालन श्रमणों को पूर्णत: करना पड़ता है, गृहस्थ उनका आंशिक रूप से ही पालन कर सकता है ।

☐ अणुव्रत तभी कहलाएँगे, जब महाव्रत होंगे और महाव्रत भी तभी महाव्रत कहलाएँगे, जब अणुव्रत होंगे ।

☐ श्रावक धर्मपालक अणुव्रती के अभाव में साधु धर्मपालक महाव्रती टिक नही सकता ।

☐ पाँच अणुव्रतों का परस्पर एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

☐ सब व्रतों का हेतु एक ही है। वह है—देहाध्यास क्षीण करके, आत्मा के साथ लगे हुए हिंसा आदि विकारों को दूर करके अद्वैत-अभेद का अनुभव करना ।

☐ सभी व्रतों का समावेश अहिंसा में ही हो जाता है ।

☐ पंच व्रतों को योग दर्शनकार पंच यम कहते है। बौद्ध धर्म ने इन्हें पचशील बताया है ।

☐ देहासक्ति को दूर करके स्व-स्वरूप में (आत्मभाव में) रमण करने के लिए ही सारे व्रत है।

☐ गृहस्थ का अर्थ ही यह है—जिसके साथ घर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, जमीन-जायदाद आदि लगे है।

☐ करण का अर्थ है—जिसके जरिये कार्य किया जाय। करण तीन है—कृत, कारित और अनुमोदित।

☐ योग का अर्थ है—शरीर के तीन साधनों को प्रवृत्ति या कार्य से जोड़ना। योग भी तीन है—मन, वचन और काया।

☐ जो गृहस्थ-जीवन की जिम्मेदारी से हटकर प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक की जिम्मेदारी ले लेता है, वह तीन करण तीन योग से व्रत ग्रहण कर सकता है।

८. अणुव्रती, श्रमणोपासक और श्रावक

☐ मानवजीवन का लक्ष्य उस परिपूर्णता को प्राप्त करना है, जिसे मुक्ति, शुद्ध आत्मतत्व की प्राप्ति, परमात्मपद की उपलब्धि कहते है।

☐ सद्गृहस्थ की केवल जिज्ञासा ही उसे अधिकारी नही बना देती, वरन् अणुव्रत के तत्वो मे अवगाहन की उसमे पात्रता भी होना आवश्यक है।

अधिकारी व्यक्ति ही अणुव्रत, गुणव्रत, और शिक्षाव्रत ग्रहण कर सकते है।

यदि अणुव्रती सद्गृहस्थ अपना आत्म-विकास पूर्णतया करना चाहता है तो आत्म-विकास के पथ पर आगे बढ़े हुए महाव्रती साधु-साध्वियों की शरण मे जाकर उनसे उसे यथार्थ अनुभव प्राप्त करना चाहिए।

अगर अणुव्रती श्रावक विवेकी और समझदार हो तो महाव्रती श्रमण अपनी साधना यथार्थ रूप से कर सकता है, अन्यथा महाव्रती साधु-साध्वियों को शुद्ध सात्त्विक आहार मिलने मे बड़ी कठिनाई होती है।

श्रमणोपासक को अपना जीवन खान-पान और रहन-सहन भी सात्त्विक बनाना पड़ता है।

अणुव्रतादि ग्रहण किये बिना कोई भी व्रती श्रावक नहीं कहला सकता।

☐ खास तौर से महाव्रती श्रमण पर अणुव्रती श्रमणोपासक के जीवन को विशुद्ध और व्रतों से अनुबद्ध रखने की जिम्मेदारी डाली गई है।

☐ सामान्यतया पंच महाव्रतों (हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-ममत्व का सर्वथा तीन करण तीन योग से त्याग करना) का पालन करने वाला ही श्रमण या साधु कहलाता है।

☐ कैसी भी विषम परिस्थिति हो, कैसा भी विकट वातावरण हो, श्रमण विषमभाव में प्रवेश नहीं करता।

☐ श्रमण का अर्थ है, अपने उत्थान या विकास के लिए दूसरों पर निर्भर न रहकर स्वय श्रम करने वाला, तप करने वाला।

☐ 'समण' सभी प्राणियों के प्रति समानभाव से 'अणति' अर्थात् व्यवहार करना है।

☐ श्रमण वह है, जिसके लिए न कोई अप्रिय है और न ही कोई प्रिय!

☐ जो पाप-मना न हो, जिसके मन के किसी कोने में पाप का निवास न हो, तथा जो स्वजन-परजन के प्रति सम हो, वही श्रमण है।

☐ श्रमणों की सेवा से, उनके सान्निध्य से श्रमणोपासक में समभाव, प्रशमभाव, आत्मसमभाव स्वाभाविक रूप से आ जाता है।

☐ वस्तुत. श्रमणोपासक श्रमण के वेष, क्रिया या व्यक्ति विशेष का उपासक नही होता, वह श्रमणत्व या साधुत्व का उपासक होता है।

☐ श्रमणत्व तो एक प्रकार का भाव है, और भाव अन्तर् की वस्तु है।

☐ उपासना तभी हो सकती है, जब उपास्य प्रत्यक्ष हो।

☐ श्रमणोपासना केवल शरीर से ही हो सकती हो, ऐसी बात नही है। मन, वचन, तन, और धन आदि कई साधन है, जिनसे श्रमणों की सेवा उनकी साध्वाचार-मर्यादा से अनुकूल हो सकती है।

☐ जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल सकते है, वैसे ही श्रमणोपासक का कर्तव्य है, स्वयं श्रमणोपासक बने और अनेक सद्गृहस्थों के जीवन में प्रेरणा देकर श्रमणोपासना का दीपक जलाए।

☐ श्रमण और श्रमणोपासक दोनों का जोड़ा है, दोनों का उपास्य-उपासक सम्बन्ध है, इसी प्रकार एक-दूसरे के साथ साहचर्य सम्बन्ध भी है।

☐ श्रमणवर्ग के तप, संयम एवं महाव्रतों को उज्ज्वल रखना भी एक तरह से उसकी महती सेवा है।

☐ श्रमणोपासना का एक महान् उद्देश्य श्रमणोसक की अपनी आत्म-शुद्धि भी है।

☐ श्रावक-धर्म—व्रताचरण करने वाला ही वास्तव में श्रावक है।

☐ श्रावक श्रद्धापूर्वक जिनवाणी का श्रवण करता है।

☐ कई श्रावक पथ की तरह सीधे सरल एवं जिज्ञासु होते हैं, वे विवेकी भी होते है।

☐ कई श्रावक पताका के समान होते हैं, वे जिधर की हवा बहती है, उधर ही चल पड़ते हैं।

☐ तीसरे प्रकार के श्रावक ठूंठ के समान अक्खड होते हैं, वे किसी के समाने झुकते नही, उनमें जिज्ञासा या नम्रता नहीं होती।

☐ चौथे प्रकार के श्रावक तीखे काँटे के समान चुभनेवाले और दुःख देने वाले होते है।

☐ श्रावक ऐसा श्रोता न हो, जो इस कान से सुने और उस कान से निकाल दे। वह श्रद्धापूर्वक जमकर, एकाग्र होकर सुने।

☐ सच्चा श्रावक प्रवचन श्रवण के समय दुनियादारी की बातों में अपने मन को नही उलझाता।

☐ श्रावक सुपात्र, अनुकम्पापात्र, तथा मध्यमपात्र आदि के पुण्यकार्य में दान देने में जरा भी विलंब नही करता, नही हिचकता।

☐ श्रावक इतना उदार होता है कि वह आवश्यकतानुसार निःस्वार्थ भाव से, बिना किसी प्रसिद्धि या आडम्बर के अपने धन और साधनों को लुटाता रहता है।

☐ श्रावक इतना मिथ्याग्रही या जिद्दी नही होता कि वह पकड़ी हुई बात को मिथ्या सिद्ध होने पर भी न छोड़े।

☐ श्रावक इतना विवेकशील होता है कि वह किसी भी पापकार्य में भाग नही लेता।

☐ जब भी पुण्यकार्य का अवसर आता है तो श्रावक उसमे नहीं चूकता।

☐ श्रावक अपने पूर्वकृत पापकर्मों को काटने के लिए दान, शील, तप और भाव का आचरण करता रहता है। वह अपने जीवन में हर बात पर संयम रखता है।

☐ श्रावक अन्याय, अनीति, अधर्म और पाप के पथ पर कदम नहीं रखता।

☐ श्रावक को गृहस्थधर्मी और उपासक भी कहते हैं।

☐ श्रावक को देशविरति, विरताविरति, संयमासंयमी और व्रताव्रती भी कहते हैं।

☐ यदि श्रावक सर्वथा अव्रती या असयमी होता तो उसे व्रताव्रती या संयतासंयमी न कहा जाता।

☐ आचार्य समन्तभद्र ने तो श्रावक को 'रत्नकरंडक' (रत्नों का पिटारा) कहा है।

☐ जो अहिसा और सत्य को हितकर समझकर हिंसा आदि के बंधनों को पूर्णतया तोड़ने की उच्च भावना रखते है, और क्रमशः तोड़ते भी है, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य है।

☐ जो श्रावक मिथ्यात्व एव अविरति आदि में पड़े है, वे आर्य-जीवन वाले नही है।

अणुव्रत : विश्लेषण

१. अहिसा का सार्वभौमरूप

☐ अहिसा विश्वव्यापी है, मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है।

☐ अहिसा के विना मानव का कार्य एक दिन भी नही चलता और न चला है।

☐ कदम-कदम पर मनुष्य अहिसा देवी की मनोती करके अपने जीवन की सुरक्षा करता रहा है।

☐ क्षण-क्षण में अध्यात्मसाधक ने अहिसा भगवती की चरणरज सिर पर चढ़ाई है।

☐ अहिसा भगवती है, वह भयभीतों को अभयदान देनेवाली है, त्रस्तों

को त्राण देने वाली है, आश्रितों को शरण देने वाली है। मानव जाति के लिए संजीवनी बूटी है।

☐ अहिंसा माता के समान सभी प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा संसार रूपी मरुस्थली में अमृत की नहर है।

☐ अहिंसा दुःखरूपी दावानल को विनष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों की घनघोर घटा है। अहिंसा भवभ्रमण रूपी रोग से पीड़ित जनों के लिए उत्तम औषध है।

☐ हिंसा विष और अहिंसा अमृत है।

☐ हिंसा मृत्यु और अहिंसा जीवन है।

☐ संसार में जो थोड़ी-बहुत सुख-शांति है, अमनचैन है, सुव्यवस्था है, वह सब अहिंसा-माता की ही बदौलत है।

☐ अहिंसा परमधर्म इसलिए है कि अहिंसा प्राणिमात्र का धर्म है।

☐ व्रत के रूप में न सही, किन्तु जीवन की सुरक्षा से रूप में दूसरे प्राणी भी जाने-अनजाने अहिंसा का-सा व्यवहार किया करते है।

☐ श्रमण सस्कृति का मूल स्वरूप अहिंसा है, सत्य आदि उसका ही विस्तार है, ब्रह्मचर्य उसकी संयम-साधना है। अस्तेय और अपरिग्रह उसका तप है।

☐ अहिंसा के अतिरिक्त जितने भी व्रत है, वे सब अहिंसा के ही पोषक है, अहिंसा से ओतप्रोत होते हैं।

☐ वह सत्य भी सत्य नही है, जो दूसरों के जीवन के साथ खिलवाड करता हो, किसी की आत्मा को कष्ट पहुँचाने वाला हो।

☐ अहिंसा की जहाँ रक्षा न हो, वहाँ बोला गया सत्य वास्तव में सत्य नही कहलाता।

☐ जिस सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह के साथ अहिंसा नहीं है, वहाँ वह सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या अपरिग्रह निष्प्राण है, औपचारिक है, दिखावटी है।

☐ अहिंसा के बिना न नैतिकता जीवित रह सकती है और न ही आध्यात्मिकता।

☐ अहिंसा माता की गोद मे बैठकर ही मनुष्य सुख की सास ले सकता है।

□ पशुता से ऊपर उठकर मनुष्यता को अपनाने के लिए अहिंसा का अवलम्बन लेना अनिवार्य है।

□ धर्म का लक्षण, स्वरूप, आधार या मूल केन्द्र जो कुछ भी कहें अहिंसा है।

□ अगर धर्म, मत या पंथ में अहिंसा की भावना अठखेलियाँ नहीं कर रही है तो वह धर्म नहीं है।

□ जिस मत या पंथ या सम्प्रदाय में मनुष्य में निहित स्वाभाविक करुणा, दया, सेवा. सहानुभूति आदि कोमल भावों को अंकुरित होने की प्रेरणा है, वहाँ धर्म की आत्मा सोलह आने खिल रही है।

□ सभ्यता, संस्कृति, परम्परा, मान्यता, धर्मसंस्था आदि सब की यथार्थता को परखने के लिए हमारे यहाँ एक ही थर्मामीटर है—अहिंसा का।

□ मानव धर्म के शिशुकाल को जैन परिभाषा में अकर्मभूमि या यौगलिक धर्म कहते है।

□ पारिवारिक जीवन की पूरी कल्पना अहिंसा के क्रान्तिकारी स्वरूप का द्योतक है।

□ मानव के सर्वांगीण जीवन को सुखद, सरल, आनन्दमय एवं निश्चिन्ततापूर्वक बिताने के लिए ही अहिंसा को स्वीकार किया गया था।

□ मानव-हृदय की आन्तरिक सहृदयता, सद्‌भावना एवं सहिष्णुता की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है। यह व्यापक प्रगति परिवार, समाज, राष्ट्र के उद्‌भव एवं विकास का मूल है।

□ यौगलिक काल में मानव की सम्पूर्ण इच्छाएँ कल्पवृक्षों से तृप्त होती थी।

□ मानव-जीवन के विकास का इतिहास पुकार-पुकार कर कह रहा है कि मानव संस्कृति के सूत्रधार ऋषभदेव तीर्थंकर ने मानव को अहिंसा के द्वारा सुख-शांतिपूर्वक जीने का महामंत्र दिया।

□ अहिंसा आत्मदर्शन का मूल है।

□ जब तक आत्मा एक रूप है, एक समान है, तथा अपनी आत्मा के समान विश्व के प्राणिमात्र को समझो यह सिद्धान्त नहीं अपनाया जाता, तब तक अहिंसा व्यवहार में उत्तर नहीं सकती।

□ विभिन्न आत्माओं के मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं है।

□ विश्व के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा की गारण्टी, सृजनात्मक स्वातन्त्र्य का विश्वास आत्मौपम्यदृष्टिमूलक अहिंसा ही दिला सकती है।

☐ प्राणिमात्र के साथ मनुष्य द्वारा कल्पित इन औपचारिक भेदों को मिटाकर अभेद भावना स्थापित करना अहिंसा का ही कार्य है।

☐ 'संसार भर के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो', यही अहिंसा की श्रेष्ठ व्याख्या है।

☐ अहिंसा के साधक को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरे निमित्त से किसी को कष्ट न हो।

☐ जीवों का स्वभाव परस्पर एक-दूसरे का उपकारक होना है।

☐ अगर समाज और राष्ट्र के विचारक मनीषी ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, नीति और अध्यात्म का दर्शन न देते तो मनुष्य जितना भौतिक विकास कर पाया है, उतना विकास अकेला कदापि नही कर सकता था।

☐ संघर्ष की अपेक्षा सहयोग ही मानव-जीवन में अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

☐ हिंसा से कभी अच्छा परिणाम नही आता।

☐ जिस दयामय व्यवहार को तुम अपने लिए पसन्द करते हो, उसे दूसरे भी पसन्द करते है; जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए नही चाहते, उसे दूसरा भी नहीं चाहता, यही जिनशासन का सार है।

☐ आत्मौपम्य दृष्टि ही अहिंसा की जननी है।

☐ अगर तू अहिंसा का साधक है तो संसार के सभी प्राणियों की आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझ।

☐ लोकतंत्रीय राज्य प्रणाली अहिंसा की दिशा में एक सुन्दर कदम है।

☐ जब तक सभी राष्ट्र निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया को पूरी तरह से न मान ले, तब तक युद्ध का खतरा बना रहता है।

☐ विश्व शान्ति अहिंसा और अहिंसक उपाय के जरिये ही स्थापित हो सकती है।

☐ न केवल भारत किन्तु सारे विश्व का कल्याण और भविष्य अहिंसा के अवलम्बन में ही सुरक्षित है।

☐ अहिंसा व्यापक जन समाज के जीवन-यापन के लिए एक निश्चित विधान है।

☐ विज्ञान ने नये-नये अद्यतन साधन प्रस्तुत करके मानव के बाह्य

जीवन-स्तर को तो ऊपर उठाया है, लेकिन साथ ही विज्ञान ने मनुष्य को हाथ-पैरों से काम करने की शक्ति कम कर दी, मनुष्य विज्ञान का सहारा लेकर आलसी और परावलम्बी वन गया।

☐ यदि अहिंसा के साथ विज्ञान की शक्ति जुड़ जाएगी तो दुनिया में स्वर्ग लाने की जो बात ईसामसीह ने कही है, उस स्वर्ग को हम साकार कर सकेंगे।

☐ मनुष्य अगर सुख-शान्ति चाहता है तो दुःख और अशान्ति की जन्मदात्री हिंसा को छोड़े और अहिसा को अपनाए।

☐ हिसा से मनुष्य का हृदय कुण्ठित, अप्रसन्न एवं भयभीत रहता है। हिसा का सहारा लेकर कोई भी स्थायी रूप से सुख-शान्ति और जीवन-सुरक्षा नही पा सकता। अतः अहिंसा ही सर्वतोभावेन मनुष्य के लिए ग्राह्य है।

☐ आदर्श गृहस्थाश्रम का जीवन जीने के लिए सर्वप्रथम अहिंसा व्रत को स्वीकार करना आवश्यक बताया गया है।

२ श्रावक की अहिंसा-मर्यादा

☐ अहिसा इतनी विराट है कि इसकी विराटता को पूर्णरूप से छूने में सभी व्यक्ति समर्थ नही हो सकते।

☐ अहिंसा कोई अव्यावहारिक या आदर्श की ही वस्तु नहीं है, कि जिसके ग्रहण कर लेने पर मानव-जीवन चारों तरफ से जकड़ जाय, कही से ही रास्ता न मिले।

☐ रुचि आदि की भिन्नता, परिस्थिति और शक्ति आदि की पृथक्ता के कारण अहिसा की विभिन्न श्रेणियाँ है, जिनका पालन अमुक-अमुक श्रेणी के साधक को करना अनिवार्य होता है।

☐ मन, वचन, काया से कृत, कारित और अनुमोदित तीनों प्रकार से हिसा का सर्वथा त्याग और अहिंसा का सर्वथा पालन साधुवर्ग के लिए अभीष्ट है।

☐ जीव को जीव न मानने वाला, उसकी हिसा करके जीवहिंसा के पाप का भागी होने से बच नहीं सकता।

☐ सूक्ष्म जीवों को माने बिना ससार का अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा, ससार जीवशून्य हो जाएगा।

☐ सूक्ष्म जीवो की गिनती नही हो सकती, वे अनन्त है।

☐ शास्त्रकारो ने श्रावक को अहिसा-पालन में किसी प्रकार की अड़चन न हो, इस दृष्टि से स्थूल हिसा भी दो प्रकार की बताई है—संकल्पजा और आरम्भजा।

☐ मारने की भावना से, समझ-बूझकर किसी निर्दोष-निरपराध त्रस प्राणी की निष्प्रयोजन हिसा करना, संकल्पजा हिसा है।

☐ मकान बनवाने, पृथ्वी खोदने, हल जोतने आदि विविध आरम्भ के कार्यो में त्रस जीवों की हिसा हो जाना आरम्भजा हिसा है।

☐ आचार्यो ने श्रावक की अहिसा की मर्यादा को स्पष्टतः समझाने के लिए हिंसा के चार भेद किए है—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगिनी और विरोधिनी।

☐ श्रावक निरपराधी की हिंसा का त्यागी है, सापराधी हिसा का नहीं।

☐ मरने का नाम भी किसी को अच्छा नही लगता, मारना तो बहुत ही भयंकर चीज है।

☐ एक हिंस्र जीव के मारने से अनेक जीवों की रक्षा होगी, यह भी धारणा निर्मूल है।

☐ आज देखा जाय तो मनुष्य इन सिह, साँप, बाघ, चीते और भेड़ियों आदि से भी भयंकर व जहरीला बना हुआ है।

☐ मनुष्य आज अपने स्वार्थो का कैदी बना हुआ है। उसे अपनी ही भूख-प्यास, स्वार्थ, वासना, सुख-सुविधाएँ नजर आती है।

☐ हिस्र प्राणियों को मारने की अपेक्षा उनकी हिसावृत्ति सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए।

☐ अपने स्वार्थ के लिए पहले तो पशुपक्षियों की संख्या बढ़ाना, फिर उनका घात करना यह कहाँ तक न्यायोचित है ?

☐ यदि ये मनुष्य सचमुच मानव-जाति की भलाई करना चाहते है, तो उसमें फैल हुए रोग, अभाव, युद्ध, घृणा, संघर्ष आदि से छुटकारा दिलाएँ।

☐ पशुवध के लिए आदेश देने वाला, मारने वाला, मांस काटने वाला,

वेचने और खरीदने वाला, पकाने, परोसने और खाने वाले, ये आठों व्यक्ति हिसा दोष के भागी होते है। श्रावक के लिए यह भी संकल्पी हिसा है।

□ औषधियों के लिए जीव-जन्तुओं का वध करना भी संकल्पी हिसा है।

□ मनोरंजन के लिए पशु-पक्षियों को लड़ाना भी हिंसा है।

□ स्वय हिसा न करने पर भी कराने व अनुमोदन का भयंकर पाप लगता है।

□ देवता, धर्म, अतिथि या पूज्य किसी के लिए भी जीव हिसा करना उचित नहीं है। हिंसा कभी अहिंसा नहीं बन सकती, फिर जो संकल्प करके मारने की बुद्धि से हिसा की जाती है, वह तो तीन काल में भी अहिंसालक्षी हो नही सकती।

□ जानवूझकर किसी जीव को मारना या अकारण ही कष्ट पहुँचाना कभी अहिंसा नही हो सकती।

□ धर्म-ग्रन्थों से पशुवध का कहीं समर्थन नहीं मिलता।

□ स्वार्थ का पोषण करने के लिए या धन कमाने के लिए मन्दिरों, धर्मस्थानों या देवी-देवस्थानों में पशु-पक्षीवध करना भी घोर हिंसा है।

□ क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या या प्रतिशोध के वश शारीरिक मानसिक कष्ट देना हिसा है। श्रावक के लिए इस प्रकार की घृणित और घोर हिसाएँ त्याज्य है।

□ मुकदमेबाजी से द्रव्यहिसा से कई गुनी तो भावहिंसा हो जाती है। श्रावक ऐसी संकल्पी भावहिंसा को कदापि नहीं अपना सकता।

□ कई जातीय एवं सामाजिक कुप्रथाओं के पोषण से केवल शारीरिक हिसा ही नही, मानसिक हिंसा भी होती है। श्रावक के लिए ऐसी संकल्पी हिसा सर्वथा त्याज्य है।

□ आर्तध्यान करने से मानसिक हिंसा होती है।

□ धन, स्त्री, सन्तान आदि का अपहरण करना भयंकर हिंसा है। धन का लोभ ऐसा पिशाच है, जो वड़े-वड़े अनर्थ करवा देता है। धर्मात्मा श्रावक को ऐसी संकल्पी हिंसा से वचना आवश्यक है।

□ कटु मर्मस्पर्शी वचन और मिथ्यारोप वहुत वड़ी हिंसा है। श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

☐ राजनैतिक हिंसा का त्याग करना श्रावक को लाजिमी है ।

☐ दया के लिए हिंसा भी घोर अनर्थकारिणी है ।

☐ कष्ट से छुटकारा पाने के लिए अपने प्राणों का घात करना अपने प्रति दया नहीं है, बल्कि आत्महिंसा है ।

☐ अकाल में ही किसी के प्राणों का वियोग कर देना श्रावक के लिए ठीक नहीं है ।

☐ धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक जीव को जो भी कष्ट मिलता है, वह उसके पूर्वकृत पापकर्मो के फलस्वरूप मिल रहा है ।

☐ श्रावक का कर्तव्य यह है कि कष्ट पा रहे जीव यदि मानव हो तो उन्हे समभाव से कष्ट सहने की वृत्ति के लिए प्रेरणा दी जाए, उनको सेवा-शुश्रूषा की जाए, उन्हें भरसक सुख-शांति पहुँचाई जाए ।

☐ मरते समय जिसकी जो लेश्या या भावना होती है, तदनुसार ही उसकी गति होती है ।

☐ जाति के नाम पर हिंसा की आग भड़कती है ।

☐ वर्तमानयुगीन श्रावक बाहर से अहिंसा का आवरण ओढ़े हुए है ।

☐ भीतर से श्रावक अहिंसा का पथिक है, और बाहर से जातिवाद, सम्प्रदायवाद, राष्ट्रवाद, प्रान्तवाद आदि के मोह. अहंकार और पशुबल पर उसके जीवनरूपी अश्व का चरण टिका हुआ है ।

☐ श्रावक को विवेकी और दीर्घद्रष्टा वनकर संकल्पी हिंसा के इन रूपों से वचना चाहिए ।

३. अहिंसा की मंजिल : श्रावक की दौड़

☐ जितनी आवश्यकताएँ कम होगी, उतनी ही दौड़-धूप कम होगी और उसी अनुपात में हिंसा भी कम होगी, सद्विवेकी गृहस्थ वेकार की चीजों और अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करके नही रखेगा ।

☐ अहिंसा का पालन विवेक से होता है ।

☐ रात्रि-भोजन करने में किसी न किसी त्रस जीव की विराधना होने की सम्भावना रहती है ।

☐ आलस्य और प्रमाद में पड़ने से आरंभजन्य हिंसा से छुटकारा नही मिल सकता।

☐ कषाय वृद्धि ही भावहिंसा का मुख्य कारण है।

☐ आरम्भी हिंसा तो लाचारीवश होती है।

☐ निष्प्रयोजन भोजन समारम्भ करके श्रावक आरंभी हिंसा की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है।

☐ अहिंसा धर्म का ज्ञाता और मोक्ष का अभिलाषी श्रावक स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा न करे।

☐ जहाँ स्थावर हिंसा शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक नही है, श्रावक को उसका त्याग करना चाहिए।

☐ जैन धर्म ने श्रावक को भविष्य में होने वाली आरम्भी हिंसा से बचने के लिए कुछ हिदायतें दी हैं, वह उन पर चले तो श्रावक जीवन में भी अहिंसा का आराधक हो सकता है।

☐ जो वस्तु संकल्पपूर्वक पचेन्द्रिय वध से, पचेन्द्रिय कलेवर से निष्पन्न हुई है उसे, अथवा रात-दिन अनेक त्रसजीवों के वध से निष्पन्न हुई है उसे महारम्भजनित समझना चाहिए।

☐ जो वस्तु एकेन्द्रिय जीवों के वध से निष्पन्न हुई है, उसे अल्पारम्भ मानना चाहिए, अथवा स्वय मरे हुए त्रसजीवों से निष्पन्न हुई हो, वह भी अल्पारम्भ में मानी जा सकती है।

☐ अहिंसा धर्म के पालन की परीक्षा तो सकट काल में ही होती है।

☐ लाचारीवश व्यवसाय में कहीं हिंसा हो जाय तो वह उद्योगी हिंसा है, और उससे श्रावक का अहिंसाणुव्रत भंग नहीं होता है।

☐ चार वर्ण उद्योग-धन्धों या व्यवसायों अथवा आजीविका के लिए कर्तव्यों का वर्गीकरण करने हेतु बनाए गए थे, वे कोई ऊँच-नीच या छुआ-छूत के भेद डालकर आपस में लड़ने-भिड़ने के लिए नही बनाए गए थे।

☐ राज्यलिप्सा के वशीभूत होकर दूसरे निर्दोष राज्यों पर लड़ाई करना कैसे उद्योगी हिंसा में आ जाएगा? यह तो सरासर महारम्भ है, महाहिंसा है।

☐ जैन धर्म का सारे संसार के लिए यही सन्देश है, कि—संसार के सभी मनुष्य समान हैं, चाहे वे किसी देश, प्रान्त, जाति, धर्म और संस्कृति में पैदा हुए हों, मनुष्य के रूप में एक हैं।

□ जैन धर्म किसी भी जनसेवा को दृष्टि से किये जाने वाले व्यवसाय को छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा या अपवित्र-पवित्र नही बताता। वह तो एक ही दृष्टि देता है—कर्मादान जैसे महारम्भी धन्धों के सिवाय कोई भी सात्विक अल्पारम्भी धन्धा हो।

□ जो निन्दित, घृणित, नीतिविरुद्ध, समाजघातक, राष्ट्रघातक व्यवसाय या कर्म है, वे अनार्यकर्म है। इसके उपरान्त जो कर्म महारम्भ वाले है, जिनमें अनापसनाप हिसा होती है, ये सब अनार्यकर्म हैं।

□ सात्विक आजीविका प्राप्त करने वाले कर्म अल्पारम्भी-अल्पसावद्य आर्यकर्म है।

□ कृषि तो मांसाहार और शिकार की ओर जाते हुए मानव-समाज को रोकने वाली अहिसा की प्रतीक है। वह कदापि श्रावक के द्वारा की जाने पर महारम्भ नही हो सकती।

□ शरीर की खुराक के लिए रोजी और रोटी दो माध्यम हैं।

□ उस रोजी और रोटी में आनन्द आता है जो स्वयं न्याय-नीति-पूर्वक पुरुषार्थ करके प्राप्त की गई हो।

□ जहाँ दूसरो का शोषण करके, दूसरों पर अन्याय, अत्याचार करके धोखेबाजी से रोटी और रोजी कमाई जाती हो, वहाँ पर हिंसा उद्योगिनी न होकर सकल्पी बन जाती है।

□ जो रोजी, रोटी अल्पारम्भ से प्राप्त हुई हैं, स्वय के श्रम से प्राप्त है, सात्विक है, ऐसी स्व-पर-हितकारक, आत्मा और शरीर दोनों के लिए पोषक रोजी-रोटी ही श्रावक की अहिसा की मर्यादा में है।

□ जैन धर्म ने श्रावक की अहिसा की मर्यादा के सन्दर्भ में एक बात स्पष्ट कर दी है कि वह किसी भी निरपराधी की हिसा नही कर सकता।

□ श्रावक के सामने आदर्श तो यह है कि किसी भी स्थूल (त्रस) जीव की हिसा न की जाय।

□ किसी भी व्रत-नियम का साधक अपनी शक्ति, उत्साह, श्रद्धा और स्वास्थ्य को देखकर, तथा क्षेत्र और काल को विशेष रूप से जानकर तभी उसमें अपने आपको जुटा दे।

□ साधारणतया आम लोगों की यह गलत धारणा बन गई है कि अहिसा में कोई शक्ति नही है, जो कुछ शक्ति है, वह हिसा में है।

☐ कुछ लोग यह भी कह देते हैं कि जैनों की अहिंसा के कारण भारत में कायरता और दुर्बलता आई, भारत पराधीन हुआ।

☐ भौतिक दृष्टि वाले लोगों की नजरों में आगे बनाने का अर्थ है—वैभव पा लेना, सत्ता हथिया लेना और अकरणीय कार्य सफल हो जाना।

☐ हिंसा पशुबल की परिचायिका है। वह भौतिक पाशविक शक्ति है।

☐ हिंसा की शक्ति भले हिंसक के हाथ में रहे, अहिंसा को इस पाशविक शक्ति की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसमें शारीरिक बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती।

☐ अहिंसा आत्मा का गुण है, इसलिए अहिंसा अपने आप में आत्मा की शक्ति है।

☐ अहिंसा की आत्मशक्ति के सामने हिंसा की पाशविक या भौतिक शक्ति की सदा पराजय हुई है।

☐ अहिंसक के पास जो नैतिक शक्ति है, वह हिंसक के पास हो नहीं सकती।

☐ हिंसा से प्रतिहिंसा की परम्परा चलती है, जबकि अहिंसा से प्रेम की परम्परा।

☐ हिंसा से बहुधा क्षणिक सफलताएँ मिलती है। उससे अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। हिंसा अव्यावहारिक भी है।

☐ हिंसा में विरोधी को परिवर्तित करने के बजाय, उसका सफाया कर देने का प्रयत्न होता है।

☐ जितनी निष्ठा से अहिंसा का प्रयोग किया जाएगा, उतना ही अधिक उसकी शक्ति का पता लगेगा।

☐ मात्र सैद्धान्तिक अहिंसा में प्रकट शक्ति नही होती, प्रकट शक्ति होती है प्रायोगिक अहिंसा में। और वह आती है, अन्तर् वृत्तियों के व्यूह को भेदकर।

☐ अहिंसा के अस्त्र की शक्ति अप्रतिहत होने पर ही उसकी शक्ति का अंदाजा लोग लगा सकते हैं।

☐ वीरशिरोमणि ही अहिसा का धारण एव पालन कर सकता है, कायर अहिसाधारी नही कहला सकते।

☐ बलिदान और उत्सर्ग या स्वार्पण के बिना अहिसा जीवित नही रह सकती, और न ही अहिंसा की अप्रतिहत शक्ति प्रकट हो सकती है।

☐ अहिसा क्षात्रवृत्ति में है। वीरोचित अहिसावृत्ति इसीलिए महँगी है कि इसमे खुद को मिटाकर-बलिदान करके विरोध करना पड़ता है।

☐ मै बच जाऊँ और अहिसा की ओट में अपने बचाव के सब साधन जुटा लूँ, यह तरीका कायरता का है, जो सरासर हिंसा है।

☐ भगवान महावीर ने अपने जीवन में त्याग, स्वार्पण, बलिदान, व्यत्सर्ग और कायोत्सर्ग का समावेश कर यह बता दिया कि अहिंसा में महान् शक्ति है।

☐ हृदय परिवर्तन की महान शक्ति अहिंसा में छिपी पड़ी है।

☐ अहिसा में जमी हुई कुण्ठा को दूर करने के लिए सर्वप्रथम उसे सिद्धान्त के घेरे से निकालकर व्यावहारिक रूप देना होगा।

☐ अनैतिक साधनों से नैतिक लक्ष्यों की सिद्धि नही हो सकती।

☐ अहिसा की शारीरिक शक्ति से अहिसा को आत्मिक-शक्ति का मुकाबला होने पर ही अहिंसा की अप्रतिहत शक्ति का परिचय लोगों को मिल सकता है।

☐ डरा हुआ मनुष्य कौन सी धर्मसाधना कर सकता है? कायर की अहिसा भी कोई अहिसा है?

☐ भगवान महावीर ने तप-त्याग सिखाया। अपने राष्ट्र के लिए गाँधी जी ने मरना सिखाया, समाज को अहिसक बनाया।

☐ श्रावक को अपनी शक्ति, परिस्थिति देखकर सम्भव हो सके तो विरोधी के प्रति किंचित् भी रोष, द्वेष न रखते हुए अहिसात्मक प्रतिकार का कदम उठाना चाहिए।

☐ भौतिक क्षेत्र में अपराधपरायण तामस लोगों के लिए शक्ति का प्रतिकार शक्ति है।

☐ अहिसा एक परम धर्म है, लेकिन स्वार्थलोलुप, क्रूर व्यक्तिओ के पंजो से समाज और राष्ट्र को बचाने के लिए युद्ध एक बुराई होते हुए भी अनिवार्य रूप ले लेता है।

☐ भगवान महावीर ने हिसात्मक सशस्त्र प्रतिकार के लिए एकान्त निषेध का आग्रह नही किया।

☐ समर भूमि मे युद्ध के समय श्रावक अपना जौहर दिखाने में कभी पीछे नही हटता। मगर अपने सध्याकालीन प्रतिक्रमण आदि नित्य नियम को भी नही छोड़ता।

☐ हिंसा-अहिंसा का केवल वर्तमान पक्ष ही नही, भविष्य पक्ष भी देखना आवश्यक है।

☐ अहिंसा का साधक यदि उसे अन्याय, अत्याचार का न्यायोचित प्रतिकार करना पड़े तो अवश्य करता है, लेकिन अहिंसा को भूलता नहीं।

☐ जैन धर्म श्रावक को अनिवार्य स्थिति में अपराधी को दण्ड देने से इन्कार नहीं करता, परन्तु दण्ड के साथ ही अपराधी के प्रति करुणा एवं वात्सल्य-भाव होना चाहिए।

☐ अहिंसा का साधक यथासभव अहिंसा से काम लेगा, परन्तु इससे सफलता न मिलने पर अल्प से अल्पतर हिंसा (दण्डनीय या विरोधी के प्रति द्वेष बुद्धि न रखते हुए) का पथ चुनेगा।

☐ अहिंसा का दर्शन हृदय-परिवर्तन का दर्शन है।

☐ अहिंसा मारने की नही, सुधारने की दृष्टि है।

☐ संहार नही, सर्जन हो, यही अहिंसात्मक दण्ड का उद्देश्य है।

४. सत्य : जीवन का सम्बल

☐ अहिंसा के बाद सत्य का क्रम इसलिए बताया है कि सत्य की आराधना के विना अहिंसा की आराधना परिपक्व नहीं हो सकती।

☐ अहिंसा की उर्वराभूमि में ही सत्य का पौधा उग सकता है और पनप सकता है, इसी तरह सत्य की नीव पर ही अहिंसा आदि अन्य व्रतों का प्रासाद सुदृढ़ रूप में चिरस्थायी हो सकता है।

☐ विस्तृत आध्यात्मिक जीवन-जगत में उड़ान भरने के लिए मनुष्य के पास अहिंसा और सत्य रूपी दोनों पाँखों का मजबूत और सुरक्षित होना आवश्यक है।

☐ सत्य को ठुकराकर कोरी अहिंसा को अपनाना प्रकाश को छोड़कर केवल तेल से भरी दीवट को अपनाना है।

☐ सत्य और प्रेम ये दो संसार की सबसे अधिक शक्तिशाली वस्तुएँ हैं।

☐ मनुष्य-जीवन की नींव सत्य पर टिकी हुई है। सत्य ही सारे जीवन और सारी सृष्टि का एक मात्र आधार है।

☐ जिस सुन्दरतम और श्रेष्ठतम आधार पर मनुष्य को अपना जीवन अवस्थित करना चाहिए, वह है –सत्य।

☐ सत्य सारे साधनो की आधारशिला है। एक सत्य का आधार ही व्यक्ति को संसार-सागर से पार कर देता है।

☐ सत्य समुद्र में नौका के समान स्वर्ग का सोपान है।

☐ सत्य से भिन्न जो भी है, वह शून्य है, मिथ्या है, असत्य है।

☐ सत्य का निकल जाना, शरीर में से प्राणों का निकल जाना है।

☐ आत्मा का आनन्द तो सत्य ही है।

☐ जब तक मनुष्य की जिन्दगी में सत्य की गर्मी रहती है, तब तक उसमे साधुपन या श्रावकपन टिक सकता है।

☐ धूए के बादल बरसने के लिए नही, बिखरने के लिए होते है।

☐ सत्य हो तो दूसरे दुर्गुण भी दूर हो सकते है।

☐ महाव्रत भग जैसे भयंकर घाव को भी सत्य हो तो दुरुस्त किया जा सकता है, सत्य के मरहम से।

☐ पाप को स्वीकार किए बिना शुद्धि कैसे हो सकती है?

☐ एकमात्र सत्य के उदित होने पर दुर्गुणो का अधेरा मिट जाता है, बशर्ते कि सत्य ठीक रूप मे जीवन के आकाश मे उदित हुआ हो!

☐ जवाहरात को परखना आसान है, मनुष्य के मनोभावों को परखना बहुत कठिन है।

☐ सन्त कितने परोपकारी होते है! वे शुभ विचार की एक किरण [illegible] देते है वह धीरे-धीरे महाप्रकाश का रूप धारण कर लेती है।

☐ सत्य तो स्वयंभू सर्वशक्तिनिधान और स्ववीर्यगुप्त (रक्षित) कहा जाता है। सत्यपालन से उत्पन्न होने वाला बल बिलकुल अनोखा होता है।

☐ सत्य ही महान है और सत्य शक्तिशाली है।

☐ क्या मनुष्य धन के बल पर मृत्यु को खरीद सकता है? संयम को [illegible] सकता है? धन के बल पर मनुष्य बुद्धि विद्या, योग्यता आदि भी नहीं प्राप्त कर सकता।

☐ [illegible] सत्य बल ही ईश्वरीय [illegible] [illegible] [illegible]।

☐ एकमात्र सत्य का बल ही सीता के शील और सतीत्व की रक्षा करने में समर्थ हुआ।

☐ जिसका मन सदा धर्म में लीन रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। उसके चरणों की धूल अपने सिर पर चढाते है।

☐ सत्य ही एकमात्र परम बल है जो जन्म तक काम देता है, सहयोग देता है।

☐ सत्य ही व्यक्ति के जीवन में बल एवं प्रकाश उत्पन्न करता है। सत्य के आधार पर समाज की शक्ति और क्षमता निखरती है।

☐ असत्य का आश्रय लेने से व्यक्ति, जाति, संस्था एवं समाज का अधः पतन होता है।

☐ चिरस्थायी सफलताओ का आधार सत्य है।

☐ सत्य द्वारा प्राप्त आत्मबल को वर्तमान युग की भाषा में सत्याग्रह कहते है।

☐ दुनिया का कोई भी बल सत्यबल की तुलना नहीं कर सकता।

☐ जिसने सत्य के पालन द्वारा अपनी आत्मा को बलवान बना लिया है, मौत का भय उसे डरा नहीं सकता।

☐ सत्यनिष्ठ व्यक्ति में इतना आत्मबल होता है कि वह अकेला हजार मिथ्याचारियों से भिड़ सकता है और अन्ततः विजय प्राप्त करता है।

☐ जहाँ सत्य बल होता है वहाँ क्रूरता, अन्याय, अत्याचार, दमन आदि नहीं टिक सकते है।

☐ सत्यव्रती किसी को श्राप नहीं दे सकता, किसी का बुरा चिन्तन नहीं कर सकता, न किसी का अनिष्ट कर सकता है।

☐ भगवान महावीर ने सत्य की शक्ति से ही जनता को सत्य विचार देकर हिंसा को स्थायीरूप से मिटा दिया, जन-मानस में हिंसा के प्रति अनास्था पैदा कर दी।

☐ सत्यबली के सत्याग्रह में दूसरे के सुधार का हेतु रहता है, नाश का नही।

☐ सत्य केवल इहलोक में ही नही, परलोक मे भी प्रेरणा प्रदान करता है।

☐ सारा जीवन सत्य पर प्रतिष्ठित है।

☐ धर्म का भी आधार-बल सत्य है। सत्य के विना धर्म शून्यवत है।

☐ धर्म समाज तक पहुँचने के लिए सेतु है, तो सत्य उस सेतु के लिए खंभा है।

☐ सत्य ही पृथ्वी को टिकाए हुए है, सत्य से ही सूर्य प्रकाशमान होता है। सत्य के कारण ही वायु चलती है, संसार के समस्त पदार्थ सत्य पर आधारित हैं।

☐ सत्य का पालन प्रकृति भी करती है।

☐ वर्तमान युग की जितनी भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक अव्यवस्थाएँ हैं, वे सब सत्य का अतिक्रमण करने के कारण है।

☐ किसी भी व्यवहार में सत्य के बिना काम नहीं चलता।

☐ सत्य स्वाभाविक है, जबकि असत्य अस्वाभाविक है, वह लदा हुआ है, उसके लिए दिखावट, बनावट करनी पड़ती है।

☐ सारे सद्गुणों का सत्य में और सारे ही दुर्गुणों (दोषों) का असत्य में समावेश हो जाता है।

☐ सत्य वह तत्व है, जिसे अपनाने पर मनुष्य भले-बुरे की परख कर सकता है। हृदयगत सभी सद्गुणों के विकास की कुंजी मनुष्य की सत्यनिष्ठा में सन्निहित है।

☐ आत्मबल बढ़ाने एव ईश्वरत्व प्राप्त करने के लिए भारतीय धर्मशास्त्रों में सत्यनिष्ठा को महानतम साधना बताया गया है।

☐ जो सत्यार्थी होगा, वह कर्मठ भी रहेगा। आलस्य और विलासिता असत्य की देन है। सत्य की राह सादगी से भरी हुई है, उस पर चलने वाले न तो घमण्डी हो सकते हैं और न ही ढोंगी।

☐ यथावस्थित वस्तु स्वरूप को प्रकट करने वाला सत्य ही है।

☐ सत्य को अपनाए बिना अनन्तकाल से जीव को घेरे हुए कर्म दूर नहीं होते, कर्म दूर हुए बिना बन्धन—मुक्ति नहीं हो सकती।

☐ सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं, असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं। सत्य ही धर्म का आधार है अतः सत्य का परित्याग कदापि नहीं करना चाहिए।

☐ सत्य मानव-जीवन की अनमोल विभूति है।

☐ सत्य मानव को महानता और उच्चता के शिखर पर पहुंचाने वाला प्रशस्त और निरापद मार्ग है।

☐ सत्याश्रयी एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति निर्भय, निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व एवं सुख-शान्ति से परिपूर्ण रहते है।

☐ संसार में विद्यमान सारा का सारा ज्ञान सत्य में समाया हुआ है।

☐ समस्त ज्ञान के प्रकाश के लिए व मोह से रहित होने के लिए व्यापक सत्यदर्शन आवश्यक है।

☐ सत्यनिष्ठ व्यक्ति का अन्तःकरण दर्पण की तरह स्वच्छ एवं मस्तिष्क प्रज्ञा की तरह सन्तुलित रहता है।

☐ सत्यप्रिय व्यक्ति मिथ्यावादियों की तरह न तो कल्पना की ऊँची उडानें भरता है, और न अनहोनी कामनाएँ ही करता है।

☐ सत्य पुण्य की खेती है।

☐ सत्य की खेती भी प्रारम्भ में थोड़ा त्याग, बलिदान और धैर्य मांगती है, किन्तु जब वह फलती है तो इहलोक से परलोक तक मानव-जीवन को पुण्यों से भरकर कृतार्थ कर देती है।

५ श्रावक जीवन में सत्य की मर्यादा

☐ साधु की वाणी मे इतना गाम्भीर्य, तेज, ओज, त्याग, तप एवं शान्ति का आभास होना चाहिए, ताकि उसके शब्दों से उसकी साधुता अभिव्यक्त हो।

☐ गृहस्थ ऐसे झूठ से अवश्य बचता है जिसे व्यवहार में झूठ कहते है, जिससे दूसरे का अहित होता हो, जिससे सरकार द्वारा वह दण्डनीय हो, समाज मे निन्दित हो, दुनिया में अविश्वास का भाजन बने।

☐ श्रावक के लिए स्थूलमृषावादविरमण व्रत का धारण करना उचित और आवश्यक है।

☐ अगर आग्रहवश आवेग में आकर श्रावक स्थूल-सूक्ष्म सभी प्रकार के असत्य का त्याग कर भी लेगा तो उसे अनेक असुविधाओं का सामना करना होगा।

☐ असत्य भी हिंसा की तरह सर्वथा त्याज्य है।

☐ यदि सत्पुरुषों के मार्ग पर पूरी तरह चल सकना शक्य न हो तो, उस मार्ग का आंशिक रूप में ही अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि मार्ग पर चल पड़ने वाला कभी न कभी मंजिल पर पहुँच ही जाता है।

☐ गृहस्थ श्रावक के सामने अहिंसा और सत्य की विविध भूमिकाएँ हैं, अपनी शक्ति रुचि एवं क्षमता के अनुसार उन भूमिकाओं को पार करके वह क्रमश आगे बढ़े, यही उचित है।

☐ जैन धर्म का यही सन्देश है कि व्यर्थ में पानी की एक बूँद भी न बहाओ, मिट्टी का एक कण या वनस्पति का एक छोटा सा अंश भी व्यर्थ में खराब न करो।

☐ स्थूल असत्य का अर्थ है—जो बात, विचार या कार्य लोक-व्यवहार (आम जनता) की आँखों में, जनता में असत्य के नाम से प्रचलित है, दण्डनीय, निन्दनीय, गर्हणीय है।

☐ शास्त्र में श्रावक के लिए स्थूल सत्य के ग्रहण और स्थूल असत्य के त्याग को स्थूलमृषावाद-विरमण कहा है।

☐ सत्यव्रत में भी श्रावक के लिए प्रमाद और कषाय के योग से संकल्पी असत्य का त्याग आवश्यक है।

☐ एक आचार्य ने एकेन्द्रिय जीवहिंसा के सम्भावनासूचक वचन को भी सूक्ष्म (अल्प) झूठ कहा है।

☐ विपदग्रस्त स्थिति में असत्य की भावना न होते हुए भी जीवन-रक्षा की दृष्टि से बोला गया असत्य स्थूल असत्य में परिगणित नहीं किया गया है।

☐ गृहस्थ श्रावक स्थूल असत्य स्वयं न बोले, न दूसरे से बुलवाए। साथ ही ऐसा सत्य भाषण भी न करे, जिससे दूसरे पर मुसीबत आ पड़े।

☐ सत्य व्रत की मर्यादा में पैसों के लेन-देन, स्वार्थसिद्धि व किसी साधारण लाभ के लिए असत्य बोलना वर्जित है।

☐ अपने स्वार्थ के लिए सत्य को छोड़ देना अनुचित है।

☐ 'रहस्याभ्याख्यान' रहस्य (गुप्त) बात को प्रगट कर देना गृहस्थ के लिए सत्य व्रत का अतिचार बताया है।

☐ उस गृहस्थ के लिए वह तथ्य कथन भी असत्य हो जाएगा, यदि वह भयकर परिणाम लाने वाले, हजारों की जिन्दगी मुसीबत में डालने वाले और विग्रह खड़ा कर देने वाले सत्य का प्रयोग करता है।

☐ जहाँ हिंसा को उत्तेजना मिलती है, अहिंसा व्रत भग होता है वहाँ गृहस्थ के लिए सत्य में ये कुछ अपवाद है।

☐ श्रावक की दृष्टि आगारों (छूटों) से लाभ लेने की नहीं होनी चाहिए, उसका ध्येय तो सत्य के पूर्ण पालन का ही होना चाहिए।

☐ झूठ बोलकर जमीन बचाना, अन्याय-पूर्ण बात का समर्थन करना वास्तव में श्रावक की मर्यादा में नहीं आता। ऐसा करने पर सत्य व्रत भग होगा।

☐ सत्य व्रत में जो छूट दी गई है, वह अहिंसा की दृष्टि से, प्राणोत्सर्ग करने की अक्षमता की स्थिति में ही दी गई है।

☐ साधु को तो शरीर पर आसक्ति न रखकर सत्य के लिए प्राणोत्सर्ग करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

☐ साधु अपने शरीर पर भी किसी प्रकार का ममत्व नही लाते। शरीर रहे, चाहे जाय, उनके लिए दोनों ही स्थिति में आनन्द है।

☐ अहिंसा की मर्यादाओं की तरह सत्य की मर्यादाओं को भी सूक्ष्म प्रज्ञा से समझने की कोशिश करनी चाहिये।

☐ अपनी प्रतिष्ठा के लिए बोले जाने वाला असत्य स्थूल असत्य है।

☐ जिस कथन के पीछे कोई करुणा या अहिंसा की लहर नहीं, कोई प्रशस्त संकल्प नहीं, कोई विवेक या सावधानी नहीं, फिर भी मिथ्याभाषण किया जा रहा है, वह स्थूल मृषावाद की कोटि में आता है।

☐ सत्यव्रती श्रावक अपनी सन्तान के स्वार्थ के लिए, व्यापार के लिए, पैसों के लेन-देन के लिए या किसी को हानि पहुँचाने के लिए, प्राणों को मुसीबत में डालने वाली वाणी का प्रयोग नहीं कर सकता।

☐ अपने स्वार्थ के लिए या दूसरों के लिए पापयुक्त, निरर्थक या मर्म-भेदकवचन श्रावक को नही बोलना चाहिये।

☐ क्या बालक, क्या पुत्र-पुत्री, क्या स्त्री और क्या प्रौढ एवं वृद्ध सभी के लिए असत्य बोलना त्याज्य समझना चाहिये।

☐ जो मनुष्य कन्या के सम्बन्ध में असत्याचरण करता है, वह मातृ-जाति का घोर विरोध करता है।

☐ गृहस्थ श्रावक के लिए पुत्र-पुत्री या स्त्री-पुरुष के लिए असत्य बोलना अपराध है।

☐ गाय के विषय में झूठ बोलने का त्याग समस्त पशु-जाति के विषय में झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।

☐ संसार में ऋद्धि सिद्धि की दाता गौ ही मानी जाती है। गाय सर्वोत्कृष्ट पशु है, इसे लेकर समस्त पशुओं के लिए भी असत्य न बोलने का शास्त्रीय विधान है।

☐ भूमि के लिए स्वार्थवश, लोभ, अहंकार, छल-कपट, मोह, क्रोध आदि से प्रेरित होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से असत्य बोलना भूम्यलीक कहलाता है।

☐ श्रावक भूमि या भूमि से निकलने वाले तथा भूमि में होने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में भी सत्य ही बोलेगा, असत्य नहीं।

☐ जो अपने यहाँ रखी हुई धरोहर को न दे, अथवा जो बिना रखे ही माँगे ये दोनों चोर की तरह दण्डित किये जाने चाहिये।

☐ न्यासापहार को जैन-शास्त्रों में असत्य में इसलिए परिगणित किया गया है, क्योंकि यह कुकृत्य असत्य बोलकर ही किया जाता है।

☐ कूट साक्षी भी असत्य का एक बहुत बड़ा अंग है।

☐ कूट साक्षी का अर्थ है—किसी भय, प्रलोभन, दबाव, स्वार्थ या आदत के वश होकर झूठी गवाही देना।

☐ झूठी साक्षी निन्दित और घृणित कार्य एवं घोरातिघोर पाप है।

☐ ब्राह्मण, स्त्री और बालक के हत्यारे, कृतघ्न और मित्रद्रोही को जो लोक (गतियाँ) मिलते हैं, वे ही लोक झूठी साक्षी के रूप में असत्य बोलने वाले को मिलते हैं।

☐ जो धर्मात्मा श्रावक होते हैं, वे अपने पुत्र के भी गलत एवं अनैतिक कार्यों के विषय में झूठी साक्षी कदापि नहीं देते।

☐ असत्य के पैर हमेशा कमजोर होते हैं। असत्य में कोई बल नहीं होता।

☐ सत्यता का फल बहुत ही शुभ मिलता है।

☐ सत्यव्रती को नम्रतापूर्वक अपनी जीवनचर्या पर चिन्तन-मनन, आलोचन-प्रत्यालोचन करते रहना चाहिए।

□ श्रावक के योग्य स्थूलमृषावाद विरमण व्रत (सत्याणुव्रत) के ये पाँच अतिचार (दोष) हैं। वे आचरण करने योग्य नहीं है। उनके नाम इस प्रकार हैं—सहसाभ्याख्यान, रहस्याभ्याख्यान, स्वदारमंत्रभेद, मृषोपदेश, कूटलेखकरण।

□ किसी भी व्रत का उल्लंघन करने की चार कक्षाएँ हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार।

□ किसी व्रत को भंग करने की दुर्मति पैदा होना अतिक्रम है।

□ दुःसंकल्प को पूर्ण करने के लिए झूठ बोलने के साधन जुटाना व्यतिक्रम है।

□ कुछ अंश में व्रत का भंग करना अतिचार है।

□ वेधड़क प्रमाद और मोह के वश होकर सत्यव्रत का संकल्पपूर्वक भंग करना अनाचार है।

□ अकस्मात् आवेशवश किसी व्यक्ति पर दोषारोपण कर देना, झूठा कलंक लगा देना—सहसाभ्याख्यान नाम का अतिचार है।

□ तलवार का घाव तो मरहमपट्टी कर देने से अच्छा हो सकता है, लेकिन झूठे कलंक का घाव इतना गहरा व भयंकर होता है कि जिन्दगी भर तक अच्छा होना कठिन हो जाता है।

□ सत्यव्रतधारी श्रावकों को सहसाभ्याख्यान इस दोष से अवश्य ही बचना चाहिये।

□ वहम के विषय में गलत अनुमान लगा लेना, मन में उसके प्रति पूर्वाग्रह की गाँठ बाँध लेना, या लोगों में गलत बातें फैलाना असत्य का भयंकर दोष है।

□ व्रतधारी श्रावक-श्राविका को किसी को परस्पर बात करते देखकर सन्देह लाना और दोष लगाना उचित नहीं है।

□ अपनी पत्नी ने कुछ मर्मभरी गुप्त बात कही हो, जिसे छिपाने की आवश्यकता है, या स्वयं ने जो कुछ कहा हो, दूसरे के सामने उसे प्रगट करना स्वदारमंत्रभेद कहलाता है।

□ स्त्रियों को पराधीन बनाए रखने से ही भारत का प्राचीन गौरव छिन्न-भिन्न हो रहा है।

□ जहाँ स्त्रियों का सत्कार होता है, वहाँ देवगण रमण करते हैं।

☐ पारिवारिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों की उन्नति महिलाओं के सहयोग के बिना होना कठिन है।

☐ धन की हानि, मन का संताप, पत्नी के आचरण सम्बन्धी बात, अपनी ठगाई एवं अपमानित होने की बात बुद्धिमान व्यक्ति किसी के समक्ष प्रगट न करे।

☐ दूसरों को असत्य का उपदेश देना मृषोपदेश कहलाता है।

☐ मिथ्या उपदेश द्वारा दूसरे व्यक्ति को गुमराह कर देना, सन्मार्ग से विमुख कर देना सत्यव्रत का अतिचार है।

☐ झूठ मालूम होने पर भी जानबूझकर उस असत्य समाचार को छपवा देना अनाचार है।

☐ परीक्षा में नकल करना कूटलेखकरण है।

☐ ऐसे लेखन कार्य से बचा जाए, जो असत्य की परिभाषा के दायरे में आता है।

☐ सत्य ही जीवन का परम उद्देश्य है, वही आराध्य है, इस बात को मद्देनजर रखते हुए श्रावक को अपने जीवन में असत्य प्रतीत होने वाले विचारों, वचनों और कार्यों से अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

६. अस्तेयव्रत की साधना

☐ भारतीय संस्कृति के उन्नायकों ने मानव की श्रेष्ठता धन से नहीं, धन्य कार्यों से मानी है।

☐ चोरी करके, या अन्य अनैतिक उपायों से कमाया हुआ धन प्रतिष्ठा के योग्य नहीं होता।

☐ समाज में जब चोर, डाकू या बेईमान लोग बढ़ जाते हैं तब संकट पैदा होता है, परस्पर विश्वास कम होता जाता है, इसलिए सत्य, अहिंसा के साथ-साथ अस्तेय व्रत की आवश्यकता है।

☐ अस्तेयव्रत मनुष्य की आर्थिक दृष्टि से विशेष संबंधित है। अर्थ का मतलब है—पदार्थ।

☐ अस्तेयव्रत के विना मनुष्य पशु की तरह जीवन बिताता या दानवीय जीवन बिताता।

☐ अस्तेयव्रत की इसीलिए जरूरत है कि मनुष्य पाशविक एवं दानवीय जीवन से मुक्त होकर शुद्ध मानवीय या दिव्य जीवन व्यतीत करे।

☐ अचौर्यव्रत पालन से ही मानव समाज में सुख-शान्ति प्रवर्तित हो सकती है।

☐ अस्तेयव्रत व्यक्ति की शास्त्रीय अधिकार मर्यादा का निर्णायक है। यह मर्यादा सबके लिए हितावह है, सुख-शान्तिदायिनी है।

☐ अध्यात्म दृष्टि से देखे तो अस्तेयव्रत मानव की आर्थिक मर्यादा निश्चित करता है, जिससे समाज को असीम लाभ होता है।

☐ अस्तेयव्रत के पालन से अपने लिए संयम का लाभ और समाज के लिए समानता प्राप्त कराने में मदद के रूप में लाभ, इस प्रकार दोहरा लाभ है।

☐ अस्तेयव्रत व्यापक रूप से पालन होने लगता है तो समाज से कृपणता मिटती है।

☐ कृपण वे हैं, जो तृष्णा के अधीन होकर फलप्राप्ति के लिए कर्म करते है।

☐ फलासक्ति से कार्य करने वाला व्यक्ति दीन बनता है।

☐ फलप्राप्ति के लिए दीनता छोड़कर भिक्षावृत्ति से अस्तेयव्रत का पालनकर्ता स्वतन्त्र एवं स्वाधीन होता है।

☐ अस्तेयव्रत के पालन से समाज में चलने वाला वर्गसंघर्ष या विग्रह टल जाता है।

☐ जो अदत्त (बिना दिये) ग्रहण नहीं करता, सिद्धि उसकी अभिलाषा करती है। समृद्धि उसे स्वीकार करती है, कीर्ति उसके पास आती है, सांसारिक पीड़ाएँ उसका पीछा छोड़ देती हैं, सुगति उसकी स्पृहा करती है, दुर्गति उसे देखती भी नहीं। विपत्ति उसे छोड़ देती है।

☐ योगदर्शन में अस्तेयव्रत के निष्ठापूर्वक पालन का फल 'सर्व रत्न-प्रदाता' बताया गया है।

☐ सब व्रतों का हेतु—उद्देश्य एक ही है। वह है—देहाध्यास क्षीण करके विकारों का प्रतिबन्ध दूर करके सर्वभूतात्मभूत बनना—प्राणिमात्र के साथ अद्वैतभाव का अनुभव करना, जीवमात्र के साथ आत्मौपम्य की अनुभूति करना।

☐ अन्य व्रतों की उपेक्षा करके सिर्फ एक ही व्रत का, अथवा एक व्रत की उपेक्षा करके अन्य व्रतों का पालन करना संभव नहीं है।

☐ शेष चार व्रतों का पालन करने के लिए भी अस्तेयव्रत को धारण करना आवश्यक है।

☐ अस्तेयव्रत हमें सामाजिक धर्म का दर्शन कराता है।

☐ अचौर्यव्रत सामाजिक मर्यादाओं के पालन के लिए प्रेरित करता है।

☐ जहाँ आचरण में सत्य आ गया, वहाँ प्रामाणिकता रूप अस्तेय आ ही जाता है।

☐ जिस व्यक्ति के मन में ईमानदारी होती है, वह सारे विश्व का बन्धु हो जाता है।

☐ चोर तभी पनपते हैं, जब जगत् में बेईमानी एवं संग्रहवृत्ति बढ़ जाती है।

☐ अचौर्यव्रत का ग्रहण करने पर व्यक्ति की चिन्ताएँ घट जाती हैं। मन शान्ति का धाम बन जाता है।

☐ अचौर्यव्रती अपना ईमान नहीं खोता और न ही लोकविश्वास खोता है।

☐ भारतवर्ष की सच्चाई और ईमानदारी प्राचीनकाल से संसार भर में प्रसिद्ध रही है।

☐ हमारे अन्तस्तल में अब भी प्राचीन सदाचरण का बीज निहित है, जो अवसर आने पर प्रस्फुटित हो जाता है।

☐ हमें अपने मन में दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए कि हम उन्हीं लोगों की सन्तान हैं, जिन्होंने उच्च स्वर से 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्' की घोषणा की थी।

☐ आज भी हमारे देश में उन प्राचीन मनीषियों के चरण-चिन्हों पर चलने वाले अस्तेयव्रत के मूर्त स्वरूप लोगों का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है।

☐ महिलाओं में भी पुरुषों की अपेक्षा ईमानदारी कम नहीं होती।

☐ अहिंसा की तरह अस्तेय भी, निषेधवाचक है।

☐ अस्तेय का नाम यहाँ शास्त्रकार ने 'अदत्तादान विरमण' रखा है।

☐ अन्याय, अनीति, शोषण एवं अप्रामाणिकता के द्वारा धन का उपार्जन करना स्तेय कर्म है।

☐ वस्तु सजीव (सचित्त) हो या निर्जीव (अचित्त), कम हो या ज्यादा, अथवा अल्प मूल्य हो या वहुमूल्य, मालिक की आज्ञा के बिना लेना या बिना मांगे लेना या उसका उपभोग करना नहीं चाहिए।

☐ चोरी का निषेध ही अचौर्य का आचरण या विधान है।

☐ मुख्यतया चोरी के ढंग निम्नोक्त होते है—छन्न, नजर, ठग उद्घाटक, बलात् और घातक।

☐ अर्थ, नाम, उपयोग और उपकार इन चार चीजों की संसार में चोरियाँ होती है।

☐ दूसरे के द्वारा किये गए सुन्दर काम अपने नाम से प्रगट करना नाम-चोरी है।

☐ पहली उपयोग चोरी तो यह है कि वस्तु दूसरे की हो, उसकी बिना सम्मति के लेकर उसका उपयोग करना शुरू कर दिया।

☐ पेट भरने और तन ढकने के लिए जरूरत हो, उससे अधिक संग्रह करना भी चोरी है।

☐ दूसरे का हक मारने की उपयोग चोरी करने वाला कृपण होकर सदा अशान्त रहता है, निरर्थक कष्ट सहता है, आर्त्त-रौद्र ध्यान में ग्रस्त रहता है।

☐ जो व्यक्ति किसी के द्वारा किये हुए उपकार को भूल जाता है, बल्कि अपने उपकारी को बदनाम करता है, या अन्य प्रकार से अपकार करता है, वह कृतघ्न उपकार-चोर है।

☐ समाज के अमुक-अमुक लोगों से लेकर बदले में कुछ भी न देकर जो अकेला सब चीजों का उपयोग करता है, वह स्तेन (चोर) ही है।

☐ विनिमय चोरी व्यापार-धन्धे से खास संबंधित है।

☐ निर्दोष व्यक्तिओं की जिंदगी के साथ खिलवाड़ करना नि.सन्देह घातक चोरी है।

☐ यह सव विनिमय चोरी, व्यापारी स्वय चाहे, तभी मिट सकती है।

□ काला बाजार और तस्कर व्यापार यह अनैतिकता भी विनिमय चोरी का भयंकर रूप है।

□ केवल सरकार के भरोसे ही न रहा जाय, जनता भी इस विनिमय चोरी को मिटाने में जोरशोर से सामूहिक रूप में जुट जाए।

□ अचौर्यवृत्ति वाले गृहस्थ या साधु को अपने-पराये का भेदभाव छोड़कर विभाजन के समय समत्वभाव रखना चाहिए।

□ समाज में भी सबके हिस्से में थोड़ा-थोड़ा अन्नादि आए, यही नीति होनी चाहिए अन्यथा विभाग चोरी का दोष लगता है।

□ जो अकेला खाता है, वह पाप खाता है, पाप का संग्रह करता है।

□ जो संविभाग नहीं करता, केवल अकेला उपभोग करता है, उसको मोक्ष नहीं मिलता।

□ माता, पिता, संतान आदि परिवार, संस्था, समाज एवं राष्ट्र आदि के प्रति कर्तव्यों की उपेक्षा करना या कर्तव्य से जी चुराना भी कर्तव्य चोरी है।

□ लालफीताशाही देश की उन्नति में बहुत ही बाधक है।

□ सारा-संसार कर्तव्यविमुख हो जाय, उत्तरदायित्व से अलग हो जाय, पर साधु वर्ग अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से विमुख नहीं हो सकता।

□ कर्तव्यपालक साहूकार है और कर्तव्यविमुख चोर है।

□ शक्ति होने पर उसे छिपाना नहीं चाहिए। शक्ति होते हुए भी स्वयं न करके दूसरे को आज्ञा नहीं देनी चाहिए।

□ दूसरा चाहे रुष्ट हो या तुष्ट, अथवा विषमरूप से ले, साधक को अपने पक्ष में गुणकारी, हितकर भाषा बोलनी चाहिए। जिसमें अपना और दूसरों का हित हो, वह वचन कहना चाहिए।

□ किसी को उत्तम विचार दे देने से बुद्धि घिस नहीं जाती, बल्कि बार-बार विचार, चिन्तन करने से बुद्धि पैनी और सूक्ष्मतर होती जाती है।

□ जो भी अपनी शक्तियों का खुलकर स्वपरहित में उपयोग करता है, उसकी शक्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

□ शक्ति को छिपाना ही चोरी है।

☐ तीन प्रकार की भिक्षा बताई गई है—सर्वसम्पत्करी, पौरुषघ्नी और वृत्तिभिक्षा।

☐ जो व्यक्ति अपना घरबार छोड़कर समाज पर निर्भर रहता है, संयम का पालन करता है और समाज से कम से कम और वह भी सम्मान सहित लेता है, और बदले में बहुमूल्य उपदेश देता है उसकी भिक्षा सर्वसम्पत्करी है।

☐ जो लोग हट्टे-कट्टे हैं, आजीविका कमाने के योग्य है, ऐसे लोगों का समाज से माँगकर मुफ्त में खाना पौरुषघ्नी भिक्षा के अन्तर्गत है।

☐ तीसरी भिक्षा उन लोगों से सम्बन्धित है जो कमाने-खाने के अयोग्य हैं। वे समाज से दानरूप में उपकृत भाव से लेकर निर्वाह करने के अधिकारी है।

☐ आजकल मुफ्त में लेने की वृत्ति भारत में बहुत अधिक पनप रही है।

☐ वैसे तो प्रत्येक चोरी प्रमाद भाव से होती है, लेकिन प्रमादमूलक चोरी से यहाँ आशय यह है कि व्यक्ति के पास जब धन एकत्र हो जाता है, तब वह खर्च करने में प्रायः अविवेकी एवं प्रमादी बन जाता है।

☐ जरूरतमन्द व्यक्तियों के प्रति लापरवाही दिखाने को प्रमादमूलक चोरी कहा जा सकता है।

☐ छल-बल से परधन हड़प कर जाने वाले लोग उरण चोर हैं।

☐ माता-पिता आदि उपकारी का ऋण न चुकाकर उनको अपशब्द कहना, मारना-पीटना या दुःखित करना भी उरण चोरी के अन्तर्गत है।

☐ कोई व्यक्ति कही चीज रखकर भूल गया हो, उस वस्तु को उठाकर अपने कब्जे में कर लेना विस्मृति चोरी है।

☐ लोगों को भक्ति एवं श्रद्धा से वश में करके बहुतसी चीजें लूट लेना, उनका धन भी लूट लेना, मौन चोरी है।

☐ मन में पराये धन का हरण करने की बात हो, पर वाणी में मधुरता हो, इस प्रकार मीठी-मीठी चिकनी-चुपड़ी बातों से लुभाना शब्द-छल चोरी है।

☐ जिन कार्यों को करने से दूसरे के अधिकारों को आघात पहुँचता है, उन सबकी गणना कायिक चोरी में है।

☐ सभ्य उपायों से चोरी करने वाले, हजारों, लाखों और करोड़ों रुपयों को ऊपर ही ऊपर डकार जाने वाले साहूकार ही बने रहते हैं, राज्य-दण्ड से भी वे बचे रहते हैं।

☐ सभ्य उपायों से चोरी करने वालों से जनता की जितनी हानि होती है, उतनी असभ्य उपायों द्वारा चोरी करने वालों से शायद ही होती हो।

☐ विभिन्न मानसिक, वाचिक और कायिक, सभी प्रकार की चोरियों से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मुक्त होना ही अस्तेयव्रत का आचरण है।

☐ किसी पशु, स्त्री, बालक आदि को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना अपने अधिकार में करना द्रव्य की चोरी है।

☐ किसी के घर, खेत, बाग, मार्ग, गाँव, देश या राज्य पर बिना उसके स्वामी की आज्ञा के अधिकार जमा लेना, अपने काम में लेना या फायदा उठाना क्षेत्र की चोरी है।

☐ वेतन, किराया, सूद, कमीशन आदि देने या लेने के लिए समय को न्यूनाधिक बताना और उससे लाभ उठाना काल की चोरी है।

☐ किसी कवि, लेखक या वक्ता के भावों को अपना बताना, दूसरे का उपकार न मानने के लिए लोगों को उपदेश देना भाव चोरी है।

☐ जीवन के सर्वांगीण निर्माण के लिए अस्तेयव्रत का आचरण बहुत ही आवश्यक है।

७. श्रावक-जीवन में अस्तेय की मर्यादा

☐ अपने समाज के जीवन को सुखद, सुन्दर एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मानव चौर्यकर्म का पूर्णरूपेण त्याग कर दे।

☐ आम आदमी के लिए यह संभव नहीं है कि समस्त प्रकार की चोरी का वह मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग कर दे।

☐ पूर्ण त्यागी अनगार के लिए स्थूल-सूक्ष्म सर्वथा प्रकार से अदत्तादान का त्याग करना होता है।

☐ शास्त्रकारों ने गृहस्थ श्रावक के लिए स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत बताया है।

☐ स्थूल अदत्तादान दो प्रकार का है—सचित्त अदत्तादान, अचित्त अदत्तादान।

☐ दुष्ट अध्यवसायपूर्वक अपने अधिकार से बाहर की, दूसरे के अधिकार की वस्तु को, उस वस्तु के अधिकारी की आज्ञा के बिना ग्रहण करना स्थूल अदत्तादान है।

☐ जो वस्तु सार्वजनिक है, जिस वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है, उसे लेने का उसका उपभोग करने का, त्याग श्रावक नहीं करता।

☐ अस्तेय व्रत का पालन साधु तीन करण तीन योग से करता है, जबकि गृहस्थ श्रावक दो करण तीन योग से करता है।

☐ चरित्र बल का मूल आधार अस्तेयव्रत है।

☐ यदि जीवन की गाड़ी में अन्दर की साधना है, चरित्रबल है, तो जीवन ठीक रूप में चलेगा।

☐ समाज और राष्ट्र में ही जब प्रेम व्यापक हो जाता है, तब अस्तेय-वृत्ति का पालन सहज ही हो सकता है।

☐ अपनी हीन वृत्तियों पर नियंत्रण तो अस्तेयव्रतधारी श्रावक को रखना ही पड़ता है।

☐ समाज में किसी व्यक्ति को ऐसी किसी चीज से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए, जिसकी उसे अनिवार्य जरूरत हो।

☐ सामाजिक अन्याय को दूर करने का उपाय अस्तेयव्रत में है।

☐ जिस वस्तु पर व्यक्ति का वास्तविक अधिकार न हो, फिर भी मन में उसे पाने की अभिलाषा पैदा होती हो तो वह बीज-रूप चोरी मानी जाएगी।

☐ अपने पास जो अधिकार या पद नहीं है उसकी इच्छा करना मान-सिक चोरी या बीजरूप चोरी है।

☐ वैचारिक चोरी का जन्म मन में होता है।

☐ अस्तेयव्रत के पालन का दूसरा उपाय है—आवश्यकताओं को कम करना।

☐ अस्तेयव्रत में निष्ठा रखने पर जो भी आवश्यकता काल्पनिक यानी अनावश्यक और अतिरिक्त प्रतीत हो, उसे कम किया जा सकता है।

☐ अस्तेय के पालन का तीसरा उपाय है—अनुचित या गलत उपायों से धन कमाने की इच्छा न करना।

☐ अस्तेयव्रत से एक चीज खास सम्बन्धित है, वह है—ईमानदारी।

☐ ईमानदारी की ज्योति सर्वत्र जलती रहनी चाहिए।

☐ व्यापारी का आविर्भाव जनता के मंगल के लिए हुआ था। इसीलिए वह महाजन कहलाता था।

☐ धन के प्रति अत्यधिक लगाव मोहबन्धन का कारण हो जाता है और उससे फिर आत्मिक आनन्द की अनुभूति नहीं होती।

☐ शास्त्रकारों का निषेध अनावश्यक लोभ, वित्तैषणा के कारण अनुचित तरीकों से धन कमाने की वृत्ति का है।

☐ श्रावक के लिए दूसरे का शोषण करके अन्याय-अनीति युक्त जीवन बिताना वर्जनीय बताया है।

☐ न्याय से उपार्जित धन उभयलोक के लिए कल्याणकारी होता है।

☐ धन इन्सान के लिए अभिशाप भी है और वरदान भी।

☐ ऐसा धन, जो अन्याय, अत्याचार एवं अनीति से प्राप्त किया जाता है, मनुष्य को कदापि सुख की साँस नहीं लेने देता।

☐ जो धन, न्याय, नीति एवं प्रामाणिकता से उपार्जित किया जाता है, वह धन व्यक्ति के लिए वरदान रूप है।

☐ जिसका धन चला गया, समझा कुछ ही गया, किन्तु जिसका चरित्र चला गया, साख मिट गई तो मानो सर्वस्व चला गया।

☐ नैतिकता एवं प्रामाणिकता को ही सच्चरित्र एव अस्तेयव्रत कहते हैं।

☐ चोरी करने का सर्वप्रथम मूल और अंतरंग कारण है—अर्थ लोलुपता।

☐ जो रूप और रूपवान के परिग्रह में अनन्त आसक्त हो गया है, जिसे इनके संग्रह की सदैव लालसा बनी रहती है, वह लोभ का मारा हुआ तथा असन्तोष के वेग से व्याकुल पुरुष दूसरे की चोरी करता है।

☐ मनोज्ञ रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श इनके प्रति भी आसक्ति के कारण मनुष्य लुब्ध होकर चोरी करता है।

☐ जब धन की बाढ़ आने लगती है, तो उसमें व्यक्ति की इज्जत,

अन्तःकरण की पवित्र वृत्तियाँ, नैतिकला और सत्यता आदि सब कुछ डूब जाते है।

☐ विलासिता में डूबकर मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाता है। विवेक के विना अस्तेयव्रत का पालन नहीं हो सकता।

☐ चोरी के बाह्य कारणों में से सर्वप्रथम कारण है—आवश्यकताओं की अनाप-सनाप वृद्धि और उनकी पूर्ति न होना।

☐ अस्तेयव्रत के पालन में यह विवेक जरूर होना चाहिए कि कौनसी वस्तु अत्यंत आवश्यक है? कौनसी वस्तु अभी आवश्यक नहीं है?

☐ चोरी के अनेक स्थूल-सूक्ष्म प्रकार जीवन में घुल-मिल जाते है। इससे समाज व्यवस्था का सन्तुलन बिगड़ जाता है।

☐ भोग और विलासिता के लिए आवश्यकता वृद्धि अस्तेयव्रत का नाश कर देती है।

☐ चोरी के वाह्य कारणों में दूसरा कारण है—भुखमरी और वेकारी।

☐ चोरी के वाह्य कारणों में से तीसरा कारण फिजूलखर्ची है।

☐ फिजूलखर्ची का एक जबरदस्त कारण है--सामाजिक कुप्रथाओं एवं कुरूढ़ियों का पालन।

☐ चोरी के बाह्य कारणों में से चौथा कारण है-- यशकीर्ति या प्रतिष्ठा की भूख।

☐ चोरी का पाँचवाँ कारण है—स्वभाव।

☐ चोरी का सबसे बड़ा कारण सामाजिक विषमता और शासन-पद्धति की दुर्बलता है।

☐ मनुष्य को उतना ही खाने और संग्रह करने का अधिकार है जिसमें स्वयं भी भूखा न रहे और दूसरे को भी भूखा न रहना पड़े।

☐ व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र का अंग है। उसका नैतिक पतन समाज व राष्ट्र का नैतिक पतन है।

☐ चोरी के अपराध का दायित्व केवल व्यक्ति पर ही नहीं, समाज, राष्ट्र या धन-सम्पन्न व्यक्ति पर भी आता है।

☐ कई लोग लाचारी से चोरी करते है, जब समाज या राष्ट्र से भूखे मरते समय किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं होती।

☐ चोरी का एक अन्य कारण है—ब्रह्मचर्य-पालन न होने के कारण अमर्यादित संतति-वृद्धि तथा अनारोग्य।

☐ बीमारी की समस्या भी मनुष्य के सामने चोरी का संकट पैदा कर देती है।

☐ जो चोरी करने वालों को उनके चौर्य कर्म में किसी भी रूप से सहायता देता है, वह चोर है।

☐ परधनहरणकर्ता चोर डाकू आदि भी पराये धन की तलाश में जान हथेली में लिये इधर-उधर घूमते-फिरते हैं और तिर्यंचयोनि में होने वाले कष्टों को सतत् यहीं भोग लेते हैं।

☐ अदत्तादान की उत्पत्ति दूसरे के धन में रौद्रध्यानयुक्त मूर्च्छा होने से होती है।

☐ चौर्यकर्म राग-द्वेष से पूर्ण, निर्दयता से युक्त, आर्यजनों तथा साधुजनों द्वारा निन्दित तथा तस्करों को अत्यंत प्रिय है।

☐ चौर्यकर्म भय, अपकीर्ति, वध, नाश, संग्राम, प्रियजनों तथा मित्र स्नेहीजनों की अप्रीति तथा जन्ममरण का कारण है।

☐ चोरी करने वाले का यश नष्ट हो जाता है।

☐ निन्दित, घृणित एवं चौर्यकर्म के पाप के फलस्वरूप मिलने वाले कष्टों एवं यातनाओं से छुटकारा पाने के लिए सज्जन मानव को सभी प्रकार के चौर्यकर्मो का त्याग करना उचित है।

☐ आवश्यकता-अनावश्यकता का विवेक और आवश्यकताओं पर संयम करने से चोरी से सहज ही छुटकारा हो सकता है।

☐ अस्तेयव्रत के साधक या मुमुक्षु का यह एक महत्वपूर्ण लक्षण है कि वह सदा आत्म-निरीक्षण-परीक्षण करता रहता है।

☐ अस्तेय का हार्द कम से कम वस्तु से अपना जीवन चलाना है।

☐ यदि आवश्यकताओं को घटाने का संकल्प सच्चा हो तो साधक में त्याग का बल आ ही जाता है।

☐ अस्तेयव्रत का भली-भाँति पालन तो तभी हो सकता है, जब व्रत पालन करते समय प्रमाद या असावधानी से होने वाले दोषों से दूर रहा जाय।

☐ स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं,

आचरण करने योग्य नहीं। वे अतिचार ये हैं—स्तेनाहृत, तस्कर-प्रयोग, विरुद्ध राज्यातिक्रम, कूटतुल-कूटमान, और तत्प्रतिरूपक व्यवहार।

☐ स्तेनाहृत का मतलब है—चोर के द्वारा दूसरी जगह से हरण करके लाई हुई वस्तु का लोभ से सस्ती समझकर ग्रहण करना या खरीद लेना।

☐ चोरों को चोरी करने की प्रेरणा देना या तस्करों को तस्करी, स्मगलिग द्वारा कर–चोरी से माल लाने की प्रेरणा करना तस्कर-प्रयोग नामक अतिचार है।

☐ श्रावक को तस्कर-प्रयोग इस अतिचार से बचने के लिए सावधान रहना उचित है।

☐ अठारह प्रकार के चोर शास्त्र में बताए है। श्रावक को इस विषय में सावधान रहना चाहिए।

☐ विरुद्ध राज्य की सीमा का अतिक्रमण करना विरुद्ध राज्यातिक्रम है।

☐ तराजू से तौलने में या गज आदि से नापने में कम देना कूटतुला-कूटमान अतिचार है।

☐ किसी अच्छी वस्तु में उसी के सदृश नकली अथवा उसमें खप जाने वाली हल्की वस्तु मिलाकर देना, तत्प्रतिरूपक व्यवहार है।

☐ परिवार, समाज और राष्ट्र में सावधान रहकर अस्तेयव्रत का पालन किया जाय तो सर्वत्र सुख-शान्ति, सुव्यवस्था और आत्मविकास हो सकता है।

८. ब्रह्मचर्य की सार्वभौम उपयोगिता

☐ जब से विश्व में धर्म की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई तभी से ब्रह्मचर्य का श्रीगणेश हुआ।

☐ ब्रह्मचर्य के बिना न तो साधु-जीवन की साधना हो सकती है, और न ही गृहस्थ-जीवन की साधना।

☐ ब्रह्मचर्य का विचार करने के साथ-साथ साधक को ब्रह्मचर्य के आचार को भी अपनाना चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्य द्वारा उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके विचार और आचार दोनों को समान रूप से स्थान देना होगा।

☐ ब्रह्मचर्य के बिना योग, ध्यान, मौन, जप, तप आदि साधनाएँ नहीं हो सकतीं।

☐ यम-नियम आदि आठ अंगों में से पाँच यमों में ब्रह्मचर्य को भी एक यम माना है।

☐ चौबीस तीर्थंकरों ने आचार योग में ब्रह्मचर्य को साधु के लिए महाव्रत के रूप में और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप में स्वीकार किया है।

☐ मन की पवित्रता ब्रह्मचर्य से आती है।

☐ शुद्ध साधना का सिंहद्वार ब्रह्मचर्य है।

☐ यदि इन्द्रियों तथा मन की शक्तियों को संयम में रखा जाय तो उनसे बहुत अद्‌भुत और महान् कार्य हो सकते हैं, स्वपरकल्याण के।

☐ आज देश और समाज में यत्र-तत्र रोग, शोक, दुःख, अकाल, मृत्यु, दरिद्रता आदि संकट उपस्थित हो रहे हैं, वे सब अब्रह्मचर्य, असंयम या वीर्यनाश की देन हैं, वे ब्रह्मचर्य के कारण नहीं हैं।

☐ स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य या इन्द्रियसंयम व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अत्यत हितकारी है।

☐ वासना-सेवन से ही वासना अधिकाधिक भड़कती है, शान्त नहीं होती।

☐ कामवासनाओं के उपभोग करते रहने से कामवासना कदापि शांत नहीं होती। आग में घी डालते रहने पर आग शान्त नही होती, बल्कि बार-बार अधिकाधिक भड़कती रहती है।

☐ आजकल के युवकों में किसी भी अच्छे कार्य को करने का उत्साह बहुत कम पाया जाता है।

☐ स्वेच्छा से मनोनिग्रह या वासना नियंत्रण ही रोग-शोक-दुःख निर्बलतानाशक है, स्वस्थता एवं आत्मशक्ति का प्रदाता है।

☐ पारसमणि को ठुकराने की शक्ति किसी भौतिक सत्ता में नहीं होती, अध्यात्म ही एक ऐसी सत्ता है, जिसकी दृष्टि में पारसमणि का पाषाण से बढ़कर कोई मूल्य नहीं है।

☐ यदि ब्रह्मचर्य आनन्दमय नहीं होता तो हमारा जीवन बुझी हुई ज्योति जैसा होता।

☐ विषयों की अनुभूति में जो सुख है, वह असीम नहीं है तथा शारीरिक-मानसिक अनिष्ट के परिणामों से मुक्त नहीं है।

☐ कामभोग क्षणिक एवं अनर्थों की खान है। उनमें आनन्द कहाँ?

☐ चिन्तामणि देकर बदले में गाजरमूली लेकर पेट भरना कोई बुद्धिमानी नही है, तथैव मानव-जीवन पाकर विषय-वासना में लिप्त रहना भी बुद्धिमानी नहीं है।

☐ महापुरुषों ने ब्रह्मचर्य को जीवन और अब्रह्मचर्य को मृत्यु कहा है।

☐ ब्रह्मचर्य आत्मा का शुद्ध प्रकाश है, जबकि वासना कालिमा है।

☐ कच्ची उम्र में भोग के द्वारा जिसका शरीर निचुड़ गया है, वह क्या खाक योग का अभ्यास करेगा? क्या त्याग और वैराग्य को जीवन में अपनाएगा?

☐ ब्रह्मचर्य एक ऐसी साधना है, जिससे तन भी शक्तिशाली बनता है, मन भी बलवान बनता है और आत्मा भी बलवान बनती है।

☐ जीवन सूना-सूना और भारभूत लगने लगता है, ब्रह्मचर्य के अभाव में।

☐ सौन्दर्य का मूल स्रोत चेतना की स्वस्थ सूक्ष्म दृष्टि है, जो ब्रह्मचर्य से ही उद्‌भूत होती है।

☐ सौन्दर्यमय आत्मा के दर्शन तो ब्रह्मचर्य के पालन से ही हो सकते है।

☐ परिवार, सन्तान, समाज एवं राष्ट्र को स्वस्थ, सशक्त एवं उत्साही बनाए रखने के लिए वर्तमान युग में ब्रह्मचर्य की बहुत आवश्यकता है।

☐ वर्तमान युग में मनुष्य वासना सेवन में पशुओं को भी मात कर गया।

☐ वर्तमान युग की विकृतियों और प्रबल कामवासना के वातावरण को देखते हुए मानव को प्रकृति का गुलाम न बनकर ब्रह्मचर्य या सर्वेन्द्रिय-संयम के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

☐ अब्रह्मचर्य के साथ अनेक अपराध, दोष और अधर्म जीवन के साथ चिपक जाते हैं।

☐ अब्रह्मचर्य सेवन से व्यक्ति कामी, क्रोधी, लोभी, द्रोही, स्वार्थी आदि अनेक दोषाक्रान्त बन जाता है।

☐ इन्द्रियों का असंयम (अब्रह्मचर्य) अधर्म का मूल है। अब्रह्मचर्य महान् दोषों का उत्पत्तिस्थान है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधक अब्रह्मचर्य (मैथुन) का त्याग करते हैं।

☐ अहिंसा-सत्य के पालन में ब्रह्मचर्य प्रबल साधन है।

☐ निपुण-साधक को अहिंसा, सत्यादि व्रतों की सम्यक् साधना के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का सदा आचरण करना चाहिए।

☐ अहिंसा-पालन का अर्थ है—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से रहित होना।

☐ स्थूल अर्थ में भी ब्रह्मचर्य का भंग होना, अहिसा का भंग है।

☐ संयम और तप अहिंसा भगवती के दो चरण हैं।

☐ अहिसा का एक अर्थ है—बाह्य और आन्तरिक संयमवृत्ति। इससे देहासक्ति क्षीण होती है। अहिसा का फलितार्थ भी देहासक्ति का क्षीण होना है।

☐ सयमवृत्ति का ह्रास या देहासक्ति होना अब्रह्मचर्य है और वह हिंसा भी है।

☐ उत्कटता की दृष्टि से कौटुम्बिक प्रेम आदर्श है, पर उसमें निहित आसक्ति त्याज्य है। अहिसा में अनासक्ति और प्रेम दोनों समान रूप से उत्कट होना चाहिए।

☐ जहाँ सत्य है, वहाँ काम आदि विकार (अब्रह्मचर्य) रह नहीं सकता।

☐ जिन्हें सत्य-दर्शन करना है, उन्हें निर्विकार होना है। अर्थात् उनके जीवन में ब्रह्मचर्य-सर्वेन्द्रिय संयम स्वाभाविक होना चाहिए।

☐ विषयोपभोग नियंत्रित होता है—सर्वेन्द्रियसंयम-ब्रह्मचर्य से। अतः विषयोपभोग में रत व्यक्ति सत्य का दर्शन कदापि नहीं कर सकता।

☐ अहिंसा-सत्य के यथार्थ पालन के लिए ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है।

☐ अध्ययनकाल में गुरु-निष्ठा, संस्कार-निष्ठा और अध्ययननिष्ठा, तीनों होना जरूरी है। इन तीनों निष्ठाओं के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक माना गया है।

☐ ब्रह्मचर्याश्रम का उद्देश्य है—मनुष्य-जीवन के प्रारम्भ में जीवन को अच्छी खाद मिले।

☐ जीवन में उत्तम आध्यात्मिक और उत्तम गुणों की फसल के लिए भी बाल्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य की उत्तम खाद डालनी चाहिए।

☐ बुद्धिबल और आत्मबल को बढ़ाने के लिए भी ब्रह्मचर्यरूपी खाद की आवश्यकता रहती है।

☐ ब्रह्मचर्याश्रम की आवश्यकता इसलिए भी बताई कि शेष तीनों आश्रमों में ब्रह्मचर्यनिष्ठा और ब्रह्मचर्यसाधन का लक्ष्य रहे।

☐ गृहस्थाश्रम की आधारशिला भी ब्रह्मचर्य है।

☐ गृहस्थाश्रमी भी ब्रह्मचर्यलक्ष्यी होना चाहिए, वासनालक्ष्यी नहीं।

☐ गृहस्थाश्रम का अन्तिम आदर्श ब्रह्मचर्य है। उसी को साधने के लिए दाम्पत्य-मर्यादाएँ हैं।

☐ जो आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक रह सकता हो, उसे गृहस्थाश्रम स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

☐ समाजनिष्ठा के लिए वानप्रस्थाश्रम में पति-पत्नी दोनों को ब्रह्मचर्यनिष्ठ होकर रहना अनिवार्य बताया गया है।

☐ गृहस्थाश्रम में भी आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा जा सकता है। इसी को 'वानप्रस्थाश्रम' कहते हैं।

☐ संन्यासाश्रम में तो मुख्य रूप से संपूर्ण ब्रह्मचर्यनिष्ठा ही होती है।

☐ भारतीय संस्कृति में मनुष्य जीवन का भव्य प्रासाद ब्रह्मचर्य की नींव पर प्रतिष्ठित किया गया है।

☐ ब्रह्मचर्य-आराधक व्यक्ति सारे समाज, परिवार एवं राष्ट्र में विश्वसनीय बन जाता है। कहीं भी उसका अविश्वास नहीं होता।

☐ चारित्र्य का मूल ब्रह्मचर्य है।

☐ केवल शिक्षण ही नहीं, मनुष्य का चारित्र्य ही उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है और जीवन का सबसे बड़ा सुरक्षक है।

☐ ब्रह्मचर्य से शरीर और मन दोनों ही सशक्त बनते हैं, जीवन भी निर्भय, सुखी, शान्तिमय एवं शक्तिसंपन्न बनता है।

☐ विचारों में बल भी ब्रह्मचर्य से आता है और आचार का बल भी इसी से प्राप्त होता है।

☐ ब्रह्मचर्य से सम्पन्न व्यक्ति को जहाँ भी आप खड़ा कर देंगे, जिस

जनकल्याणकारी मोर्चे पर आप उसे नियुक्त कर देंगे, वह अपने प्राणों को झोंक देगा, पर कर्तव्य से विमुख नहीं होगा।

☐ ब्रह्मचर्य से सम्पन्न व्यक्ति जहाँ भी जाएगा, शक्ति का प्रचण्ड झरना प्रवाहित किये बिना नहीं रहेगा।

☐ कहते हैं, हनुमानजी को ब्रह्मचर्य से प्रभाव के आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हो गई थी।

☐ हनुमानजी में इतना पराक्रम कहाँ से आया ? इस प्रचण्ड शक्ति का स्रोत क्या था ? ब्रह्मचर्य ही तो था।

☐ जब साधक में ब्रह्मचर्य की पूर्णतया दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर में अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। साधारण मनुष्य उसकी समता नहीं कर सकते।

☐ अखण्ड ब्रह्मचारी अकेला सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता है।

☐ अखण्ड ब्रह्मचारी उसे कहा जा सकता है, जिसने समस्त इन्द्रियों और मन पर पूर्ण आधिपत्य कर लिया हो।

☐ अखण्ड ब्रह्मचारी के पास रोग भी सहसा नहीं फटकता और न चिन्ता ही उसके दिमाग पर सवार होती है। बल्कि वह अपने संकल्प से दूसरे के रोगों और कष्टों को दूर कर सकता है।

☐ अखण्ड ब्रह्मचारी ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है।

☐ ब्रह्मचर्य संपन्न महान् आत्मा में आत्मा की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित हो जाती हैं।

☐ ब्रह्मचर्य से मनुष्य चिरायु होते हैं, उनके शरीर का संस्थान (ढाँचा) सुन्दर-सुडौल होता है, उनका शारीरिक संहनन मजबूत हो जाता है, वे तेजस्वी और महाशक्तिशाली होते हैं।

☐ आधार स्तम्भ के टूटने से जैसे सारा भवन ढह जाता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाने से सम्पूर्ण शरीर का द्रुतगति से नाश हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य ही हमारी सम्पूर्ण सिद्धियों का एकमात्र रहस्य है।

☐ जिस शरीर में बल नहीं, शक्ति नहीं, वह आत्मा को—आत्मगुणों को—उपलब्ध नहीं कर सकता। बलवान शरीर में ही बलवान आत्मा का निवास होता है।

☐ परीषहों, आपात्तियों और संकटों के तूफान के समय पर अपने

सिद्धान्त—आत्म-स्वभाव पर मेरुसम स्थिर रहने वाला ही आत्मा की शुद्ध ज्योति एवं आत्मगुणों का साक्षात्कार कर सकता है।

☐ कष्टों से घबराकर पथ भ्रष्ट होने वाला व्यक्ति आत्मदर्शन नहीं कर सकता।

☐ भोगेच्छा और विषयकामना का त्याग करो। यही सच्चे माने में ब्रह्मचर्य है, जो अपने आप में शक्ति का भण्डार है।

☐ ब्रह्मचर्य ही उत्तम ज्ञान है, वही परम बल है, आत्मा निश्चय रूप में ब्रह्मचर्यमय है और ब्रह्मचर्य से ही शरीर में टिका हुआ है।

☐ जिस कुल में ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उस कुल की सन्तान दीर्घजीवी होती है।

☐ क्या भोग-परायण समाज में, जहाँ अकाल मृत्यु का घंटा बज रहा है, वहाँ उसके निरोध के लिए और स्वस्थ तथा दीर्घजीवी सन्तति के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता नहीं है ?

☐ ब्रह्मचर्य से ज्ञानतन्तु शक्तिशाली बनते हैं।

☐ विद्यार्थी ब्रह्मचारी बने।

☐ भारतवर्ष के मनीषियों का अभिमत है कि ब्रह्मचर्य के बिना विद्या नही आती।

☐ एकमात्र ब्रह्मचर्य के भलीभाँति पालन से समस्त विद्याएँ थोड़े ही समय में प्राप्त हो जाती हैं।

☐ आज ब्रह्मचर्यरक्षा के अभाव के कारण ही हमारे देश का अधःपतन हुआ है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना जीवन में वर्षो से पड़े हुए विकारों के मैल और विचारों की गन्दगी को दूर कर देती है।

☐ ब्रह्मचारी का मस्तिष्क अत्यन्त उर्वर एव संचयशील होता है।

☐ ब्रह्मचर्य के खण्डित हो जाने पर सभी प्रकार के धर्म, पर्वत से गिरे हुए कच्चे घड़े के समान खण्ड-खण्ड हो जाते है।

☐ वास्तविक तप तो वह है जिसमें इन्द्रिय-विषयों के उपभोग पर नियंत्रण हो, मनोविकारों पर संयम हो।

☐ ब्रह्मचर्य और अहिंसा, ये दोनों शारीरिक तप हैं।

☐ ब्रह्मचर्यरूप तप के प्रभाव से देवों ने मृत्यु को भी जीत लिया था।

☐ जैसे समुद्र पार करने के लिए नौका श्रेष्ठ साधन बताया है, वैसे ही संसार समुद्र पार करने के लिए ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट साधन कहा है।

☐ जो महान् आत्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसके चरणों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि समस्त दैवी शक्तियाँ सभक्ति भाव से नमस्कार करती हैं।

☐ ब्रह्मचर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति है, फिर भी बाह्य पदार्थों में परिवर्तन करने की अद्भुत क्षमता रखता है।

☐ ब्रह्मचारी के मुख से जो कुछ भी निकल जाता है, वह यथार्थ होकर रहता है।

९. श्रावक जीवन में ब्रह्मचर्य की मर्यादा

☐ ब्रह्मचर्य मानव-जीवन का मेरुदण्ड है।

☐ भगवान महावीर ने श्रावक-श्राविकाओं के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने का विधान किया है।

☐ जो मनुष्य व्रत, सकल्प या प्रतिज्ञा न लेकर यों ही उसका पालन करने का कहता है; समझ लो, उसके मन में अभी दुर्बलता है।

☐ संकल्प के बिना जो कुछ किया जाता है, उसका फल बहुत थोड़ा होता है। और उस कार्य से होने वाले धर्म का आधा भाग नष्ट हो जाता है।

☐ व्रतरूप में ब्रह्मचर्य का स्वीकार न करने से जो इहलौकिक-पारलौकिक लाभ मिलना चाहिए, वह पूर्णतः नहीं मिल पाता।

☐ मर्यादित ब्रह्मचारी के परिवार में संयम, सादगी और सेवा का वातावरण होगा।

☐ मर्यादित ब्रह्मचारी की संतान स्वस्थ, सशक्त, दीर्घायु, चरित्रवान और बुद्धिमान होगी।

☐ मोक्षप्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का स्वीकार और पालन अत्यावश्यक है।

☐ ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, वीतराग प्रभु द्वारा उपदिष्ट है, इसी से अनेक मुमुक्षु सिद्ध (मुक्त) हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे।

☐ ब्रह्मचारी समाज का, खासतौर से महिला वर्ग का विश्वसनीय पुरुष माना जाता है।

☐ इन्द्रियों को विषय-भोगों में प्रवृत्त करना पुण्योपार्जित इंद्रियों को पाप के उपार्जन में लगाना है।

☐ इन्द्रियों को सार्थकता तभी है, जब इन्हें संयम में लगाया जाया।

☐ ब्रह्मचर्यरूप धर्म का पालन करने पर ही मनुष्य समस्त प्राणियों मे उत्तम हो सकता है।

☐ पशु शरीर में भोगे जा सकने वाले भोगों को भोगकर मनुष्य शरीर को नष्ट करना कौन सी बुद्धिमत्ता है?

☐ भगवान महावीर ने साधु और गृहस्थ दोनों के ब्रह्मचर्य को चारित्र-धर्म, अनुत्तर योग, आर्य धर्म, उत्तम मार्ग कहा है।

☐ गृहस्थाश्रम का अन्तिम आदर्श पूर्ण ब्रह्मचर्य है।

☐ गृहस्थ जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना अनिवार्य, स्वाभाविक एवं उपयोगी है।

☐ ब्रह्मचर्य व्रत का स्वोकार न करने पर व्यक्ति उच्छृंखल, अमर्यादित और अविश्वसनीय हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण न करने के कारण व्यभिचार का शिकार बना हुआ व्यक्ति धन और वैभव में कितना ही बढ़ा-चढ़ा हो, नैतिक बल न होने के कारण संसार में उसे प्रतिष्ठा और सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती।

☐ अगर व्यापारी या दुकानदार की दृष्टि में सात्विकता होगी तो संसार में उसके लिए किसी वस्तु की कमी न रहेगी, उसका जीवन सबके लिए विश्वसनीय, स्पृहणीय और आदरणीय बन जाएगा। उसके सदाचार का प्रभाव अमिट होगा।

☐ आज भारत के गृहस्थों की भावना और दृष्टि ही पश्चिम के अत्यधिक संपर्क से प्रायः बदल गई है।

☐ प्रत्येक विवाहित स्त्री-पुरुष देशविरति ब्रह्मचर्य (आंशिक ब्रह्मचर्य) व्रत का भली-भाँति पालन भी कर सकते है।

☐ गृहस्थ-जीवन में भी मर्यादित ब्रह्मचारी श्रावक सारे विश्व में पवित्रता की लहर दौड़ा देता है।

□ पशुओं की तरह उच्छृंखल सम्बन्धों में नैतिकता नहीं होती, प्रत्युत अनैतिकता और व्यभिचार ही होता है।

□ गृहस्थ विवाह के रूप में वासना के लहराते हुए सिन्धु को प्याले में बन्द कर देता है।

□ वासनाओं के उफनते हुए प्रवाह को नियंत्रण में रखना गृहस्थ साधक का कर्तव्य है।

□ विवाह कर लेने पर गृहस्थ श्रावक के स्वस्त्री के रूप में सिर्फ एक द्वार के सिवाय संसार भर के सभी वासना द्वार बन्द हो जाते हैं।

□ जैन धर्म की दृष्टि से विवाह वासनाओं का केन्द्रीकरण है। असीम वासनाओं को सीमित करने का मार्ग है। अन्ततोगत्वा पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर गति करने का कदम है।

□ जैनधर्म वासना को केन्द्रित एवं मर्यादित करने की बात को तो स्वीकार करता है, साधक की शक्ति के अनुरूप उसे उपयुक्त भी मानता है। मगर वासना को उच्छृंखल रूप से सेवन करने की बात बिलकुल उपयुक्त नहीं मानता।

□ विवाह अधिकाधिक विषयोपभोग का साधन नहीं, किन्तु काम वासना को नियंत्रित करने का साधन है।

□ विवाह के क्षेत्र में भी दो दृष्टियाँ हैं—एक ब्रह्मचर्य की, दूसरी वासना की।

□ पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना गृहत्यागी साधु-साध्वी के लिए तो अनायास और आसान है।

□ २५ और १६ वर्ष की आयु तक तो पुरुष और स्त्री को विवाह के सम्बन्ध में कुछ भी सोचना नहीं है, सिर्फ अखण्ड ब्रह्मचारी रहकर अपना जीवन अध्ययन में बिताना है।

□ वासना का अनियंत्रित रूप तो जीवन की बर्बादी है, आत्मा का पतन है।

□ विवाह का अर्थ है—विशेषरूप से एक-दूसरे के उत्तरदायित्वों तथा गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों को वहन करना, उनकी रक्षा करना, उन्हें निभाना।

□ विवाह (लग्न) केवल पति-पत्नी का देहमिलन (देहलग्न) ही नहीं, अपितु मनोमिलन और आत्ममिलन है।

□ विवाह का आदर्श है—पति-पत्नी के निर्दोष प्रेम का निर्झर एकरूप होकर बहना। यही गृहस्थाश्रम का मंगलमय प्रवेशद्वार है।

☐ जो व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन करने में असमर्थ हैं, उनक लिए जैन धर्म जबरन पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने की बात नहीं कहता, लेकिन पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन में असमर्थ लोगों के लिए विवाह न करके स्वच्छन्दाचार या दुराचार में प्रवृत्त होने का सख्त निषेध करता है।

☐ जैन शास्त्रों में दुराचार प्रवृत्ति का निषेध विवाहित एवं अविवाहित दोनों प्रकार के जीवन में है।

☐ महात्मा गाँधी के विचारों में विवाह सामाजिक जीवन का केन्द्र है, एकपत्नीव्रत या एकपतिव्रत उसका आदर्श है।

☐ पाश्चात्य संत फ्रांसिस का कथन है कि विवाह कामवासना की दवा के रूप में बड़ी अच्छी वस्तु है, लेकिन वह कठोर है। इसलिए यदि उसका व्यवहार संभल कर न किया जाय तो खतरनाक भी है।

☐ विषयेच्छा भी निद्रा एवं क्षुधा के समान ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो।

☐ कामवासना का दमन विवेक द्वारा भावना एवं सम्यग्ज्ञान के बल से किया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए विवाह करना कोई आवश्यक नहीं है।

☐ आदर्श ब्रह्मचारी को कामेच्छा या सन्तानेच्छा से कभी जूझना नहीं पडता। ऐसी इच्छा उसे होती ही नही।

☐ श्रावक के ब्रह्मचर्याणुव्रत की मर्यादा यह है कि विवाह होने से पहले तक समस्त स्त्रियों को माता या बहन समझे।

☐ स्वदारसन्तोषव्रत की निष्ठा तभी समझी जाती है, जब पुरुष एक-पत्नीव्रत का और स्त्री एकपतिव्रत का पालन करे।

☐ परस्त्रीगामी पुरुष का जीवन कलंकित, दूषित और पापपूर्ण रहता है। उसमें बल, साहस और धैर्य प्रायः समाप्त हो जाता है।

☐ धम्मपद में परस्त्रीगामी के लिए चार फल बताये हैं – (१) अपयश, (२) निद्रानाश, (३) चिन्ता, (४) नरक।

☐ महात्मा गाँधी ने परस्त्री-गामी को रोग का घर कहा है।

☐ मनुष्य की श्रेष्ठता किस काम की जबकि वह व्यभिचारजन्य लज्जा का किंचित् भी विचार न कर परस्त्रीगमन करता है।

☐ स्वदारसन्तोषव्रत को अंगीकार करने वाला पुरुष असीम कामवासना के पाप से बच जाता है।

☐ जो पुरुष अपनी स्त्री मे सन्तुष्ट रहता है और परस्त्री-सेवन से विरत हो जाता है, उसकी कोई निन्दा नहीं होती, न किसी प्रकार का अपवाद होता है। घर में ही उसे तीर्थ का फल मिल जाता है।

☐ स्वदारसन्तोषव्रत में स्वच्छन्दता को कोई स्थान नहीं होता।

☐ कामेच्छा के वश होकर जिस सन्तान को मनुष्य जन्म देता है, वह कामज कहलाती है, वह धर्मज सन्तान नहीं है।

☐ स्वस्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री के साथ एकान्त में वार्तालाप, अति-संसर्ग आदि से बचना चाहिए।

☐ स्वस्त्री के साथ भी उसकी इच्छा के विरुद्ध गमन करना बलात्कार है, वह भी व्रतभंग माना जायेगा।

☐ श्रावक को ब्रह्मचर्य रक्षा हेतु कामवासना पर विजय पाने के लिए वीर बनना होगा। वीर बनने के लिए वीर्यरक्षा अनिवार्य है।

☐ वीर्य ही हमारा जीवन है, माता-पिता है, हमारा तेज और बल है, हमारा सर्वस्व है।

☐ वीर्यरक्षा की साधना करने वाले को अपनी भावना पवित्र रखनी चाहिए।

☐ स्वदारसंतोषव्रती को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विलासपूर्ण वस्त्रों, आभूषणों, मादक वस्तुओं, मिर्च-मसालेदार, गरिष्ठ, दुष्पाच्य, तामस पदार्थों से सदैव बचना चाहिए।

☐ श्रावक को अपने भोजन में विवेक की बहुत आवश्यकता है, जैसा चाहा अंटसंट खा लिया, यह वीर्य विघातक है।

☐ ब्रह्मचर्याणुव्रत में लगने वाले पाँच अतिचार ये है- इत्वरिक परि-गृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा, परविवाहकरण और कामभोग-तीव्राभिलाषा।

☐ थोड़े समय के लिए पैसे देकर या और किसी तरह से अपने यहाँ रखी हुई स्त्री के साथ गमन करना इत्वरिक परिगृहीतागमन अतिचार है।

☐ जो अपनी विवाहिता स्त्री नहीं है, उसके साथ गमन करने को तैयार हो जाना अपरिगृहीतागमन अतिचार है।

☐ काम सेवन के लिए जो प्राकृतिक अंग नहीं हैं, वे अनग कहलाते हैं, उनसे काम-क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा अतिचार है।

☐ जिस स्त्री का नाम लेकर स्वदारसंतोषव्रत लिया गया है उसके

अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री के साथ विवाह करना परविवाहकरण अतिचार है।

☐ स्वदारसंतोषव्रत कामभोग की इच्छा को मन्द करने के लिए है। कामभोग की तीव्र अभिलाषा इस व्रत का अतिचार है।

१० इच्छा का सरोवर : परिमाण की पाल

☐ क्या किसी एक ही व्यक्ति को असीम धन का ढेर दे दिया जाय, तो उसे शान्ति मिल जाएगी ?

☐ कैलाश के समान सोने और चाँदी के असंख्य पर्वत भी किसी के पास हो जायँ, परन्तु अगर वह मनुष्य लोभी है, तृष्णातुर है, तो वे उसकी तृप्ति के लिए कुछ भी नहीं हैं। क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है।

☐ मनुष्य की देह बूढ़ी हो सकती है, लेकिन इच्छा, तृष्णा और आशा कभी बूढ़ी नहीं होतीं।

☐ इच्छाएँ पानी में उठने वाली तरंगों की तरह है।

☐ मनुष्य इच्छाओं का पुतला है।

☐ जीवन समाप्त हो जाता है, लेकिन इच्छाएँ समाप्त नहीं हो पातीं।

☐ जैसे-जैसे लाभ बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे लोभ भी बढ़ता जाता है।

☐ इच्छाओं की प्यास क्या कभी बुझ सकती है ? उसे शान्त करने का सरलतम उपाय है—इच्छाओं के वशवर्ती न होकर उन्हें अपने वशवर्ती बनाना।

☐ संसार में धन सीमित है, किन्तु इच्छाएँ असीम हैं। इच्छाओं का गड्ढा सीमित धन के टीलों से कदापि नहीं भर सकता।

☐ इच्छाओं की पूर्ति करते जाना इच्छाओं की अग्नि को शान्त करने का उपाय नहीं है।

☐ इच्छापूर्ति का मार्ग धर्म और मोक्ष का मार्ग नहीं, संसारवृद्धि का मार्ग है, इस मार्ग को अपनाने पर शान्ति कभी नहीं मिल सकती।

☐ इच्छा-शान्ति का सच्चा मार्ग यह है कि उन इच्छाओं को पीठ देकर चलो।

☐ इच्छाओं को पकड़ने के लिए दौड़ोगे तो वे आगे भागती जाएँगी, किन्तु इच्छाओं को पीठ देकर दौड़ोगे तो इच्छित वस्तु स्वतः आपके पीछे आएगी।

☐ इच्छाओं को पीठ देकर चलने का मतलब है इच्छाओं से विमुख हो जाना, उनके प्रति उपेक्षा भाव धारण कर लेना, सन्तोष धारण कर लेना। इच्छापूर्ति की आसक्ति न रखना।

☐ इच्छा एक भाव है, जो किसी अभाव, सुख या आत्मतुष्टि के लिए उदित होता है।

☐ मनुष्य को अपने विकास और प्रगति के लिए क्या इच्छाओं की उपयोगिता नहीं है ?

☐ बिना इच्छा के मनुष्य सृजन, विकास, उन्नति और प्रगति कैसे कर सकेगा ?

☐ वीतरागता की भूमिका से पहले इच्छा का उदय होना कोई अस्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है।

☐ इच्छा के दो रूप होते हैं—एक शुभ रूप और दूसरा अशुभ रूप।

☐ एक मनुष्य समाज-सेवक, देश-सेवक बनने की इच्छा करता है, यह शुभ इच्छा है।

☐ आध्यात्मिक इच्छाएँ उत्कृष्ट हैं।

☐ इच्छा की निकृष्टता उसके सीमित या साधारण होने में नहीं है, अपितु उसके उद्देश्य की तुच्छता में अथवा इच्छापूर्ति के लिए अनुचित उपायों या साधनों को काम में लाने में है।

☐ निकृष्ट उद्देश्य से विशिष्ट इच्छा भी निकृष्ट कोटि बन जाती है।

☐ इच्छा की निकृष्टता न केवल स्वयं में एक व्यावहारिक या सामाजिक पाप है, वरन् यह एक आध्यात्मिक पाप भी है।

☐ निकृष्ट इच्छा की प्रतिक्रिया आत्मा पर अहितकर होती है।

☐ निकृष्टतम इच्छाएँ कृष्णलेश्या या नीललेश्या में अथवा रौद्रध्यान में परिगणित होती हैं।

☐ जहाँ उच्च इच्छाएँ संसार में शान्ति, सुख, विकास एवं सुव्यवस्था में वृद्धि करती हैं, वहाँ निकृष्ट इच्छाएँ संसार में अशान्ति एवं संघर्ष को जन्म देती हैं।

□ निकृष्ट इच्छा से युक्त मानव स्वयं भी सुख-शान्ति नहीं पाता, वह अपनी आत्मा का पतन कर लेता है, लोक-परलोक दोनों बिगाड़ लेता है। ऐसा व्यक्ति वैभव के बीच प्रायः तड़प-तड़प कर इस लोक से प्रयाण करता है।

□ इच्छाओं का एक और विषाक्त पहलू है, वह है अति और अनुचित इच्छाएँ।

□ जिसका हृदय अज्ञानवश अपूर्ण इच्छाओं का क्रीड़ास्थल बन जाता है, उसके लिए किसी अन्य नरक की आवश्यकता नहीं रहती।

□ विचारशील व्यक्ति वैसी इच्छा नहीं करते, जिसकी पूर्ति के लिए उनके पास योग्य साधन, परिस्थिति, शक्ति, योग्यता एवं क्षमता न हो।

□ अति और अनुचित इच्छाएँ कभी-कभी महत्वाकांक्षा का रूप ले लेती हैं।

□ एक महत्वाकांक्षा शुभ होती है—जो अपनी आत्म-शक्ति बढ़ाने, साधना में आगे बढ़ने और संसार के कल्याण में योगदान देने की होती है।

□ दूसरी महत्वाकांक्षा अशुभ होती है—जो अति और अनुचित दोनों ही प्रकार की होती है।

□ अशुभ महत्वाकांक्षी इतिहास के पृष्ठ पर तो अंकित होता है, परन्तु वह देखा-सुना जाता है पतित और कलंकी के रूप में, घृणा और तिरस्कार के साथ।

□ सिकन्दर की महत्वाकांक्षा अशुभ और निकृष्ट ही मानी जा सकती है।

□ महत्वाकांक्षा के सम्बन्ध में आत्म-विवेचना करते समय निष्पक्ष और निःस्वार्थ रहने की आवश्यकता है।

□ स्वार्थ और पक्षपात के दोष दृष्टि को विषाक्त बना डालते हैं, जिससे असत्य सत्य, और अहित हित दिखलाई देने लगता है।

□ महत्वाकांक्षा भी इच्छा का विशद और व्यापक रूप है, अतः इसे भी दूषित होने से बचाना चाहिए।

□ ज्यों-ज्यों मनुष्य की अवस्था अधिक होती जाती है, सांसारिक पदार्थों से उसका अधिकाधिक परिचय होने के कारण उसकी इच्छा भी बढ़ती जाती है।

□ इहलौकिक सांसारिक पदार्थों की इच्छा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इनमें से किसी एक विषय से सम्बन्धित होती है।

□ प्रत्येक पदार्थ की इच्छा इंद्रियों और मन की विषयासक्ति से होती है।

□ मन की चंचलता और इंद्रियों की निरंकुशता से इच्छाओं का जन्म होता है।

□ आयु क्षीण होती जाती है, लेकिन इच्छा क्षीण नहीं होती।

□ विश्वयुद्धों के पीछे असीम इच्छाएँ ही प्रधान कारण हैं। मनुष्य की इन असीमित एवं दूषित उद्देश्यों से युक्त इच्छाओं ने ही विश्व में लाखों मनुष्यों का रक्त बहाया है।

□ निरंकुश इच्छाओं से कभी तृप्ति नहीं होती।

□ वे ही अनुचित स्वच्छन्द बढ़ती हुई इच्छाएँ हैं, जिनके प्रताप से मानव दानव बन जाता है।

□ जब तक मनुष्य स्वेच्छा से अपनी स्वच्छन्द इच्छाओं पर अंकुश नहीं लगाता, तब तक वह अपने पाप को नहीं धो सकता।

□ जिसने अपनी इच्छाओं को बेरोकटोक स्वच्छन्द भागने दिया, वह चाहे हजार बार महापुरुष के चरण छू ले, उससे क्या उसकी दुर्गति रुक जाएगी ? कदापि नहीं।

□ अगर मनुष्य अपनी उद्दाम इच्छाओं को आवश्यकताएँ समझने के भ्रम में न पड़े तो उसका जीवन इच्छापरिमाण करने से सुखपूर्वक व्यतीत हो सकता है।

□ जो इच्छाएँ तुम्हारी आवश्यकताओं के साथ संगत नहीं हैं, उन्हें वहीं काटकर अलग कर दो, उन इच्छाओं से अपने को विमुख कर दो।

□ जो इच्छाएँ तुम्हारी वास्तविक आवश्यकताओं की सीमा में हैं, उन्हीं तक उन्हें सीमित कर दो।

□ गृहस्थ श्रावक के लिए संसार-व्यवहार में रहते हुए इच्छा का सर्वथा निरोध दुष्कर है।

□ श्रावक पर सर्वथा अपरिग्रह व्रत का बोझ डालना अनुचित है, वह उस बोझ को उठा नहीं सकेगा।

□ भगवान महावीर ने श्रावकों के लिए इच्छापरिमाण व्रत बताया है।

□ आज बहुत से संघर्ष तो आवश्यकता और इच्छा के अन्तर को न समझने के कारण होते है।

□ मनुष्य अपनी इच्छा, हवश या पदार्थासक्ति को ही प्रायः आवश्यकता मान बैठता है और उसकी पूर्ति के लिए इन्सानियत को भी भुला बैठता है, रक्त सम्बन्धों को भी विस्मृत कर देता है।

☐ स्वेच्छा से निर्धनता स्वीकार करके सादा जीवन जीने वाले भक्तों को ही परमात्मा का सदैव स्मरण हो सकता है।

☐ इच्छापरिमाण व्रत के स्वीकार से गृहस्थ श्रावक का गार्हस्थ्य जीवन भी सुखमय हो जाता है।

☐ इच्छाओं और तृष्णाओं पर जिसने नियन्त्रण नहीं किया, वह असीम इच्छाओं के चक्कर में पड़कर रात-दिन अशान्त रहता है।

☐ इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार कर लेने पर कोई भी अशान्ति नही रहती। श्रावक को अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की चिन्ता नहीं रहती, न दु:ख होता है।

☐ इच्छापरिमाणव्रतधारी धर्मकार्य में रुचिपूर्वक झटपट तल्लीन हो जाता है।

☐ इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करने पर श्रावक निर्ग्रन्थ धर्म के योग्य पात्र वन जाता है।

☐ इच्छापरिमाण व्रत ग्रहण करने वाले श्रावक को मृत्यु के समय किसी प्रकार का दुःख नहीं होता, जबकि इच्छापरिमाणव्रत से विमुख महा-परिग्रही को मृत्यु के समय में घोर कष्ट होता है।

☐ इच्छापरिमाण व्रत का अर्थ है—सांसारिक पदार्थो से सम्बन्धित अशुभ (निकृष्ट, अति और अनुचित) इच्छओं को छोड़कर शुभ (उत्कृष्ट, उचित और दूसरों के हितों को हानि न पहुँचाने वाली) इच्छाओं को सीमित करना।

☐ यह संकल्प करना कि मैं अमुक, इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नहीं करूँगा इच्छापरिमाण व्रत है।

☐ इच्छापरिमाण व्रत का उद्देश्य दुनिया-भर के समस्त पदार्थों की विस्तृत इच्छाओं से अपने मन को खींचकर एक सीमित दायरे में कर लेना है।

☐ प्रशग्त मार्ग यही है कि आवश्यकताओं के साथ इच्छाओं की संगति विठाकर मर्यादा की जाय।

११. परिग्रह : हानि, परिमाणविधि, अतिचार

☐ परिग्रह भी एक प्रकार का पाप है क्योंकि वह मानव जीवन को पतन के गहरे गर्त में डाल देता है। उसकी विवेक-बुद्धि, विचार-शक्ति और

सत्यशोधन की रुचि को नष्ट कर देता है।

☐ बड़े आदमी का मतलब ही आज अधिक परिग्रहसम्पन्न व्यक्ति हो गया है।

☐ पुण्य के ४२ भेदों में धन का नामोनिशान भी नहीं आता, फिर भी पता नहीं, धनसम्पन्न को किस आधार पर पुण्यवान माना जाता है ?

☐ विवेकी साधक यमों का (मूलव्रतों का) आचरण प्रतिदिन बार-बार करे, किन्तु नियमों का (उत्तरव्रतों का) आचरण नित्य नहीं, कभी-कभी करे। जो साधक यमों का आचरण प्रतिदिन नहीं करता, वह पतित हो जाता है।

☐ जब-जब मूलव्रतों (यमों) की उपेक्षा कर दी जाती है और केवल उत्तरव्रतों (नियमों) को मुख्यता दे दी जाती है, तब-तब धर्म और धार्मिक दोनों निस्तेज हो जाते हैं।

☐ इच्छा, मूर्च्छा और गृद्धि (परिग्रह) से क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का तादात्म्य सम्बन्ध है।

☐ परिग्रह क्रोध, मान, माया और लोभ इन पापानुबन्ध चतुष्टय का जनक है।

☐ परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, असत्य भाषण करते हैं, बड़ी-बड़ी चोरियाँ-डकैतियाँ परिग्रह के कारण होती हैं।

☐ मनुष्य परिग्रह के कारण सदैव चिंतित, आतंकित, त्रस्त एवं भयभीत रहता है।

☐ जहाँ इच्छा-मूर्च्छा नहीं होती या सीमित होती है, वहां प्रायः पाप-कर्म नहीं होता।

☐ परिग्रह के लिए मनुष्य मनुष्य की हत्या कर डालता है।

☐ आत्म-हत्या का घोर पाप भी परिग्रह के लिए होता है।

☐ परिग्रह के लिए मनुष्य अपने सहोदर भाई-बहन, स्वजन एवं पुत्र-पुत्री तक से ही द्रोह कर बैठता है।

☐ मित्रद्रोह भी परिग्रह के लिए होता है।

☐ परिग्रह के लिए देशद्रोह भी अनेक लोग करते देखे-सुने जाते है।

☐ परिग्रह का भूत जिस पर भी सवार हो जाता है, वह कोई रिश्ता-नाता नहीं देखता।

☐ भूखे आदमी को कुछ भी नहीं सुहाता, उसी प्रकार जो परिग्रह का भूखा है, धन का पिपासु है, उसे कुछ भी नहीं सुहाता, और न ही कोई अच्छी बात सूझती है।

☐ धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन भी परिग्रह के लिए किया जाता है।

☐ समस्त ईश्वरीय नियमविरोधी कार्य परिग्रह के लिए किये जाते हैं।

☐ नर-हिंसा के समान मूक पशु-पक्षियों की हिंसा भी प्रायः परिग्रह के लिए होती है।

☐ आरम्भ-समारम्भ, महारम्भ या विशेषारम्भ के रूप में होने वाली हिंसा भी प्रायः परिग्रह के लिए होती है।

☐ मनुष्य असत्य भी परिग्रह से प्रेरित होकर बोलता है।

☐ चोरी, बेईमानी या ठगी तो परिग्रह के लिए होती ही है।

☐ चारों वे पापाश्रव, जो परिग्रह से पहले के चार आश्रव द्वार माने जा हैं, परिग्रह के लिए ही प्राय: होते हैं।

☐ सुज्ञ श्रावक को परिग्रह के पाप से बचने का सर्वप्रथम प्रयत्न करना चाहिए।

☐ जिसके जीवन में परिग्रह आ जाता है उसमें दूसरों के प्रति ईर्ष्या-भाव बना रहता है।

☐ परिग्रही व्यक्ति में प्राय मानवदया या जीवदया के कार्य के प्रति अरुचि हो जाती है।

☐ अत्यधिक परिग्रहासक्त मनुष्य के हृदय में कठोरता और निर्दयता आ जाती है।

☐ परिग्रही व्यक्ति अपने जरा से कष्ट को बहुत बड़ा समझता है जबकि दूसरे के महान दु:ख की भी उसे चिन्ता नहीं होती।

☐ परिग्रहासक्त व्यक्ति में अभिमान का दुर्गुण तो बहुत जल्दी आ जाता है।

☐ परिग्रह प्रेम, स्नेह, मैत्रीभाव, आत्मीयता, सहृदयता या सहानुभूति के आग लगाने वाला है।

☐ परिग्रह के प्रति आकर्षण होना ही अनर्थ का मूल है।

☐ चाहे परिग्रह का एकान्तनाश सम्भव न हो, परन्तु उसके प्रति आदर-वृत्ति तो दूर होनी चाहिए।

☐ जहाँ परिग्रह का ही अहर्निश सम्पर्क और चिन्तन हो, वहाँ आत्मा की अवहेलना की जाती है, उसके साथ द्रोह किया जाता है।

☐ परिग्रह गरीबों के लिए द्वेष का कारण भी बन जाता है।

☐ यदि धनवान ईमानदार होते और निर्धनों को अपनी वस्तुओं का उचित मूल्य चुका देते तो गरीब, गरीब न होते। धन का वैभव और कुछ नहीं, केवल अनैतिक विजय भेंट है, जो गरीबों का स्वत्व-अपहरण करने से मिलती है।

☐ विषमता और असमानता दूर करने के लिए यदि अमर्यादित-परिग्रही परिग्रह-मर्यादा करके गरीबों के साथ आत्मीयता नहीं रखेंगे तो वह दिन दूर नहीं, जब साम्यवाद भारत में आ सकता है।

☐ परिग्रही व्यक्ति भ्रमवश अपने आपको सबसे अधिक गुण-सम्पन्न समझता है, भले ही उसमें अनेक दुर्गुण ही क्यों न भरे हों।

☐ परिग्रही यही समझता है कि समस्त गुण मुझमें ही हैं।

☐ सभी गुण एकमात्र सोने में आकर बस गए हैं।

☐ व्यक्ति चाहे जितना ममत्व करे, संग्रह करे, उनसे दुःख ही पाता है।

☐ परिग्रही को संसार के प्राप्त पदार्थ भी दुःख देते हैं, और अप्राप्त भी।

☐ धनिक परिग्रही समस्त परिग्रह-त्यागी गुरु से भी शंकित रहता है।

☐ जो कुछ दुःख है, वह ग्रहण करने में है, त्याग में नहीं।

☐ धन रूपी विषधर के विष से जिनका चित्त खराब हो गया है, उन लोगों को सदैव दुःख ही दुःख रहता है। उन्हें धनोपार्जन में भी दुःख होता है, रक्षा करने में भी दुःख होता है, और धन के नाश या व्यय में भी दुःख होता है।

☐ सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्ति, सुरक्षा-चिन्ता आदि सब दुःखों के क्रम से युक्त है।

☐ संसार में जितने भी दुःखी लोग हैं, वे प्रायः संग्रहबुद्धि के प्रताप से दुःखी हैं।

☐ संसार में आज अधिकांश लोग नंगे-भूखे दिखाई देते हैं, उसका कारण संग्रहबुद्धि वाले व्यक्ति हैं।

☐ संग्रह से मुख्यतया दो बुराइयाँ जन्म लेती हैं—विलास और क्रूरता।

☐ दान वस्तुतः अपना संयम बढ़ाने और अपने श्रेय के लिए है।

☐ मनुष्यों की आत्माओं के लिए सोना निकृष्टतम विष है। इस दुःखमय विश्व में धन का विष अन्य विषों से अधिक रक्त बहाता है।

☐ भगवान महावीर ने परिग्रह को सर्वथा छोड़ देने और अपरिग्रह वृत्ति धारण करने की प्रेरणा दी।

☐ अगर सारा संसार परिग्रह की मर्यादा भी कर ले और परिग्रह-परिमाणव्रत पर चलकर साधना करने लग जाए तो संसार स्वर्ग बन जाय।

☐ मुट्ठीभर महापरिग्रही लोग अपनी इच्छा और मूर्च्छा के कारण संसार में सुख-शान्ति का साम्राज्य होने दें तब न ?

☐ यदि सांसारिक पदार्थों का त्याग स्वेच्छा से किया जाएगा तो दुःख भी न होगा और समाज में उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी होगी।

☐ अगर तुम परिग्रह के प्रति ममत्व स्वेच्छा से छोड़कर इसकी मर्यादा कर लोगे तो परिग्रह के चले जाने का तुम्हें दुःख भी नहीं होगा और लोकापवाद भी नही होगा।

☐ धन के गुलाम न बनिए, धन के स्वामी बनिए। जो धन को अपने अधीनस्थ बना लेगा, वह धन को साधन समझेगा, साध्य नहीं।

☐ निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने का लाभ यही है कि आप स्वेच्छा से परिग्रह का त्याग करें या परिमाण करें।

☐ परिग्रहपरिमाणव्रत को स्वीकार करने से पारलौकिक लाभ तो जन्म-मरण से मुक्त होना और मुक्ति पाना है।

☐ परिग्रहपरिमाणव्रत के धारण करने से व्यक्ति सब तरह से निर्भय, निश्चिन्त हो जाता है।

☐ परिग्रहपरिमाणव्रत स्वीकार करने पर आप अल्पपरिग्रही श्रावक कहलाएँगे, मोक्ष के यात्री तो हो ही जायेंगे।

☐ मन का सम्बन्ध आभ्यन्तर परिग्रह के साथ है।

☐ जब व्यक्ति आभ्यन्तर परिग्रह से बिलकुल विरत हो जाएगा, तब पदार्थ पास में होने पर भी बाह्य परिग्रह बिलकुल न रहेगा।

☐ परिग्रह की मर्यादा करने वाला श्रावक इस प्रकार का नियम करेगा कि मैं अमुक पदार्थों पर से स्वामित्व का सर्वथा त्याग करता हूँ।

☐ नौ प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करना परिग्रहपरिमाणव्रत या इच्छा-परिमाण व्रत कहलाता है।

☐ हो सके तो दो करण, तीन योग से परिग्रहपरिमाणव्रत स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा एक करण, तीन योग से स्वीकार करना चाहिए।

☐ श्रावक को भी अपनी अधिकृत सम्पत्ति से अधिक सम्पत्ति मर्यादा में नहीं रखनी चाहिए।

☐ परिग्रहपरिमाणव्रत को स्वीकार करने वाला व्यक्ति अव्रती और महापरिग्रही नहीं रहता, बल्कि उसकी गणना धर्मात्मा श्रावकों में होती है, वह महान पाप से बचकर मोक्ष-पथ का पथिक हो जाता है।

☐ इच्छा-परिमाणव्रत के पाँच अतिचार ये हैं—क्षेत्र-वास्तु-प्रमाणातिक्रम, धन-धान्य-प्रमाणातिक्रम, हिरण्य-सुवर्णप्रमाणातिक्रम, द्विपद-चतुष्पद-प्रमाणातिक्रम और कुप्य-प्रमाणातिक्रम।

☐ किये हुए परिमाण का पूर्णतया उल्लंघन करने से व्रतभंग होता है।

☐ अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभारवाहन ये पाँच परिग्रह परिमाण के विक्षेप-अन्तराय हैं।

☐ परिग्रहपरिमाणव्रत का स्वीकार दूसरे मूलव्रतों के पालन में सहायक है, ऐसा समझकर उसे अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए।

गुणव्रत

☐ गुणव्रत, अणुव्रतों में विशेषता पैदा करने वाले हैं।

☐ अणुव्रत सोना है, तो गुणव्रत उस सोने की चमक-दमक बढ़ाने के लिए पॉलिश के समान हैं।

☐ तीन गुणव्रत पाँच अणुव्रतों में शक्ति का संचार करते हैं। उनके परिपालन में होने वाली कठिनाइयों को दूर करते हैं। मूल अणुव्रतों को स्वच्छ रखते हैं।

☐ जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं, वैसे ही 'शीलव्रत' अणुव्रतों की रक्षा करते है।

☐ मुक्ति का अर्थ है—समस्त कर्मों, कषायों और विषयों से सदा के लिए छुटकारा पा लेना और अनन्त सुख (परमानन्द) में लीन हो जाना।

☐ महाव्रत के मार्ग पर चलने के लिए पूर्ण त्याग अपनाना पड़ता है। सभी व्यक्ति इस महामार्ग पर चल नहीं सकते।

☐ आगारमार्ग—गृहस्थ श्रावक के मार्ग के लिए कुछ रियायतें देकर आसान रास्ता बताया है।

☐ अणुव्रतों की सहायता के लिए तीन गुणव्रत बताए गए हैं—दिशा-परिमाणव्रत, उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत और अनर्थ-दण्डविरमणव्रत।

☐ हिंसादि आश्रवद्वारों को अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से बन्द करने में गुणव्रत सहायक होते हैं।

☐ पाँच मूल-गुण रूप अणुव्रतों के पश्चात् गुणव्रतों का विधान बहुत ही उचित व आवश्यक है।

१. दिशा-परिमाणव्रत के लाभ

☐ सर्वप्रथम दिशा-परिमाणव्रत बताने का कारण है विस्तृत लोभरूपी समुद्र को वढ़ते हुए रोकना।

☐ मानव की यह भ्रान्ति है कि केवल धन से वह आराम पा सकेगा।

☐ दिशापरिमाणव्रत लोभवृत्ति को सीमित कर देता है।

☐ अर्थ और काम (लोभ और आमोद-प्रमोद) की दृष्टि से श्रावक का देश-विदेशों में पर्यटन या गमनागमन श्रावक-जीवन के उद्देश्य की दृष्टि से—ध्येय की ओर गति करने की दृष्टि से वाधक है।

☐ तृष्णा को घटाने के लिए और अपरिग्रह की दृढ़ता के लिए तथैव तृष्णा एवं लोभ के कारण होने वाले हिंसा आदि दोषों को काम करने के लिए दिशापरिमाणव्रत की आवश्यकता है।

☐ चित्तशान्ति तभी हो सकती है, जब वृत्ति में संकोच हो।

☐ व्रतधारी श्रावक के लिए यह उचित है कि वह अपनी सामान्य आवश्यकताओं को देखते हुए दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करने हेतु दिशापरिमाणव्रत को अंगीकार करे।

☐ गृहस्थ श्रावक के लिए एकान्त अर्थ और काम त्याज्य है।

☐ तीर्थंकरों ने मोक्ष को जीवन का ध्येय या साध्य तथा धर्म को उसका साधन बताया था।

☐ भगवान महावीर ने कहा कि श्रावक को अपनी दृष्टि धर्म-प्रधान रखनी चाहिए, अर्थप्रधान नहीं।

☐ दिशापरिमाणव्रत को ग्रहण करने से गृहस्थ श्रावक के सांसारिक जीवन-व्यवहार में कोई आँच नहीं आती, और न ही शरीर-सुख एवं मानसिक शान्ति एवं स्वस्थता में कोई रुकावट आती है।

□ केवल अर्थ और काम की वासना होगी तो उसके कारण मनुष्य सुदूर देश-विदेशों में भाग-दौड़ करता फिरता है, उसके मन को शान्ति नहीं मिलती, न उसकी रुचि धर्माराधना में बढ़ती है।

□ मनुष्य अपनी कल्पित आवश्यकताओं के चक्कर में पड़कर सुदूर देश-विदेश में अनावश्यक दौड़ लगाता है।

□ मनुष्य में दो बहुत बड़ी वासनाएँ हैं—भोग और ऐश्वर्य ! ये दो वासनाएँ ही मनुष्य से इतनी दौड़-धूप कराती हैं।

□ ऐश्वर्य और वैभव के पीछे पागल बनने वालों की बुरी दशा होती है।

□ त्याग के बाद शीघ्र ही शान्ति प्राप्त होती है।

□ सन्तोष ही शान्ति का स्रोत है। सन्तोष इस प्रकार से दिग्परिमाण व्रत स्वीकार करने से प्राप्त होता है।

□ सुख-शान्ति का मूलाधार सन्तोष है, सत्ता या सम्पत्ति नहीं। सुख-शान्तिमय जीवन बिताने के लिए ही भगवान महावीर ने श्रावकों के लिए दिशापरिमाणव्रत निश्चित किया है।

□ भावी दुःस्थिति से बचने और सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन करने के लिए अगर मनुष्य दिशापरिमाण कर ले तो कितना अच्छा हो !

□ दुःस्थिति से बचने का सर्वश्रेष्ठ उपाय स्वैच्छिक नियमन के रूप में दिशापरिमाण व्रत ही है।

□ जो दिशापरिमाण के रूप में स्वैच्छिक प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते, उनको भयंकर स्थिति का सामना करना पड़ता है।

□ मर्यादाबद्धता, स्वैच्छिक सीमाप्रतिबन्ध या निश्चय को दिशा-परिमाणव्रत कहते हैं।

□ दशों दिशाओं की मर्यादा करना दिशापरिमाणव्रत है।

□ गमनागमन के क्षेत्र को सीमित करने का प्रण या संकल्प लेना दिशापरिमाणव्रत कहलाता है।

□ दिशापरिमाणव्रती को अपनी सुविधा, रुचि, शक्ति, परिस्थिति एव आवश्यकता का विचार करके ही इसकी मर्यादा निश्चित करनी चाहिए।

□ दिशापरिमाण व्रत का सकल्प जीवनभर के लिए किया जाता है, एक दिन-रात या कम समय के लिए नहीं।

☐ जीवन-क्षेत्र के खिलाड़ी श्रावक को अपने मन, वचन, काया की गेंद को स्वेच्छा से निश्चित की हुई सीमा से बाहर नहीं जाने देना चाहिए।

☐ दिशापरिमाणव्रत एक प्रकार की लक्ष्मण-रेखा है।

☐ दिशापरिमाणव्रती साधक भी अपनी खींची हुई लक्ष्मण-रेखा—मर्या रेखा का अतिक्रमण न करे।

☐ दिशापरिमाण व्रत का स्वीकार करने वाले को अपनी वृत्ति का संकोच और ममत्व का त्याग करना पड़ता है।

☐ यह व्रत दो करण तीन योग से ग्रहण किया जाता है।

☐ दिशापरिमाणव्रत के धारण करने और भलीभाँति सावधानीपूर्वक पालन करने से वह आत्मबल और त्यागबल बढ़ाने के अतिरिक्त श्रावक के द्वारा गृहीत पाँचों अणुव्रतों पर भी प्रभाव डालता है।

☐ जब तक दिशापरिमाणव्रत का स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक तृष्णा का क्षेत्र भी सीमित नहीं होता और क्षेत्र सीमित न होने से तृष्णा बढ़ती ही जाती है।

☐ दिशापरिमाणव्रत पाँचों अणुव्रतों में एक विशेषता, एक चमक और त्याग वृद्धि की प्रगति पैदा कर देता है।

☐ दिशापरिमाणव्रत के पाँच अतिचार जानने योग्य है, आचरण करने योग्य नही, वे पाँच अतिचार इस प्रकार है—ऊर्ध्वदिशाप्रमाणातिक्रम, अधोदिशाप्रमाणातिक्रम, तिर्यक् दिशाप्रमाणातिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान।

२ उपभोग, परिभोग-परिमाण व्रत

☐ मनुष्य जीवन में उपभोग के साथ त्याग भी अनिवार्य है।

☐ त्यागपूर्वक उपभोग के सूत्र को भूलकर जब मनुष्य केवल अकेला ही सब चीजों का संग्रह कर लेता है, तब समाज और परिवार में विषमता और संघर्ष फैलते हैं, उससे जीवन की सुख-शान्ति और स्वस्थता नष्ट हो जाती है।

☐ त्याज्य वस्तु का त्याग करने पर ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र स्वस्थ रह सकता है, दूसरों को प्रकाश दे सकता है।

☐ विवेकी सद्गृहस्थ का भी कर्तव्य है कि घर में धन बढ़ जाए तो उसे भी दोनों हाथों से निःस्वार्थ भाव से दान करके बाहर निकाल दे।

☐ प्रकृति का कण-कण त्याग की प्रेरणा दे रहा है।

☐ क्या ये वृक्ष, बेलें, नदियाँ, सरोवर, बादल, सूर्य, चन्द्रमा आदि थोड़ा-सा लेकर बदले में त्याग नहीं करते ?

☐ अगर मैं त्याग न करके केवल उपभोग ही करता रहा तो मैं सुखी एवं प्रसन्न नहीं रह सकूँगा।

☐ स्वास्थ्य, धर्म और नीति को चौपट करने वाली चीजें सर्वथा त्याज्य हैं। उनका त्याग अनिवार्य है।

☐ भोगों से जो सुख मिलता है, वह विद्युत की तरह चंचल और क्षणिक है, जबकि त्याग का सुख सूर्य के प्रकाश के समान स्थिर होता है।

☐ जो कामभोगों से निवृत्त हो चुके हैं, तप ही जिनका धन है, जो संयम में या शीलगुणों में ही रत रहते हैं, उनको जो सुख है, वह सुख उन कामभोगों में नहीं है, जिनमें अज्ञानी लोग ही रमण करते हैं, जिनका परिणाम दुःख ही है।

☐ भोग क्षण मात्र ही सुखकारक हैं, किन्तु बाद में बहुत काल तक दुःखदायी हैं, ऐसा समझकर क्षणिक सुखदायी भोगों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

☐ जो मनुष्य विलासी होता है, वह दुःख का शिकार बनता है।

☐ भोग जब जीवन में अपना आसन जमाता है, तब सद्गुणों के लिए कब्र खुदने लगती है।

☐ अत्यन्त विषयोपभोग भी अप्राप्त दशा में ही सुन्दर लगते है, प्राप्त होने पर उनका सौन्दर्य फीका और नीरस लगने लगता है।

☐ जब कोई मनोगत सभी कामभोगों की कामनाओं का त्याग कर देता है, तथा अपने आप में तृप्त हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ-संयत कहलाता है।

☐ अतिभोगी-विलासी जीवन अत्यन्त निकृष्ट एवं पामर जीवन है।

☐ भगवान महावीर ने श्रावकों को उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत स्वीकार करके, भोगों की मर्यादा करके, सुखशान्ति एवं सन्तोष से युक्त जीवन विताने का सन्देश दिया है।

☐ हमने भोगों का उपभोग नहीं किया, भोगों ने ही हमारा उपभोग कर डाला।

☐ भोगों की भूख मनुष्य को, उसके समस्त शुभ कार्यों एवं गुणों को ले डूबती है।

☐ भोग में रोग का भय निहित है।

☐ भोगों का सुख क्षणिक है और परिणाम में चिरकाल तक दुःखकारी है।

☐ भोग जन्म-जन्मातर तक दुःख देते है।

☐ भोगों को निःशंक होकर भोगने से कितने भयंकर दुःख भोगने पड़ते है, जो उन भोगों से अनेक गुना अधिक दण्ड है।

☐ अगर भोगों से सर्वथा छुटकारा पा लो, तब तो सबसे अच्छा है। अगर उतना सामर्थ्य न हो तो, उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत ग्रहण करके उपभोग परिभोग की मर्यादा करो।

☐ विशेषतः यौवन आने पर मनुष्य भोगों के पीछे अन्धा होकर न दौड़े, अपितु अपनी परिस्थिति, शक्ति, रुचि, हैसियत और आर्थिक क्षमता का विवेक करके ही उसे भोगों की मर्यादा (सीमा) करनी चाहिए।

☐ सांसारिक कामभोगों के गुलाम बनकर अपनी जिन्दगी को बर्बाद मत करो, दुःखी मत बनाओ। अपने जीवन के बादशाह बनो। भोगों की गुलामी से तुम पर भोग हावी होकर आधिपत्य करेंगे।

☐ जो भोगों के गुलाम है, वे जीवन के स्वामी या बादशाह नहीं हो सकते।

☐ जीवन के बादशाह बनने का सबसे आसान तरीका है उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत पालन का अभ्यास करना।

☐ मनुष्य का आत्मा सम्राट है, बादशाह है, अपने जीवन का स्वयं अनुशास्ता, प्रशासक एवं इस सारे साम्राज्य का अधिष्ठाता है। लेकिन इन्द्रिय, मन और शरीर के विषय-भोगों के अधीन होकर उसने अपने को गुलाम बना लिया है।

☐ एकमात्र अपने आप पर विजयी बन जाने पर इन्द्रियाँ, मन आदि सब पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

☐ उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत से श्रावक भोगों का गुलाम नहीं, उनका स्वामी बन सकेगा।

☐ सुख और दुःख मन की ही तो माया है।

☐ यह एक सर्वविदित तथ्य है कि सुख का मूल आत्मशक्ति में है।

☐ आत्मशक्ति का सच्चा विकास पदार्थों के उपभोग में नहीं, त्याग में है।

☐ त्याग (पदार्थों का त्याग) द्वारा आत्मशक्ति बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत है।

☐ उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत श्रावक के जीवन में मितव्ययता का पाठ पढ़ाता है।

☐ मितव्ययी लोग थोड़ी सी आय से शान से एवं शान्तिपूर्ण जिन्दगी बिता लेते है।

☐ प्रदर्शन, आडम्बर एवं अपव्यय ये तीनों चीजें विवेकी मनुष्यों का लक्षण नहीं।

☐ मितव्ययी मनुष्य व्यवस्था और उल्लास की, बेफिक्री और स्वाभिमान की जिन्दगी बिताता है।

☐ अधिकांश रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण खान-पान का अविवेक है। स्वाद-लोलुप लोग अपनी रसना के वश होकर अधिकाधिक भ्रष्ट चीजें अतिमात्रा में खा-पीकर अपना धर्म, धन, स्वास्थ्य और रुचि सब कुछ चौपट कर देते है।

☐ जो श्रावक सप्तम व्रत ग्रहण कर लेता है, वह भोजन, वस्त्र ही नहीं जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक-अनावश्यक, हितकर-अहितकर, धर्म के अनुकूल-प्रतिकूल तमाम बातों का विवेक करता है।

☐ विवेकी व्यक्ति उन चीजों के उपभोग का त्याग कर देते हैं जो बिलकुल अनावश्यक, अप्राकृतिक एवं धर्म के विरुद्ध हों।

☐ सोने-चांदी के आभूषणों से स्त्री का सौन्दर्य नहीं बढ़ता, वह बढ़ता है—शील, सेवा, सादगी, दान और त्याग से।

☐ जिन वस्तुओं का उपयोग किये बिना साधारणतया निर्वाह नही हो सकता, उनकी मर्यादा करके, शेष समस्त चीजों के उपभोग-परिभोग का त्याग करना चाहिए।

☐ श्रावक के जीवन का लक्ष्य पूर्ण त्याग की ओर बढ़ना है।

☐ आवश्यकताओं को सीमित कर लेने से जीवन में बहुत शान्ति मिलती है।

☐ इस व्रत के स्वीकार करने से मूल व्रतों का विकास होता है, वे देदीप्यमान होते हैं, सादगी से जीवन व्यतीत होता है, जनता में मनुष्य विश्वस्त एवं प्रतिष्ठित हो जाता है।

☐ असंयमित जीवन वाले के मूलव्रत निर्मल नहीं रह सकते।

☐ सप्तम व्रत का उद्देश्य तो शारीरिक आवश्यकताओं को कम से कम करके श्रावक के जीवन को मर्यादित, विवेकसम्पन्न, सादा, संयमपोषक बनाना है।

३. उपभोग-परिभोग-मर्यादा और व्यवसाय-मर्यादा

☐ व्यक्ति अभी पूर्णता तक पहुँचा नहीं है। उसके लिए मर्यादाएँ पद-पद पर आवश्यक है। ये मर्यादाएँ बलात् थोपी हुई नहीं, अपितु स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृत होती है।

☐ अपूर्ण साधक के लिए स्वेच्छा से स्वीकृत मर्यादा अनिवार्य हैं।

☐ मर्यादा का अर्थ मनीषियों ने सीमा, नियंत्रण, संयम व नियमानुवर्तिता किया है।

☐ जो मनुष्य अपने उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थों एवं व्यवसाय के सम्बन्ध में मर्यादाबद्ध है, उसका जीवन सुखी, विश्वसनीय एवं परमार्थी होता है।

☐ जो गृहस्थ श्रावक उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं के सम्बन्ध में मर्यादाओं का अतिक्रमण न करके जो कुछ भोगने योग्य है, उसका अस्वादवृत्ति से अनासक्त भाव से उपभोग-परिभोग करते है, वे कभी दुःखी नहीं होते।

☐ मर्यादा का त्याग करके उपभोग करना स्पष्टतः अस्वास्थ्य, रोग, शोक और बहुसन्तान के समान दुःख का हेतु बन जाएगा।

☐ जो पदार्थ एक बार सेवन करने के पश्चात् तत्काल या समयान्तर में पुनः सेवन न किया जा सके, काम में न आ सके, उसे उपभोग कहते है।

☐ जो वस्तु एक बार से अधिक भी सेवन या इस्तेमाल की जा सकती है, उसे परिभोग कहते है।

☐ जो पदार्थ शरीर के आन्तरिक भाग से भोगे जाते है, उन्हें भोगना उपभोग है। जो पदार्थ शरीर के बाह्य भागों से भोगे जाते हैं, उन्हें भोगना परिभोग है।

☐ उपभोग और परिभोग के योग्य पदार्थों के विषय में ऐसी मर्यादा करना कि मैं अमुक पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों का उपभोग-परिभोग नहीं करूँगा, इस मर्यादा को उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत कहते हैं।

☐ पदार्थों के उपभोग या परिभोग के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल से मर्यादा करना ही उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है।

☐ श्रावक द्वारा मर्यादा में रखी हुई उपभोग्य-परिभोग्य वस्तु पाँच दोषों से युक्त है तो उस दोष-युक्त वस्तु का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

☐ पाँच दोषरूप कारण ये हैं—त्रसवध, बहुवध, प्रमाद, अनिष्ट और अनुपसेव्य।

☐ त्रसवधजन्य वस्तुओं का उपभोग-परिभोग सर्वथा त्याज्य समझना चाहिए।

☐ मद्य बहुवधजन्य होने से वर्ज्य है।

☐ कामोत्तेजक, आलस्यवर्धक आहार से श्रावक को दूर रहना चाहिए।

☐ गृहस्थ-श्रावक अपने आहार-विहार में अस्वादवृत्ति का परिचय दे, साथ ही आहारशुद्धि भी रखे।

☐ आहार शुद्ध, सात्विक एवं न्याय-प्राप्त हो तो सत्वशुद्धि या अन्तःकरण शुद्धि होती हैं। अन्तःकरण निर्मल होने पर स्मृति लाभ होता है, आत्म-स्मरण सदा रहने लगता है। उससे हृदय की समस्त ग्रंथियाँ खुल जाती हैं।

☐ स्वादवृत्ति से, आसक्तिभाव से किया गया आहार चित्तशुद्धि में सहायक नहीं है।

☐ अस्वादवृत्ति की साधना के लिए शरीर को साधन मानना चाहिए, साध्य नहीं।

☐ स्वादवृत्ति केवल रसनेन्द्रिय का विषय नहीं, सभी इन्द्रियों का विषय है।

☐ खाद्य-पदार्थों के विषय में व्रती श्रावक की दृष्टि क्षुधानिवारण की हो।

☐ औषध समझकर भोजन का सेवन करें, औषध की तरह आहार ग्रहण करें।

☐ आहार के दोषों में सयोग नामक एक दोष भी बताया है, उसका तात्पर्य है, स्वाद-निर्माण करने के लिए नाना प्रकार की चीजों का मिश्रण करना।

☐ अस्वादवृत्ति वाले साधक की बुद्धि पंचेन्द्रिय विषयों में रस नहीं लेती।

☐ अस्वादवृत्ति का पालन मन-वचन-काया से मृत्युपर्यन्त करना चाहिए। शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझने पर ही अस्वादवृत्ति का पालन भलीभांति हो सकता है।

☐ भोजन की दृष्टि से सप्तमव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है—(१) सचित्ताहारे (२) सचित्तपडिबद्धाहारे (३) अपक्वौषधिभक्षणता (४) दुष्पक्वौषधिभक्षणता (५) तुच्छौषधिभक्षणता।

☐ श्रावक को श्रमणों का उपासक होने के नाते सचित्त वस्तु के सेवन (उपभोग) का त्याग करना चाहिए। सचित्त का अर्थ सजीव, सचेतन है।

☐ श्रावक यथासंभव अचित्त न बनाए हुए (सचित्त) अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग करे।

☐ उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत के समस्तव्रत संस्पर्शी पाँच अतिचार इस प्रकार हैं--विषयरूपी विष के प्रति आदर रखना, बार-बार भोग्य पदार्थों को स्मरण करना, पदार्थों के प्रति अत्यधिक लोलुपता रखना, भविष्य के भोगों की अत्यन्त लालसा रखना, भोगों में अत्यधिक तल्लीन होना।

☐ रात-दिन भोगों के चिन्तन में निमग्न रहने वाला श्रावक बाह्यरूप से व्रत ग्रहण कर लेने पर भी अन्दर से खोखला है।

☐ सामान्यतया मनुष्य को आवश्यकताओं की तीन कड़ियाँ हैं—(१) मूल आवश्यकताएँ, (२) कृत्रिम अथवा विलासजन्य आवश्यकताएँ और (३) व्यसनरूप आवश्यकताएँ।

☐ आज चारों ओर से अभाव-अभाव की ध्वनि आ रही है।

☐ वास्तविक अभाव की अवस्था में तो मनुष्य का जीना दूभर हो जाता है।

☐ मूल आवश्यकताओं को तो कोशिश करके भी नहीं बढ़ाया जा सकता। कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि का कोई अन्त नहीं।

☐ अभाव का कारण मूल आवश्यकता की पूर्ति नहीं, अपितु भोजन के साथ पूतना राक्षसी की तरह जुड़ी हुई कृत्रिमता है।

☐ आवश्यकताओं की न्यूनाधिकता के अनुपात में ही सुख-दुःख की वृद्धि होती है।

☐ आवश्यकताएँ जिस तेजी से या अनुपात से बढ़ती हैं, उस अनुपात से आय का बढ़ सकना असंभव है।

☐ यह जरूरी नहीं है कि स्तर, स्थान या पद में वृद्धि हो जाने पर जरूरतों का स्तर बढ़ाया ही जाए। रहन-सहन, आहार-विहार का स्तर तो वास्तव में उसकी स्वच्छता, सादगी तथा व्यवस्था ही मानी जानी चाहिए, न कि बहुमूल्यता या बाहुल्यता।

☐ तीसरी आवश्यकताएँ हैं—व्यसनमूलक, प्रदर्शनपूरक तथा वासना उद्बोधिनी। ये तीसरे स्तर की आवश्यकताएँ न तो मनुष्य-जीवन के लिए जरूरी हैं, न लाभदायक बल्कि वे हानिकारक हैं। मानव-जीवन की भयानक शत्रु हैं।

☐ दूसरों के शोषण से त्रस्त मनुष्य एक बार स्वयं अपना शोषण बन्द कर दे तो भी बहुत राहत पा सकता है।

☐ अपनी आय की कमी की शिकायत करने के बजाय अपने व्यय की विवेचना कीजिए।

☐ कृत्रिम आवश्यकताओं के लिए व्यय करना अपने परिश्रम के साथ अन्याय करना है।

☐ श्रावक को अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ वहुत ही सीमित रखनी चाहिए।

☐ वर्तमान युग के अर्थ-संकटापन्न समय में तो श्रावक का पराश्रित होकर जीना कथमपि उचित नहीं है।

☐ श्रावक विशुद्ध धर्म-भावना से ही अर्थोपार्जन करेगा; बेईमानी, अन्याय, अनीति, द्रोह, शोषण, छलछिद्र या धोखेबाजी से धन कभी नहीं कमाएगा।

☐ वही धन आत्म-विकास में सहायक हो सकता है, जो ईमानदारी और नैतिक परिश्रम से कमाया गया है।

☐ धन के साथ मेरी धर्मबुद्धि कायम रहे ।

☐ पापबुद्धि से या पापकर्म से उपार्जित धन मनुष्य की बुद्धि को भी पुनः पापमयी बनाता है ।

☐ पूर्णतः पापरहित, निरारम्भी आजीविका गृहस्थ श्रावक की नहीं होती ।

☐ जो श्रावक अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मानुसारी, धर्मिष्ठ, धर्मख्याति, धर्म-पलोकिता, धर्म-प्रज्वलन (प्रेरणा), धर्म समुदाचार युक्त होते हैं, वे धर्म से ही आजीविका चलाते हुए जीवन यापन करते है ।

☐ गृहस्थ श्रावक ऐसा व्यवसाय नहीं करेगा, जो महारम्भ-महापरिग्रह रूप महापाप कालिमा से युक्त हो । वह धर्मपूर्वक ही आजीविका करेगा ।

☐ अल्प आय में वही श्रावक सन्तुष्ट रह सकता है, जिसकी मूलभूत आवश्यकताएँ भी कम से कम हों ।

☐ श्रावक को निषिद्ध एवं त्याज्य धन्धों से दूर रहकर ही अपना जीवन यापन करना चाहिए ।

☐ कर्मादानरूप पन्द्रह व्यवसाय श्रावक के लिए मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याज्य हैं ।

☐ जो कार्य महापापरूप है, निंद्य है, अनिष्ट है, श्रावक के लिए वह सर्वथा निषिद्ध एवं त्याज्य ही होगा, फिर वह कार्य आर्थिक दृष्टि से चाहे कितना ही लाभकर हो ।

☐ श्रावक को कर्मादानरूप व्यवसायों द्वारा धनार्जन करने का स्वप्न में भी विचार नही करना चाहिए ।

४. अनर्थदण्ड-विरमण व्रत

☐ भगवान महावीर श्रावकों के लिए तीन गुणव्रतों का विधान करते है—प्रथम दिग्परिमाण व्रत, द्वितीय उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत और तृतीय अनर्थदण्ड-विरमण व्रत ।

☐ जिसके द्वारा आत्मा कर्मबन्धन के कारण दण्डित हो, सजा पाए उसे दण्ड कहते है ।

☐ मन-वचन-काया इन तीन योगों से होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति दण्ड-रूप होती है।

☐ शुभ आश्रवों (पुण्य) की प्रवृत्ति से दण्ड शुभ मिलता है, जबकि अशुभ आश्रवों (पाप) की प्रवृत्ति से अशुभदण्ड मिलता है।

☐ सुज्ञ श्रावक को अशुभाश्रव-जनित दण्डरूप प्रवृत्तियों में से निरर्थक प्रवृत्तियों को छाँटकर अलग कर लेना है, सार्थक को रखना है।

☐ अशुभाश्रवजनित दण्ड रूप सभी प्रवृत्तियाँ त्याज्य होती हैं।

☐ जब दण्डरूप प्रवृत्तियाँ करनी ही पड़ती हैं तो श्रावक ऐसी ही प्रवृत्ति करे जिससे कुछ प्रयोजन तो सिद्ध हो।

☐ जिससे उपभोग-परिभोग होता हो, वह श्रावक के लिए अर्थ है। जिससे उपभोग-परिभोग न होता हो, वह अनर्थ है। इसके लिए जो मन-वचन-काया की दण्डरूप प्रवृत्ति—क्रिया हो, वह अनर्थदण्ड है। उसका त्याग अनर्थदण्डविरति नामक व्रत है।

☐ अनर्थदण्डविरतिव्रत की उपयोगिता यह है कि श्रावक अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति के फलाफल पर विचार करना सीखें और जिन प्रवृत्तियों से हानि की अपेक्षा लाभ कम हो, पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो, उनका त्याग करें।

☐ व्रतों का संरक्षक तथा मूलव्रतों में विशेषता पैदा करने वाला होने से यह गुणव्रत है।

☐ निरर्थक, निष्प्रयोजन, बिना किसी कार्य के, केवल हास्य, कौतूहल, अविवेक या प्रमादवश जीवों को कष्ट देना अनर्थदण्ड है।

☐ त्रस-स्थावरजीव को कष्ट देने से बचना हिंसा सम्बन्धी अनर्थदण्ड से बचना है।

☐ श्रावक को अपनी परिस्थिति के अनुसार स्वयं तटस्थ दृष्टि से ऊहापोह करके अर्थदण्ड-अनर्थदण्ड का निर्णय कर लेना चाहिए।

☐ दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश—ये चारों एकार्थक हैं। किसी प्रयोजनवश या कारणवश हुआ दण्ड अर्थदण्ड-सार्थकदण्ड है।

☐ निष्प्रयोजन निरर्थक ही प्राणियों का विघात करना अनर्थदण्ड है।

☐ किसी आवश्यक कार्य के आरम्भ-समारम्भ में त्रस और स्थावर जीवों को जो कष्ट होता है, वह अर्थदण्ड है। निष्प्रयोजन ही बिना, किसी कारण के केवल प्रमाद, कुतूहल, अविवेक आदि के वश जीवों को कष्ट देना अनर्थदण्ड है।

☐ अनर्थदण्ड का त्याग करने का संकल्प करना, अनर्थदण्ड-विरमण व्रत कहलाता है।

☐ श्रावक को हिंसा आदि पाँचों आस्रवों के सन्दर्भ में अनर्थदण्डों का विचार करके उनसे निवृत्त होना चाहिए।

☐ श्रावक को अनर्थदण्डरूप निरर्थक कार्यों का त्याग कर देना चाहिए, तभी श्रावक के अहिंसा आदि पाँच मूलव्रत उत्तरोत्तर निर्मलतर एवं विशुद्धतर होते जाएँगे।

☐ श्रावक उन्हीं प्रवत्तियों को करे जो अर्थदण्डरूप हों, जो प्रवृत्तियाँ निरर्थक निष्प्रयोजन हैं, जिनका जीवन-निर्वाह करने में कोई औचित्य नहीं है, उन अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियों का त्याग कर दे।

☐ आवश्यक प्रवृत्ति से जनित अर्थदण्ड को अपनाए बिना कोई चारा नहीं।

☐ भगवान महावीर ने श्रावक के लिए दण्डमात्र का त्याग करने की बात नहीं कही, अपितु उन्होंने कहा कि जो अनर्थदण्डरूप प्रवृत्तियाँ हैं, उनका त्याग करो।

☐ दण्डजनित पाप तभी छूट सकता है, जब पूर्णतया त्यागवृत्ति धारण कर ली जाए।

☐ अनर्थदण्ड-विरमण व्रत को स्वीकार करके श्रावक प्रत्येक प्रवृत्ति के विपय में विवेक करके अनर्थदण्ड से वचकर व्यर्थ के पाप से आत्मा की रक्षा कर लेता है।

☐ अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियों के चार आधारस्तंभ शास्त्रकारों ने वताए है—(१) अपध्यानाचरित, (२) प्रमादाचरित, (३) हिंस्रप्रदान और (४) पापोपदेश।

☐ अपध्यान का मतलब है—अप्रशस्त ध्यान। अप्रशस्त विचारों में—बुरे विचारों में मन को एकाग्र करना अप्रशस्त ध्यान है।

☐ अनर्थदण्ड के अन्तर्गत आर्तध्यान और रौद्रध्यान माने गए हैं।

☐ निरर्थक बुरे विचारों मे चित्त को एकाग्र करना मानसिक अनर्थदण्ड है।

☐ सर्वप्रथम आर्तध्यान है—अनिष्ट संयोग।

☐ मन में जो बुरे विचार उत्पन्न होते है, उन्हीं विचारों में डूबते-उतराते रहना, मन को निमग्न कर देना अनिष्ट संयोग है।

☐ अनिष्ट मात्र की आशंका से भयग्रस्त बने रहना, उन्हीं आशंकाओं के दुर्विचारों में मग्न रहना भी अनिष्ट संयोग आर्तध्यान है। यह अनर्थदण्ड होने से त्याज्य है।

☐ श्रावक को अपने तत्त्वज्ञान के बल पर निर्भीक, निश्चल, निरातंक एवं निःशंक बनना चाहिए।

☐ आत्महीनता की मनोवृत्ति भी अनिष्ट संयोगों के कारण व्यक्ति के मन में घर कर लेती है।

☐ आत्महीनता का शिकार व्यक्ति अपनी चित्तवृत्तियों को निरन्तर व्याधि, दुःख, न्यूनता तथा निर्बलता की ओर लगाता रहता है।

☐ आत्महीन व्यक्ति में चिरसंचित भय के संस्कार उसे गुलाम बनाए रखते हैं।

☐ श्रावक को इस आत्महीनता की ग्रन्थि से मुक्त रहना चाहिए ताकि वह अनिष्ट संयोगजन्य आर्तध्यान रूप अनर्थदण्ड से बच सके।

☐ विचारबलरूप शस्त्र से ही आत्महीनता की गांठ काटी जा सकती है।

☐ आर्तध्यान का दूसरा प्रकार—इष्टवियोग है।

☐ आर्तध्यान मनुष्य को दुर्गति में ले जाता है।

☐ आर्तध्यान का इतना भयंकर दुष्परिणाम है, इस बात को समझकर श्रावक-श्राविका को मृत पुरुष के वियोग में रोने-धोने की कुरूढ़ि को तिलांजलि देनी चाहिए।

☐ आर्तध्यान का तीसरा प्रकार है—शारीरिक व्याधियों से होने वाले दुःखों के कारण अहर्निश चिन्तित रहना।

☐ आर्तध्यान का चौथा प्रकार है—निदानकरण। अप्राप्त विषय-भोगों को प्राप्त करने की लालसा से तीव्र संकल्प करना, उन अप्राप्त पदार्थों के कारण मन में दुःख करना।

☐ दूसरा अपध्यान है—रौद्रध्यान, जो आर्तध्यान से भी भयंकर है।

☐ आर्तध्यान में तो व्यक्ति व्यर्थ के बुरे विचार करके अपनी आत्मा का ही अहित करता है, किन्तु रौद्रध्यान में अपनी आत्मा के अहित के साथ-साथ दूसरों का अहित करने का दुश्चिन्तन करता है।

☐ क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, अभिमान आदि मनोविकारों से प्रेरित होकर दूसरों के लिए अनिष्ट-चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है।

रौद्रध्यान के भी चार प्रकार शास्त्रकारों ने बताए हैं—हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और संरक्षणानुबन्धी।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों अशुभ ध्यान श्रावक के लिए त्याज्य हैं।

राग-द्वेषवश किसी प्राणी के वध, बन्ध, छेदन आदि का, तथा परस्त्री को अपनी बनाने आदि का सर्वतोमुखी ध्यान करने को जिनशासन के धुरन्धर अपध्यान कहते हैं।

न्याय या न्यायी की विजय एवं अन्याय या अन्यायी की पराजय के विचार अपध्यान रूप नहीं हैं।

☐ मनुष्य उपादान का विचार करे तो दुर्ध्यान से बचकर सुध्यान में स्थिर हो सकता है।

☐ अशुभ विचारों का सहवास असुरों के सहवास सरीखा भयंकर है। अतः अशुभ विचारों के केन्द्रभूत आर्तध्यान-रौद्रध्यान से श्रावक को बचना चाहिए।

☐ प्रमादयुक्त आचरण का नाम प्रमादाचरण है। प्रमाद जीवन के लिए जीता-जागता मरण है।

प्रमाद मनुष्य-जीवन को पतन की ओर ले जाता है।

जो समय को नष्ट कर देता है, समय उस मनुष्य का नाश कर देता है।

श्रावक को ऊँच-नीच, छुआछूत आदि मानव भेद या उच्चता का मद नहीं करना चाहिए।

पाँच इन्द्रियों के सुप्रसिद्ध २३ विषय हैं, उनमें आसक्त होना—विषय प्रमाद है। आत्मा इन पंचेन्द्रिय विषयों में निमग्न होकर अपने आपको भूल जाता है।

श्रावक शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धरूप पाँचों इन्द्रियों के विषयों का आसक्तिपूर्वक कभी सेवन नहीं करता।

श्रावक को कम से कम अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणीय रूप दोनों प्रकार के कषायों का तो त्याग कर ही देना चाहिए।

निन्दा-चुगली [illegible] और [illegible] के [illegible] है। निन्दा-[illegible] [illegible] वैमनस्य, कलह और संघर्ष बढ़ते हैं।

☐ विकथा आत्म-गुणों की नाशक है। विकथा चार प्रकार की है—स्त्री-विकथा, भक्त (भोजन) विकथा, राजविकथा और देशविकथा।

☐ श्रावक को जागरूक और सतर्क रहकर तमाम प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए, उसकी थोड़ी-सी असावधानी से अनर्थ होने की सम्भावना रहती है।

☐ अनर्थदण्ड का तीसरा आधार-स्तम्भ हिंस्रप्रदान है। हिंसा करने के लिए उसके साधनों का दान करना हिंसा दान है।

☐ पापोपदेश अनर्थदण्ड का चौथा भेद है। इसका अर्थ पापकर्म का उपदेश देना है।

☐ पापोपदेश से कोई लाभ नहीं है, बल्कि दूसरे को अधःपतन की ओर ले जाना है। इसलिए श्रावक के लिए यह त्याज्य है।

☐ अनर्थदण्ड का परित्याग श्रावक के लिए आवश्यक है।

☐ अनर्थदण्ड के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण और उपभोगपरिभोगतिरिक्तता (अतिप्रसाधन, भोगानर्थक्यं)।

☐ जो जितना भी कम बोलता है, वह उतना ही सक्षम तथा चिरजीवी होता है। प्रकृति की चिरंजीविता का रहस्य उसका मौन है।

☐ बातूनी या वाचाल व्यक्ति कई बार बहुत खतरनाक होता है। अधिक बोलने से मानसिक एवं आत्मिक शान्ति का भंग होता है।

☐ जो मनुष्य वाणी का संयम रख सकता है, उसकी वाणी बड़ी प्रभावशालिनी एवं तेजस्वी होती है।

☐ शरीर-रक्षा या जीवन-निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, शय्या आदि पदार्थो का उपभोग अर्थदण्ड है, जबकि रसास्वाद, फैशन-विलास, बड़प्पन प्रदर्शन या मौज-शौक के लिए भोजन, वस्त्र, शय्या, आदि का उपभोग करना अनर्थदण्ड है।

☐ अनर्थदण्डविरमणव्रत से मन-वचन-काया से होने वाली समस्त प्रवृत्तियाँ शुद्ध होती हैं।

☐ अनर्थदण्ड का त्याग साधक को प्रकृति के निकट लाता है, प्राकृतिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है, जबकि अनर्थदण्ड के पुजारी भोगपरायण भौतिकवादी लोग कृत्रिम जीवन जीना पसन्द करते हैं, जो उनके ही लिए अधिक दुःखदायक, अशान्तिजनक और भयावह होता है।

शिक्षाव्रत

☐ देखने में सव मनुष्य लगभग समान दिखाई देते हैं, पर उनके बीच में जो असाधारण अन्तर दीख पड़ता है, उसका कारण व्यक्तियों की आन्तरिक स्थिति की दुर्वलता या सबलता ही है।

☐ सुसंस्कृत व्यक्तित्व के निर्माण की संभावना तभी होती है, जब विचार-आचार को व्यवस्थित ढंग से पनपने का अवसर मिलता है।

☐ बाहर से थोपी हुई सफलता किसी भी समय असफलता में परिणत हो सकती है।

☐ अयोग्य की सफलता लोगों के लिए व्यंग्य या उपहास का माध्यम वनकर रह जाती है।

☐ किसी व्यक्ति की वास्तविक और सुस्थिर उन्नति का आधार उसकी मनोभूमि का परिष्कार ही माना जा सकता है।

☐ विपत्तियाँ मनस्वी पुरुष का कुछ विगाड़ नहीं पातीं, बल्कि विपत्तियों को समभाव से सहकर पार करने के बाद उसकी प्रतिभा में चार चाँद लग जाते हैं।

☐ व्यक्ति को आत्मिक विकास के लिए सद्गुणों की जडें सींचनी चाहिए तभी उसका जीवनरूपी वटवृक्ष सुविकसित और विशाल बन सकेगा।

☐ सद्गुणों की सम्पत्ति साधक को अपने ही वलवूते पर प्राप्त हो सकती है।

१. सामायिक व्रत की सार्वभौम उपयोगिता

☐ जैसे समस्त पदार्थों का आधार आकाश है, वैसे ही समस्त सद्गुणों का आधार सामायिक है क्योंकि सामायिक से रहित चारित्रादि गुणान्वित नहीं हो सकते।

☐ साधक को सद्गुणों के विकास के लिए उन्हीं के सम्वन्ध में सोचना, वैसा ही पढ़ना, वैसा ही वोलना चाहिए जो सद्गुणों की वृद्धि में सहायक हो।

☐ श्रावक जो भी व्रत स्वीकार करता है, वह सर्वांशरूप से नहीं, एकांश-रूप से करता है।

☐ वैराग्य के बिना, त्याग में स्थिरता नहीं आती।

☐ शास्त्रकारों ने सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास एवं अतिथि-संविभाग इन चार शिक्षाव्रतों का विधान किया, जिनसे श्रावक आत्मस्वरूप का भान जागृत रख सके, भेदविज्ञान को भी स्थायित्व प्रदान कर सके।

☐ त्यागवृत्ति को टिकाने के लिए सर्वप्रथम सामायिक व्रत का अभ्यास करना आवश्यक है।

☐ सामायिक व्रत को स्वीकार न करने पर श्रावक को अपने जीवन के लक्ष्य का भान नहीं होगा।

☐ अधिकांश लोगों की एक ही शिकायत है—संघर्ष, अभाव, दुःख, विपत्ति, क्लेश, अशान्ति और परेशानी।

☐ मनुष्य की बुद्धि एवं भौतिक विद्या में वृद्धि हुई है, लेकिन हृदय अभी तक संकीर्ण बना हुआ है।

☐ सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरणीय आदि चार घाति कर्मों का सर्वथा-पूर्णरूपेण क्षय करके लोकालोकप्रकाशन केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

☐ जो भी साधक भूतकाल में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जो मोक्ष जा रहे हैं और भविष्य में जो मोक्ष जाएँगे, समझना चाहिए, वे सब सामायिक के प्रभाव से ही गए हैं, जा रहे हैं, या जाएँगे।

☐ समभाव रूप सामायिक के बिना न कोई कृतकृत्य हुआ है, और न ही किसी को मुक्ति प्राप्त हुई है, और न ही होगी।

☐ जब तक हृदय में समभाव का उदय न होगा, तब तक न तो चिन्ता, शोक आदि समस्याओं का निवारण होगा, और न ही आत्मस्थिरता होगी और न मोक्ष होगा।

☐ चाहे कोई श्वेताम्बर हो, चाहे दिगम्बर, चाहे बुद्ध हो या और किसी वेष का साधक हो, जिसकी आत्मा समभाव से वासित होगी, वह निःसन्देह मोक्ष को प्राप्त कर लेगा।

☐ सामायिक की साधना स्वीकार करने पर और बार-बार उसका अभ्यास करने पर साधक का चित्त एकाग्र होने लगेगा, फिर चित्त स्थिर न होने की उसकी शिकायत नहीं रहेगी।

☐ परजन हो या स्वजन, सामायिक व्रती का मन संसार की समस्त ममत्व बुद्धि से दूर रहकर सदा राग-द्वेष की परिणति को छोड़कर समभाव में स्थिर रहेगा।

☐ कोरे तप, जप, क्रियाकाण्ड आदि से कदापि जीवन में समभाव नहीं आ सकता, न केवल निष्क्रिय और आलसी बनकर पड़े रहने से समभाव आ जाएगा।

☐ शान्त, अनुद्विग्न और निश्चल रहने के लिए व्यक्ति का समभाव से अभ्यस्त होना आवश्यक है।

☐ स्वयं को अप्रिय, प्रतिकूल और दुःखद लगने वाली, कठिनाइयों को बढाने वाली समस्याएँ किस प्रकार अपने अनुकूल बनाई जायँ ? यह जीवन-विज्ञान का एक ज्वलन्त प्रश्न है।

☐ उलझनों से रहित जीवन की व्यवस्था इस सृष्टि में नहीं हुई है।

☐ परिस्थितियाँ अपने अनुकूल बनें, यह सोचते रहने की अपेक्षा परि-स्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए साम्ययोग की दृष्टि और तदनुसार प्रयत्न होना चाहिए।

☐ समत्वयोगी श्रावक के भीतर भी ऐसी विशेषता होनी चाहिए, जिससे विपन्नता सम्पन्नता में बदल सके।

☐ समत्वयोग से जीवन जीने की कला प्राप्त होती है। इसमें मुख्यतया दो प्रकार का प्रशिक्षण होता है—(१) दूसरों की प्रतिकूलता को अनुकूलता में परिवर्तित करने की शक्ति, (२) समागत प्रतिकूलता को हँसते-खेलते सहन कर लेने की क्षमता।

☐ सुख और दुःख दोनों का जोड़ा है। यहाँ सर्वत्र न सुख है, न दुःख।

☐ विपत्ति जब आती है तो अकेली नही आती, वह स-दलबल आती है।

☐ जो सामायिक का साधक नही है, वह दुःख का अनुभव पद-पद पर करने लगता है। यहाँ तक कि उसे जीवन ही दुःखमय लगने लगता है।

☐ सामायिक की तालीम पाया हुआ व्यक्ति जीवन को एक खेल समझता है।

☐ सामायिक का अभ्यासी जीवन को खेल की तरह खेलता है।

☐ जिन्दगी का खेल भी हॉकी, फुटबाल, शतरंज आदि खेलों की तरह है !

☐ जो खेल की हार-जीत को ज्यादा महत्व दे देते हैं, वे नासमझ खिलाड़ी अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं।

☐ जो सामायिक (समत्वयोग) की दृष्टि से जीना नहीं जानते, वे छोटी-छोटी बातों को बहुत अधिक महत्व दे देते हैं और फिर चिन्ता, भय, विक्षोभ, आशंका और निराशा में ही डूबे रहते हैं।

☐ सामायिक का अभ्यासी स्वयं को जीवन-खेल का खिलाड़ी समझकर सारे संसार को एक क्रीड़ास्थल समझकर सावधानीपूर्वक जीवन का खेल खेलता है।

☐ जीवन एक स्वप्न है। जो व्यक्ति सामायिक व्रत का अभ्यासी है, वह स्वप्न को सत्य नहीं मानकर मिलन-बिछोह, हँसने-रोने, सम्पत्ति-विपत्ति आदि को सुख-दुःख रूप नहीं समझता, न हर्ष-शोक करता है।

☐ जीवन एक महान्-यात्रा है। जीवन यात्रा का सच्चा यात्री भी सम-भाव का पाथेय लेकर चलता है।

☐ सामायिकव्रती श्रावक सुखों के समय राग और दुःखों के समय द्वेष न करके समभाव की पगडंडी पर निराबाध चलता रहे, अपने लक्ष्य—वीत-रागता के प्रति लगन और तत्परता बनाए रखे।

☐ जीवन एक संग्राम है। कठिनाइयाँ, दुःख, मुसीबतें आदि ऐसे शत्रु हैं जिनके साथ समत्वयोग का अभ्यासी (सामायिकव्रती) वीर योद्धा की तरह लड़ता है।

☐ समत्वविद्या में पारंगत सामायिक व्रती साधक रक्त की अन्तिम बूँद तक काम-क्रोधादि शत्रुओं से लड़ते हैं और उन्हें परास्त करके पूर्ण आत्म-विकास के पथ पर आगे बढ़ते हैं।

☐ जिन्दगी जीना भी एक प्रकार से भारी उद्योग चलाना है।

☐ जो सामायिक के ज्ञान से अभ्यस्त है, समभावपूर्वक जीवन जीने की कला जानता है, वह व्यक्ति जीवन-उद्योग में आने वाली अगणित समस्याओं को यथार्थ रूप से सुलझा देता है।

☐ विषम परिस्थितियों व संघर्ष का सामना करने में ही सामायिक की आवश्यकता होती है।

☐ जो व्यक्ति सामायिक-साधना का अभ्यस्त होता है, वह विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी व्यग्र नही होता, वरन् धैर्य, समत्व एवं सहनशीलता का आश्रय लेकर कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहता है।

☐ अगर समभावी साधक का कोई इष्ट पदार्थ चला भी जाता है तो वह उसके लिए शोक नहीं करता। वह भाग्य का दास बनकर नही, स्वामी वनकर रहता है।

☐ सामायिक साधना में पारंगत एवं अभ्यस्त व्यक्ति ही विषम परिस्थिति में समभाव रखकर सावद्ययोग से विरत रहकर अपना आत्म-विकास कर सकता है, और नवीन कर्मबन्धन को रोक सकता है।

☐ सामायिक से आत्मा को सावद्ययोग (मन-वचन-काया की पापयुक्त प्रवृत्ति) से विरतिरूप महाफल की प्राप्ति होती है।

☐ साधना अगर आध्यात्मिक है तो उसका भौतिक फल चाहना पुनः समता से विषमता मे जाना है।

☐ सामायिक अध्यात्म-साधना है, वह आत्मा को पौद्गलिक-वैषयिक सुखों की आसक्ति तथा विषम प्रतिकूल परिस्थितिजन्य दुःखों से विरत करके आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर तक पहुँचाने वाली है।

☐ सामायिक का उद्देश्य आत्मा का दुःखों से छुटकारा पाना है।

☐ भौतिक साधनों में सुख नहीं है, जिन्हें प्राप्त करने के लिए सामायिक साधना की जाए। सामायिक के लाभ के सम्बन्ध में इहलौकिक या पारलौकिक सुख-प्राप्ति की कल्पना करना उचित नहीं है।

☐ सामायिक समभाव की साधना है। समभाव आते ही व्यक्ति का विषमभाव नष्ट हो जाता है।

☐ समत्व के प्रकाश में विषमतावर्द्धक सभी सावद्य प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती है। यही सामायिक का लाभ है।

☐ आत्मा के लिए जो-जो दुःख और असमाधि के कारण है, उन सासारिक उपाधियों से मुक्त होना ही सामायिक का फल है।

☐ साधना सुदृढ़ हुए विना उसका यथेष्ट फल नही मिल सकता।

☐ सामायिक को ही जीवन का अंग बना लें तथा सद्गुणों या निरवद्य प्रवृत्तियों का ही खाद दें तथा दुर्गुणों के अन्धड़ से, दुराचार या अनाचार के वातावरण से, सावद्य प्रवृत्तियों के पशुओं से सामायिक वृक्ष की रक्षा करें।

☐ सामायिक व्रत धारक श्रावक को बुरी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नही देना चाहिए, तभी अच्छी प्रवृत्तियों को विकसित होने का अवसर मिलेगा और सामायिक साधना पुष्पित-फलित होगी।

☐ सामायिक साधना एकान्त निवृत्त्यात्मक नहीं है।

☐ सावद्ययोग का परित्याग और निरवद्ययोग का सेवन करना ही सामायिक है।

☐ अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति भी तभी हो सकती है, जब शुभ प्रवृत्ति में साधक प्रवृत्त होगा।

☐ सभी दुष्प्रवृत्तियों का प्रारम्भ कुसंग एवं कुसम्पर्क के कारण होता है।

☐ सामायिक साधक को सावद्य प्रवृत्तियों (बुराइयों-पापकर्मों) के प्रेरक कुसंग और कुसम्पर्क से सदा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

☐ बुरे व्यक्तियों से दूर रहने और अच्छे व्यक्तिओं के सम्पर्क में आने की प्रवृत्ति बढ़ती रहे।

☐ सामायिक के साधक को अपना बाह्य व्यवहार भी ऐसा रखना चाहिए, जिसे देखकर आम जनता भी सामायिक के फल को प्रत्यक्ष जान सके।

☐ ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि से पापकार्य का त्याग किये बिना पाप के फल से बचना एक प्रकार से आत्मवंचना करना है, यह धर्मध्वजीपन है।

☐ सामायिक की सफलता-विफलता के दर्शन तो साधक स्वयं कर सकता है। यथार्थ सामायिक का प्रत्यक्ष फल समभाव की प्राप्ति है।

☐ जो सुख में फूलता नहीं, दुःख में तड़पता नहीं, भयानक वन हो या सुन्दर भवन हो, संयोग हो या वियोग, दोनों ही परिस्थितियों में जिसका सुदृढ़ निश्चल मन सहिष्णु, धीर एवं सम रहता है, वही भाग्यशाली साधक सामायिक का सुफल प्राप्त करता है।

☐ सामायिक शिक्षाव्रत है। शिक्षा का अर्थ है—"पुनः पुनः परिशीलनं अभ्यास शिक्षा" अथवा बार-बार सम्यक् प्रकार से श्रेष्ठ धर्म का अभ्यास करना शिक्षा है।

☐ सामायिक को संस्कारबद्ध करने के लिए दीर्घकाल तक प्रतिदिन नियमित रूप से इसका अभ्यास आवश्यक है।

☐ सामायिक की साधना कठिन अवश्य है, किन्तु अभ्यास से इसके सुदृढ़ होने में सन्देह नहीं।

☐ संसार में असाध्य या अशक्य कुछ भी नहीं है, बशर्ते कि उसके लिए प्रबल पुरुषार्थ, दृढ निष्ठा, मानसिक सन्तुलन, आत्म-विश्वास, उपयुक्त दृष्टिकोण एवं यथार्थ दिशा हो।

☐ मानव शरीर तो जड़-चेतन की सम्मिलित रचना का सर्वोपरि नमूना है। सतत् उद्योग के अभाव में यह बेकार हो जाता है।

☐ सामायिक की प्रेरणा-आत्मविकास की प्रेरणा है, सामायिक एक पापरहित साधना है। इससे चित्तवृत्ति शान्त रहती है, नवीन कर्मों का बन्धन नहीं होता।

☐ समभाव से ओतप्रोत होना ही सामायिक है।

☐ आप सामायिक व्रत की साधना नियमित रूप से करके अपना जीवन सफल बनाएँ।

☐

२. सामायिक का व्यापक रूप

☐ सामायिक की विराट् साधना का प्रकाश सर्वव्यापक है।

☐ सामायिक का अर्थ और उद्देश्य प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समत्व का व्यवहार करना है।

☐ जिस प्रवृत्ति से समता—समभाव का लाभ—अभिवृद्धि हो वही सामायिक है।

☐ समता ही सामायिक है।

☐ समभाव का ज्ञान, समभाव पर श्रद्धा एवं समभाव का आचरण—चारित्र ये तीनों मिलकर भाव-सामायिक है।

☐ जिसकी आत्मा (कहीं भी) सयम में, तप में, नियम में सर्वत्र सन्निहित है, संलग्न है, उसी की सामायिक (साधना) शुद्ध होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

☐ जो साधक त्रस और स्थावर सभी प्राणियों के प्रति सम (समभाव रखता) है, उसी की सामायिक सच्चे माने में सामायिक है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

☐ द्रव्यसामायिक तो भावसामायिक तक पहुँचाने के लिए है।

☐ चाहे तृण हो चाहे स्वर्ण, शत्रु हो चाहे मित्र, सर्वत्र अपने चित्त को राग-द्वेष की आसक्ति से रहित शान्त एवं मध्यस्थ रखना, और पापरहित (निरवद्य) उचित (समभावयुक्त) प्रवृत्ति करना ही सामायिक है।

☐ जैन-शास्त्रों में सामायिक का अभ्यास करने के लिए प्रथम द्रव्य-सामायिक को प्रधानता दी गई है।

☐ भावसामायिक से ओतप्रोत जब द्रव्यसामायिक हो जाती है तो साधक समता के गहन समुद्र में इतना गहरा उतर जाता है कि विषमता की लपटें उसके पास फटक नहीं सकतीं।

☐ संयोग-वियोग का भौतिकता से सम्बन्ध है, आत्मा से नहीं; इसलिए वे आत्मा का कुछ भी बना या बिगाड़ नहीं सकते।

☐ सभी प्राणियों पर समता (आत्मौपम्यभाव) रखना, पाँचों इन्द्रिय-विषयों के निमित्त मिलने पर राग-द्वेष न करना, संयम रखना। अन्तर्हृदय में मैत्री आदि शुभ भावना शुभ सकल्प रखना और आर्त-रौद्र-ध्यानों का परित्याग करके धर्म-ध्यान का चिन्तन करना सामायिक व्रत है।

☐ समस्त सजीव-निर्जीव, मूर्त-अमूर्त पदार्थों पर राग-द्वेष का परित्याग करके समभाव का अवलंबन लेकर तत्वोपलब्धि (समत्वप्राप्ति) मूलक सामायिक अनेक बार करनी चाहिए।

☐ गृहस्थ श्रावक का सब प्रकार अशुभ (आर्त-रौद्र) ध्यान और सावद्य (पापमय) कार्यों का परित्याग करके एक मुहूर्त तक समभाव में (आत्म-चिन्तन, समत्व चिन्तन एवं स्वाध्याय आदि में) व्यतीत करना ही गृहस्थ का सामायिक व्रत है।

☐ द्रव्यसामायिक सामायिक की बाह्य क्रियाओं तथा मन-वचन-काया की शुद्धता तक सीमित है, जबकि विषम-भाव का त्याग कर समभाव में स्थित होना, पौद्गलिक पदार्थों का सम्यक् स्वरूप जानकर ममता दूर करना और आत्मभाव में लीन होना भावसामायिक है।

☐ सामायिक के लक्षणों में सर्वप्रथम आता है—आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान का परित्याग।

☐ अध्यात्म विज्ञान का यह एक सर्वमान्य सत्य है कि मनुष्य जैसा और जिसका ध्यान करता है वैसा ही बन जाता है। यद् ध्यायति तद् भवति।

☐ आर्तध्यान के क्षणों में व्यक्ति के मन, वचन, काया तीनो चंचल एवं विषम हो जाते हैं।

☐ सामायिक की साधना के लिए आर्तध्यान बहुत बड़ा विघ्नकारक है। वह समभाव के लिए चीन की दीवार है।

☐ आर्तध्यान ऐसा राक्षस है जो समता के सत्व को चूस लेता है।

☐ आर्तध्यान चार कारणों से उत्पन्न होता है—(१) अनिष्ट सयोग से, (२) इष्ट वियोग से, (३) प्रतिकूल वेदना से और (४) निदान से।

☐ अज्ञान और मोह में अन्धा जीव रात-दिन सांसारिक पदार्थो के उपभोग की लालसा से व्यथित और चिन्तित रहता है। यह निदानजनित आर्तध्यान है, जिसके नशे में आदमी पागल बनकर समभाव से कोसों दूर हो जाता है।

☐ दूसरा ध्यान जो त्याज्य है, और समभाव में बाधक है, वह रौद्रध्यान है।

☐ रौद्रध्यान भी चार कारणों से पैदा होता है—(१) हिसानुबन्ध, (२) मृषानुबन्ध, (३) चौर्यानुबन्ध एव (४) परिग्रहानुबन्ध।

☐ सामायिक का दूसरा लक्षण है—पापमय या पापकर्मबन्धजनक मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों का त्याग।

☐ पाप और साँप को कभी छोटा नहीं समझना चाहिए।

☐ पाप चाहे छोटा हो या बड़ा, वह प्रधानतया समभाव के साधक की प्रगति में बाधक सिद्ध होता है।

☐ सामायिक के बाद भी पापों या पापस्थानों से बचने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

☐ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एव प्रत्येक काल में सामायिक सतत् विद्यमान रहनी चाहिए। सामायिक में जितनी जागृति होगी, उतनी ही शुद्धता आएगी।

☐ सामायिक का एक लक्षण यह भी बताया है कि सभी इन्द्रियों और मन पर संयम रखो।

☐ द्रव्य-सामायिक का अर्थ है—अच्छे-बुरे, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, सजीव या निर्जीव पदार्थों के प्रति राग द्वेष न करते हुए समभाव रखना।

☐ क्षेत्र-सामायिक का मतलब है—कोई भी स्थान या क्षेत्र अनुकूल

मिले या प्रतिकूल, दोनों ही अवस्थाओं में राग-द्वेष न करके समभाव रखना।

☐ काल समभाव का एक अर्थ—परिस्थिति समभाव भी है।

☐ सुख और दुःख क्या है ? परिस्थितियों का परिवर्तन मात्र है।

☐ सुख-दुःख वास्तव में परिस्थितिजन्य न होकर मनोऽनुभूतिजन्य होते हैं।

☐ सामायिक का साधक अपने सुखी या दुःखी होने के कारण अपने अन्तःकरण में खोजता है, परिस्थितियों को श्रेय या दोष नहीं देता।

☐ मानसिक दृष्टि से दुर्बल मनुष्य संसार में कुछ भी करने लायक नहीं होता।

☐ जिसका हृदय बात-बात में विषाद से आक्रान्त हो जाता है, उसका जीना जीना नही माना जाता।

☐ चिन्तित एवं निराश व्यक्ति की मनःस्थिति किसी पुरुषार्थ के योग्य नहीं रहती।

☐ सामायिक-साधक यही समझता है कि दुःख, कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ हमारे समभाव की परीक्षा लेने आती हैं।

☐ लाभ की परिस्थिति हो या अलाभ की, सुखमय परिस्थिति हो या दुःखमय, जीवन लम्बा और दीर्घकालीन मिले या आज ही मरण उपस्थित हो जाए, कोई निन्दा करता हो या प्रशंसा, सम्मान करता हो या अपमान, सभी परिस्थितियों में सामायिक-साधक सम रहे, स्वस्थ और मध्यस्थ रहे।

☐ अलाभ या अभाव की परिस्थिति में समभावी साधक निराशा को अपने पर छाने नहीं देता।

☐ सामायिक का साधक दूसरों की सम्पन्न स्थिति देखकर असन्तोष से खिन्न या अप्रसन्न नहीं होता।

☐ सामायिक का साधक जीवन हो या मरण दोनों में सम रहता है।

☐ जिन्दगी का मोह भी सामायिक-साधक को नहीं होता।

☐ सामायिक साधक प्रशंसा सुनकर हर्षोन्मत्त नहीं होता, निन्दा सुनकर तिलमिलाता नहीं।

☐ मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ ये चार भावनाएँ समत्वसाधक के हृदय को विशाल बनाकर विश्वप्रेम से आप्लावित कर देती हैं।

☐ भावना का प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है।

☐ भावना में संजीवनी शक्ति है।

☐ भावना की शक्ति विष को भी अमृत में परिणत कर देती है।

☐ पवित्र भावनाओं का आत्मा पर महान् प्रभाव पड़ता है।

☐ मैत्री भावना; सामायिक के साधक की प्राणिमात्र के प्रति आत्मौपम्य भावना को सक्रिय रूप देने वाली है।

☐ दूसरी प्रमोद भावना है, जो गुणीजनों, धर्मात्मा पुरुषों एवं सज्जनों को देखकर पैदा होती है।

☐ सामायिक-साधक प्रमोद भावना के द्वारा गुणों की पूजा करता है।

☐ करुणा भावना तो सामायिक की साधना का प्राण है।

☐ जो व्यक्ति अपने प्रति विरोधी हैं, असहमत हैं, द्वेष रखते है, दोषदर्शी हैं, उन पर भी सामायिक-साधक द्वेष न रखे, उनके प्रति माध्यस्थवृत्ति—तटस्थवृत्ति रखे।

३. सामायिक : विधि, शुद्धि और सावधानी

☐ सामायिक के परिपक्व अभ्यास से लिए वर्षों तक निरन्तर रूप से साधना करना आवश्यक है।

☐ सामायिक दो प्रकार की है—आगार (गृहस्थ) की सामायिक और अनगार (साधु) की सामायिक।

☐ समभाव के सस्कारों को बद्धमूल करने के लिए ही सामायिक की साधना की जाती है।

☐ सामायिक में स्वाध्याय या पठन-पाठन अथवा चिन्तन-मनन उसी विषय का हो, जो समभाव की वृद्धि करे, आत्मिक विकास की प्रेरणा दे।

☐ सामायिक जीवन बदलने की क्रिया है, आध्यात्मिक विकास के पाठों को जीवन में उतारने की क्रिया है।

☐ समय की नियमितता का मन पर भी जादू-सा प्रभाव होता है।

☐ सामायिक के लिए सबसे अच्छा समय प्रभातकाल ही हो सकता है।

☐ स्वर्णिम प्रभातकाल शान्ति और प्रसन्नता का प्रतीक है।

☐ आचार्यों ने सामायिक का काल एक मुहूर्त (४८ मिनट) या दो घड़ी निश्चित कर दिया है।

☐ सामायिक में बैठते समय साधक का मुख पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए अथवा उत्तर दिशा की ओर।

☐ सामायिक में सिद्धासन, पद्मासन या पर्यंकासन इन तीनों में से किसी एक आसन पर बैठने का अभ्यास करना चाहिए।

☐ अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से प्राकृत भाषा में रचित सामायिक पाठ ही उपयुक्त जँचते हैं।

☐ सामायिक दो प्रकार की बताई है—देशसामायिक और सर्वसामायिक। सर्वसामायिक यावज्जीवन के लिए साधु-साध्वी ग्रहण करते हैं, जबकि देशसामायिक गृहस्थ श्रावक अल्पकाल के लिए ग्रहण करते हैं।

☐ सामायिक क्रिया तब तक सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक चित्त में एकाग्रता न हो।

☐ पूर्ण समभाव ही पूर्णता या वीतरागता है। पूर्ण समभाव होने पर आत्मा परमात्मा बन सकता है।

☐ रागद्वेष का सर्वथा नाश तेरहवें गुणस्थान में ही हो सकता है, और तभी वीतरागदशा प्रकट हो सकती है।

☐ पूर्ण वीतरागता प्राप्त किए बिना व्यक्ति भावसामायिक के शिखर पर पहुँच नहीं सकता।

☐ उचित यही है कि आत्मा को साक्षी रखकर सावधानीपूर्वक सामायिक क्रिया प्रारम्भ की जाए।

☐ सामायिक की क्रिया को कठिन समझकर साहसहीन न बनो, अभ्यास करते जाओ, एक दिन अवश्य ही सफलता आपके चरण चूमेगी।

☐ समभाव प्राप्त करने के लिए अभ्यासरूप जो क्रिया की जाती है उसी का नाम सामायिक है।

☐ सामायिक एक प्रत्याख्यानरूप है, संवररूप भी है, संकल्परूप भी।

☐ सामायिक ग्रहणकर्ता कहता है—मैं मन से दुश्चिन्तन न करूँगा,

वचन से असत्य या दुष्ट वचन नहीं बोलूँगा, काया से दुष्ट आचरण न करूँगा।

☐ सामायिक करना विषम मन के साथ युद्ध करना है।

☐ सामायिक के समय सब सावद्य कार्य छोड़कर सूत्र सिद्धान्त का अध्ययन, मनन, चिन्तन, तत्व विचार करना चाहिए।

☐ सामायिक में चित्त की स्थिरता एवं निरवद्य कार्यों में प्रवृत्त रहने के लिए शास्त्रों में पाँच प्रशस्त साधन बताए हैं—वाचना, पृच्छना, पर्यट्टना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

☐ भौतिक प्रगति के लिए वलिष्ठ शरीर, प्रशिक्षित मस्तिष्क, आकर्षक व्यक्तित्व, अभीष्ट उपार्जन, परिपूर्ण परिवार, आवश्यक वातावरण एव अनुकूल अवसर की अपेक्षा रहती है।

☐ आत्मिक प्रगति का मूल्य, महत्व एवं प्रतिफल भौतिक सफलताओं की अपेक्षा कई गुना अधिक है।

☐ जीवन की महत्ता और सफलता आत्मिक प्रगति पर निर्भर है।

☐ सामायिक की उपासना और साधना आत्मिक प्रगति की सर्वोत्तम साधना है, इससे लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार की सफलता प्राप्त होती है।

☐ साधक के जीवन में उपासना और साधना दोनों ही आवश्यक है।

☐ सामायिक की उपासना थोड़े समय (एक मुहूर्त = ४८ मिनट) में हो जाती है, लेकिन सामायिक की साधना में तो चौबीसों घंटे निरत रहना पड़ता है।

☐ उपासना में भावना का और साधना में विवेक का समावेश होता है।

☐ सामायिक की क्रिया में उपासना और साधना दोनों का जुड़े रहना आवश्यक है।

☐ वीतराग परमात्मा की समीपता (सान्निध्य) साधक के लिए वैसा ही आवश्यक है, जैसा शीत से काँपते हुए साधारण गृहस्थ के लिए अग्नि की समीपता।

☐ सामायिक का साधक समस्त उत्कृष्टताओं, आत्मशक्तियों, एवं आत्मगुणों के मूल केन्द्र वीतरागप्रभु का सान्निध्य सामायिक में ग्रहण करता है।

☐ जब सामायिक-साधक भावात्मक एकता के द्वारा वीतराग परमात्मा के साथ जुड़ा रहता है, तब वह स्वयं सम्यक्ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित रहता है दूसरों को भी प्रकाशित करता है।

☐ जहाँ हार्दिक सामीप्य नहीं है, भावात्मक दृष्टि से सान्निध्य नहीं है, वहाँ साधक परमात्मा के चाहे जितना निकट हो, प्रत्यक्ष भी हो, फिर भी उसे कोई लाभ या आनन्द प्राप्त नहीं होता।

☐ आत्मा को भाव-आहार न मिले तो वह भी तेजोहीन एव निर्बल हो जाती है। निर्बल आत्मा किसी भी आत्मिक गुण के विकास या प्रकट करने में निरुत्साही, निराश एवं पुरुषार्थहीन हो जाती है।

☐ शरीर का भोजन अनाज है, जबकि आत्मा का भोजन सामायिक है।

☐ सामायिक से ही आत्मदेव की या परमात्मा की उपासना हो सकती है।

☐ सामायिक सौदेबाजी नहीं है, अपितु पूर्ण आध्यात्मिक विकास की ओर ले जाने वाली उपासना और साधना है।

☐ अपने जीवन को निःस्वार्थ भाव से सर्वथा समर्पण कर देना ही सामायिक का प्रमुख उद्देश्य है।

☐ जो धार्मिक क्रिया, उपासना एवं साधना के साथ नहीं होती है, वह निष्प्राण, मृत एवं स्फूर्तिहीन क्रिया है।

☐ आत्मा ज्ञानादि रूप है, इसलिए ज्ञानादि की साधना आत्मसाधना है।

☐ आत्मस्वरूप में स्थिरता तो निश्चयसामायिक का रूप है।

☐ अप्रतिष्ठा के डर से मनुष्य अपने पापों को छिपाता है, नाना पाप करता है, आत्महत्या तक कर बैठता है। परन्तु सामायिक का तेजस्वी साधक अपने दोषों एवं पापों को अन्दर से झाड़-पोंछकर बाहर निकालता है।

☐ सामायिक के पवित्र सिहासन पर पहुँचने से पहले साधक को अपने मन, वचन और काया की शुद्धि कर लेना आवश्यक है।

☐ मन का कार्य है—मनन करना। मनन दो प्रकार का होता है—एक कल्पनामूलक दूसरा तर्कमूलक।

☐ दीनवचन, अपमानजनक वचन, क्लेशवर्द्धक वचन सामायिक में निषिद्ध हैं।

☐ कायशुद्धि का अर्थ—शरीर की चेष्टाओं को नियंत्रित, संयमित रखना है।

☐ सामायिक के लिए चार प्रकार की शुद्धि अनिवार्य है—द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि।

☐ सामायिक पापरहित होने की एवं आत्मविशुद्धि की साधना है।

☐ सामायिक को दूषित करने वाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—मनदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, कायादुष्प्रणिधान, सामायिक मति-भ्रंश और सामायिकानवस्थिति।

☐ मनदुष्प्रणिधान का अर्थ है—सामायिक के भावों से बाहर मन का दौड़ना, सांसारिक प्रपंचों एव कार्यों का दुर्विकल्प मन में करना।

☐ वचनदुष्प्रणिधान का अर्थ है—सामायिक के दौरान, कटु, कर्कश, निष्ठुर, असभ्य, अपशब्द बोलना।

☐ कायादुष्प्रणिधान का अर्थ है—सामायिक में काया को बार-बार हिलाना, आसन वदलना, काया से कुचेष्टा करना। अकारण शरीर को सिकोडना-पसारना।

☐ सामायिकमतिभ्रंश का अर्थ है-सामायिक ग्रहण की है इस बात को विस्मृत हो जाना, सामायिक करना ही भूल जाना।

☐ सामायिकानवस्थिति का अर्थ है—सामायिक को वेगार समझकर, जैसे-तैसे अनादरपूर्वक करना।

४. देशावकाशिक व्रत-साधना

☐ दिशापरिमाणव्रत में विभिन्न दिशाओं में जाने-आने, व्यापार करने आदि की जिदगीभर के लिए एक सीमा निर्धारित कर ली जाती है।

☐ अल्पकालिक क्षेत्र सीमा निर्धारण का नाम देशावकाशिकव्रत है।

☐ श्रावक के १२ व्रतों में देशावकाशिकव्रत दसवाँ व्रत है और चार शिक्षाव्रतों में दूसरा व्रत है।

☐ संकल्प, आदत, स्वभाव और संस्कार के क्रम से मानव-जीवन को ध्येय की ओर ले जाने में देशावकाशिकव्रत वहुत ही सहायक बनता है।

☐ देशावकाशिकव्रत साधना की अपेक्षा रखता है।

☐ शरीर सम्बन्धित कार्यो से आंशिक (एक दिन-रात की, एक दिन की एक प्रहर या उससे ज्यादा की, अथवा एक घंटा या उससे ज्यादा की) छुट्टी लेकर आत्म-चिन्तन, आत्मगुणों के मनन, स्वभावरमण, स्वरूपचिन्तन, पाँच आस्रवों का निरोध करके संवर में संलग्न होना देशावकाशिकव्रत है।

☐ देशावकाशिकव्रत में साधक को आध्यात्मिक चौका लगाकर आत्मिक भोजन करने बैठना होता है।

☐ दिशापरिमाणव्रत जीवन भर, वर्ष भर या चार मास के लिए स्वीकार किया जाता है, किन्तु देशावकाशिक व्रत दिन, प्रहर या मुहूर्त आदि तक के लिए भी किया जाता है।

☐ चौदह नियमों का चिन्तन-आत्मा की खुराक है, आत्मशक्तिवर्द्धक टॉनिक है, आत्म-शक्ति में जो छीजन हो गई है, उसकी पूर्ति करने वाला है। नई शक्ति और स्फूर्ति देने वाला है।

☐ स्वादिष्ट भोजन के रूप में जो पदार्थ अचित्त बनाकर तैयार किये जाते हैं, वे द्रव्य कहलाते है।

☐ जो पदार्थ शरीर में विकृति पैदा करते हैं, उन्हें विगय कहते है।

☐ दूध, दही, घी, तेल और मिठाई, ये पाँच सामान्य विगय हैं।

☐ मधु और मक्खन ये दो विशेष विगय है।

☐ मद्य एवं मांस महाविगय हैं। श्रावक को इनका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

☐ एक दिन-रात के लिए पाँच आस्रव-सेवन का त्याग करना भी देशावकाशिक व्रत में परिगणित होता है। वर्तमान काल में स्थानकवासी सम्प्रदाय में इसे दयाव्रत या छहकाया व्रत कहा जाता है।

☐ जो प्रकर्ष रूप से धर्म की पुष्टि या पोषण करता है वह पौषध है।

☐ धन्य है वे जो आहार त्याग करके या आयम्बिल अथवा निर्विगयी तप करके धर्माराधना करते है।

☐ पाँच अणुव्रतों के पालन, पाँच आस्रवों के सेवन के त्याग एवं संवर ग्रहण रूप में पूरे दिन-रात के देशावकाशिक व्रत का स्वरूप है।

☐ देश अर्थात् दिशाव्रत में रखा हुआ जो विभाग=अवकाश या क्षेत्र सीमा या प्रदेश वह देशावकाश है, उसी व्रत को देशावकाशिक कहते हैं।

☐ दिग्परिमाणव्रत में रखी हुई प्रत्येक दिशा की क्षेत्र मर्यादा घटाने को ही देशावकाशिक व्रत कहा गया है।

☐ देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है—आनयनप्रयोग प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, एवं बाह्यपुद्गलप्रक्षेप।

☐ आनयन प्रयोग-मर्यादित भूमि से बाहर रहे हुए सचित्तादि पदार्थ किसी को भेजकर मँगवाना।

☐ प्रयोजनवश अगर श्रावक मर्यादित भूमि से बाहर की भूमि में से किसी को भेजकर कोई पदार्थ या सन्देश भिजवाता है तो वहाँ उसे प्रेष्य प्रयोग नामक अतिचार लगता है।

☐ अपना पाप टालने के उद्देश्य से दूसरों को उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने की आज्ञा देना या जबर्दस्ती काम कराना भी प्रेष्यवण प्रयोग नामक अतिचार है।

☐ श्रावक द्वारा मर्यादित भूमि में रहकर किसी सांकेतिक शब्द से, या खंखारा, टिचकारी आदि अव्यक्त शब्द करना, ताकि दूसरा उक्त व्रती के शब्द का आशय समझकर उसके पास आ जाए या कार्य कर सके, ऐसी स्थिति में शब्दानुपात नामक अतिचार होता है।

☐ शारीरिक चेष्टा द्वारा सकेत करना रूपानुपात नामक अतिचार है।

☐ ढेला, कंकर आदि पदार्थ (पुद्गल) मर्यादित भूमि से बाहर फेंककर दूसरे को अपना आशय समझाने का प्रयत्न करना वाह्यपुद्गल प्रक्षेप नामक अतिचार है।

५. पौषधव्रत : आत्मनिर्माण का पुण्यपथ

☐ जीवन में पौषध व्रत का अभ्यास हो जाने पर मनुष्य की आत्मा को परम शान्ति, समाधि, तृप्ति एवं रमणता प्राप्त होती है।

☐ गृहस्थ श्रावक के लिए पूरे एक दिन-रात भर और गार्हस्थ्य प्रपंच एवं शरीरिक खटपट से दूर तथा निराहार-निर्जल रहकर धर्माराधन एवं आत्मचिन्तन के रूप में पौपधोपवास करना तीसरा अद्भुत विश्राम-स्थान है।

☐ पौपधोपवास व्रत आत्म-निर्माण की सर्वोत्तम साधना है।

☐ श्रमणशिरोमणि भगवान महावीर ने अपनी आन्तरिक (आत्मिक) सुव्यवस्था, विकास एवं आत्मशक्ति बढ़ाने के लिए अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी आदि पर्व तिथियों पर पूरे दिन-रात का अवकाश लेकर श्रावक के लिए पौपधोपवास की साधना करने का निर्देश किया।

☐ पौपधोपवास एक ऐसी साधना है, जिसका सीधा सम्बन्ध आत्मिक

उन्नति से है। इसमें पूरे दिन-रात भर आत्मा के चिन्तन-मनन में पुरुषार्थ करना पड़ता है।

☐ मनुष्य की विशेषता तो बौद्धिक और आध्यात्मिक श्रम में है। इसी आध्यात्मिक पुरुषार्थ के बल पर मनुष्य जगत् का सर्वोत्तम प्राणी बन सका है।

☐ जैनधर्म आध्यात्मिक या बौद्धिक पुरुषार्थ में किसी भी देवी-देव या बाह्य शक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। यह श्रमणसंस्कृति है।

☐ श्रमणसंस्कृति दूसरे के वरदान, सहायता या प्रतिनिधित्व के सहारे चलने की बात को बिलकुल गलत मानती है।

☐ श्रमणसंस्कृति कहती है—मनुष्य ! तुम्हारे अपने हाथ में ही मुक्ति है, तुम्हारा स्वर्ग-नरक भी तुम्हारे हाथ में है।

☐ पौषधोपवास की साधना में शारीरिक प्रपंच से बिलकुल निश्चिन्त, आजीविका के क्षेत्र से भी निवृत्त होकर एकमात्र आत्मा की उपासना में ही गृहस्थ साधक एक रात-दिन बिताता है।

☐ पौषध में अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का चिन्तन करने से साधक अपने आपको वीतराग परमात्मा का उत्तराधिकारी अनुभव करने लगेगा।

☐ पौषध में आत्म-चिन्तन, आत्मशोधन, और आत्मनिर्माण का ही पुरुषार्थ मुख्यतया होता है।

☐ मनुष्य की आत्मा में अद्भुत शक्तियाँ छिपी पड़ी हैं। उनका चिन्तन करने से वे जागृत हो जाती हैं और मनुष्य के चरित्र या मानसिक संस्कारों में प्रविष्ट होकर अपना चमत्कार दिखलाने लगती हैं।

☐ जो अपनी आत्मा में निहित शक्तियों में विश्वास करके उन्हें पौषधव्रत के माध्यम से आत्म-चिन्तन द्वारा जगाते हैं और उपयोग में लाते हैं, वे आगे बढ़ जाते हैं।

☐ प्राय हर आदमी दूसरे के दोष ढूँढने में बड़ा चतुर और सूक्ष्मदर्शी होता है।

☐ मनुष्य की यह सबसे बड़ी निर्बलता है कि वह हर गलती या दोष औरों में ढूढता है, स्वयं निर्दोष होने का कोई न कोई मार्ग तलाश लेता है।

☐ सर्वत्र बुरा ही बुरा देखते रहने से जीवन बड़ा ही अशान्त एवं प्रतिगामी बनकर रह जाता है।

☐ दूषित दृष्टिकोण वाला व्यक्ति साधारण-सी कठिनाई का अनुचित मूल्यांकन करके अपनी परेशानियाँ बढ़ा लेता है।

☐ मानव के व्यक्तिगत आचरण की शुद्धता और पवित्रता में समाज, राष्ट्र और देश के कायाकल्प करने की शक्ति विद्यमान है।

☐ आत्म-सुधार ही संसार-सुधार का मूल है।

☐ पौषध व्रत के माध्यम से आत्मशोधन में निरत होना, संसारशोधन में लगने का एक प्रकार है।

☐ विश्वकल्याण का सबसे सरल तरीका आत्मकल्याण ही मानना चाहिए।

☐ आत्मसुधार या आत्मकल्याण की भावना को स्वार्थ मानना भारी भूल होगी। यह विशुद्ध परमार्थ है।

☐ जब तक बुढ़ापा आकर पीडित नही करता, जब तक कोई व्याधि नही बढ़ती, जब तक तुम्हारी इन्द्रियाँ क्षीण नही होती, तब तक तुम्हें समय रहते धर्माचरण कर लेना चाहिए।

☐ जो व्यक्ति पहले से धर्माचरण में अभ्यस्त नही होता, उसे बुढ़ापे में प्राय धर्मरुचि या आत्मशुद्धि की रुचि नही होती।

☐ अन्तिम समय में जैसी बुद्धि, लेश्या या मन के परिणाम होते है, तदनुसार ही मनुष्य की गति होती है, आयुष्यवन्ध होता है।

☐ दीर्घदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वहितैपी भगवान महावीर ने मन में कुसंस्कार-वश निहित परदोषदर्शन की वृत्ति छोड़कर एक दिन-रात के लिए निर्जल उपवास युक्त पौषध में रहकर आत्मनिर्माण के लिए निर्देश किया।

☐ केवल धन के बढ़ जाने या पर्याप्त मात्रा में धन होने से ही कोई व्यक्ति धर्माचरण या प्रभु भजन में नहीं लग जाता।

☐ प्रायः पापात्मा आत्मनिर्माण की ओर नही झुकते।

☐ आत्मनिर्माण की इस श्रेष्ठतम साधना को ठुकराकर जो लोग

अर्थ और काम के पीछे भागते रहते है, उन्हें जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

☐ समृद्धि तभी उपयोगी हो सकती है, जब उसके साथ भावना का स्तर भी ऊँचा हो।

☐ पौषध व्रत के द्वारा क्या सम्पन्न क्या असम्पन्न सभी में भावना का स्तर ऊँचा उठ जाता है।

☐ दुर्बुद्धिग्रस्त मनुष्य अधिक धन पाकर उसका उपयोग अपने दोष-दुर्गुण बढ़ाने में करते हैं।

☐ जो अपनी आत्मा को खो देता है, वह सर्वस्व खो बैठता है।

☐ आत्मा को खोने का मतलब है—समय आने पर अपने आपसे बाहर हो जाना, आत्मवैभव को गँवा बैठना। आत्मगुणों का ह्रास कर देना।

☐ आत्मवैभव को बढ़ाने के लिए पौषधव्रत की साधना में तीन मनोरथों का चिन्तन किया जाता है। प्रथम मनोरथ में आरम्भ-परिग्रह को घटाने का चिन्तन है।

☐ दूसरा मनोरथ है - सर्वस्व छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बनने का। उसी का पूर्वाभ्यास करने के लिए श्रावक पौषधोपवास व्रत की साधना करता है।

☐ पौषध का अर्थ भी यही होता है—शरीर से सम्बद्ध समस्त खटपटों से दूर रहकर एकमात्र आत्मा को पोषना-पुष्ट करना।

☐ समस्त सांसारिक प्रवृत्तियों को छोड़कर चौबीसों घन्टे धर्मजागरण, आत्मजागरण में रहकर आत्मनिर्माण करना ही वास्तव में पौषध व्रत है।

☐ आत्मनिर्माण-साधक इस व्रत के बार-बार अभ्यास से श्रावक में इतना आत्मबल पैदा हो जाता है कि वह निर्भय, निर्द्वंद्व, निर्विकार और निजानन्दमय बन जाता है।

☐ आत्मतृप्त मानव को भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि दुःख-द्वंद्व भी चलित नहीं कर सकते। कोई भी भौतिक शक्ति उस पर हावी नही हो सकती, कोई भी जड़ पदार्थ उसे अपना गुलाम नहीं बना सकता।

☐ आध्यात्मिक विचारधारा से युक्त व्यक्ति का जीवन सब प्रकार से सुख-शान्तिपूर्ण रहता है।

□ पौषधव्रताभ्यासी आध्यात्मिक व्यक्ति न तो किसी के प्रति द्वेष रखता है, न प्रतिशोध की भावना।

□ पौषधव्रताभ्यासी मन-वचन-काया से अध्यात्म के आदर्शों के प्रति वफादार रहता है।

□ पौषधव्रती उपसर्गों से विचलित नहीं होता।

□ आत्मा के प्रतिलेखन और प्रमार्जन के लिए प्रत्येक गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन और विशेषतः चार पर्व तिथियों को तो पौषधव्रत स्वीकार करके आत्मनिरीक्षण-आत्मालोचन करते रहना चाहिए।

□ वर्तमान युग के मानव, विशेषतः श्रावक आत्मबल के अभाव में आत्महीनता एवं दीनता के शिकार हो रहे है।

□ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या ये चार पर्व दिवस हैं। इनमें उपवास आदि तप करना, पापमय कार्यों का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नान आदि शरीर शृंगार-प्रसाधन का त्याग करना पौपधव्रत कहलाता है।

□ पौषध मुख्यतया चार प्रकार का है—आहारपौषध, शरीरपौषध, ब्रह्मचर्यपौषध और अव्यापारपौषध।

□ आहारत्याग-पौपध करने से धर्मध्यान में आठ प्रहर लगाये जा सकते हैं।

□ स्नान, विलेपन, उबटन, पुष्प, तेल, गन्ध, आभूषण आदि से शरीर को सजाने-संवारने का त्याग करके धर्माचरण में लगाना शरीरपौषध है।

□ सब प्रकार के मैथुन और मैथुनाग का त्याग करके ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) मे रमण (विचरण) करना, आत्मचिन्तन करना ब्रह्मचर्य-पौपध है।

□ आजीविका के लिए जो व्यवसाय, कारखाना, नौकरी आदि है, उनका तथा अन्य सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करना अव्यापारपौषध कहलाता है।

□ आठ प्रहर का पौषध ही प्रतिपूर्ण पौपध कहलाता है।

□ पौषधव्रनधारी को कोई भी ऐसी सावद्य प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, जो व्रतभंग करने वाली हो।

□ पौपधव्रतधारी श्रावक का इन्द्रियों एव मन पर संयम रखना आवश्यक है, सारे सासारिक प्रपञ्चों का त्याग भी अनिवार्य है।

☐ पौषधव्रती श्रावक को रात्रिकाल भी धर्मजागरण में बिताना चाहिए।

☐ आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो पौषधव्रती श्रावक के लिए सर्वथा हेय हैं।

☐ धर्मध्यान ही पौषधव्रत में आत्मचिन्तन का मूल स्रोत है।

६. श्रावक का मूर्तिमान औदार्य : अतिथि संविभाग व्रत

☐ सद्गृहस्थ श्रावक के लिए बारहवाँ व्रत अन्तिम सोपान है। उसका नाम है -अतिथिसंविभागव्रत।

☐ अतिथिसंविभागव्रत का प्रत्यक्ष लाभ दूसरे को भी मिलता है। यह व्रत श्रावक की आध्यात्मिक प्रौढ़ता का चिन्ह है।

☐ जब आध्यात्मिक प्रौढ़ता गृहस्थ श्रावक के जीवन में आती है, तब वह उदारतापूर्वक अपनी हर चीज (धन ही नहीं, विद्या, ज्ञान, समय, साधन आदि) लुटाने लगता है।

☐ यह चौथा शिक्षाव्रत प्रतिदिन अभ्यास रूप होने से व्रती श्रावक का अभ्यास इतना परिपक्व हो जाता है कि वह दान, करुणा, परोपकार एवं सेवा नित्य-प्रति करता है।

☐ श्रावक यही सोचता रहता है कि मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है, उससे विश्वभवन को अधिक सुसज्जित कर दूँ, इसी में मेरा कल्याण है। अर्थात् विश्वकल्याण में ही मेरा आत्मकल्याण निहित है।

☐ गृहस्थ श्रावक तो सभी को अपना समझता है। वह हर जरूरतमंद की, प्रत्येक पिछड़े व्यक्ति की सेवा-सहायता करने में तत्पर हो जाता है।

☐ आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए परमार्थ के कार्य करना अत्यावश्यक है।

☐ मनुष्य के पूर्णस्वरूप की निशानी यह है कि उसकी आत्मा और देह-यानी अन्तर् और बाह्य दोनों स्वस्थ हों, सुन्दर हों।

☐ जो उपयोगिता स्वास्थ्य की उन्नति में व्यायाम की है, वही उपयोगिता आत्मकल्याण का उद्देश्य पूर्ण करने में सेवा या परोपकार की साधना की है।

को अपने नियमानुसार प्रासुक-ऐषणीय आहारादि देना है। ऐसे निस्पृह महात्माओं को विधिवत् दान देने का फल महान् है।

☐ जो सुपात्र संस्थाएँ हों, या सार्वजनिक सेवा संस्थाएँ हों, वे भी मध्यम सुपात्र हैं। वे भी अतिथि हैं, एक तरह से। उन संस्थाओं को पोषण देना भी श्रावक का कर्तव्य है।

☐ भगवान महावीर ने अतिथिसंविभाग व्रत पालन के माध्यम से श्रावक को उदार, धर्मात्मा और परमार्थदृष्टि होना बताया है।

☐ अतिथियों (उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य) को चार प्रकार का आहार, पात्र, वस्त्र और मकान देना अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है।

☐ श्रावक के द्वारा सभी प्रकार के सुपात्रों के लिए यथायोग्य दान या सविभाग करना यथासंविभाग है।

☐ उत्कृष्ट सुपात्र तो धन के त्यागी होते है।

☐ केवल मुनि-महात्माओं को दान देना ही इस व्रत का उद्देश्य नहीं, बल्कि श्रावक के जीवन को उदार एवं विशाल बनाना है।

☐ शास्त्रकारों ने अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार (दोष) बताए हैं, जिनसे बचना श्रावक के लिए आवश्यक है। वे पाँच अतिचार इस प्रकार हैं –(१) सचित्तनिक्षेपण, (२) सचित्तपिधान, (३) कालातिक्रम, (४) पर-व्यपदेश, (५) मात्सर्य।

☐ श्रावक को अत्यन्त उदार एवं व्यापक दृष्टि अपनाकर प्राप्त साधनों का यथायोग्य सविभाग करके इस व्रत की सम्यक् आराधना करनी चाहिए।

७. संलेखना : अन्तिम समय की अमृत-साधना

☐ मृत्यु समग्र जीवन का निचोड़ है।

☐ मृत्यु यदि समाधिपूर्वक प्रसन्नता से होती है, आत्म-शुद्धिपूर्वक होती है तो समझ लो साधक इस परोक्षा में उत्तीर्ण हुआ।

☐ जीवन में पढ़े हुए अच्छे-बुरे पाठ की अन्तिम परीक्षा मृत्यु के समय हो जाती है।

☐ मृत्यु की कला मे जीवन की कला से भी बढ़कर सावधानी एवं दक्षता प्राप्त करनी होती है।

☐ आध्यात्मिक जगत में इस अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण साधक उत्तीर्ण और सफल माना जाता है।

☐ आराधना और विराधना की कसौटी मृत्यु ही है।

☐ मृत्यु किसी सम्प्रदाय, जाति, धर्म, कौम, प्रान्त या राष्ट्र के व्यक्ति की परवाह नहीं करती।

☐ मृत्यु की कसौटी पर जो खरा उतरता है, उसे आराधक कहा जाता है, और जो खरा नहीं उतरता, उसे विराधक।

☐ जीवितकाल की अन्य कसौटियों की अपेक्षा मृत्यु काल की कसौटी बलवती है।

☐ मृत्युकाल की कसौटी अन्तिम है, वह आकर सदा के लिए चली जाती है।

☐ देहत्याग की कसौटी की बेला में देहात्मबुद्धि कितनी कम है ? इस कसौटी को ही ज्ञानी पुरुष जबर्दस्त कसौटी कहते हैं। यही सफलता और असफलता का मूलाधार है।

☐ तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो जिस रात्रि को जीव माता के गर्भ में आता है, उस दिन से वह क्रमशः अबाध गति से मृत्यु की ओर प्रयाण करता जाता है।

☐ प्रतिक्षण होने वाले भावमरण से ज्ञानी साधक बचकर रहता है। वह इस भावमरण पर विजय पा लेता है।

☐ मृत्यु का आगमन निश्चित है, उससे भागना या छटकना असंभव है। किसी की न मरने की कल्पना ही आकाश कुसुमवत् असंभव है।

☐ मृत्यु किसी की भी वशवर्ती नहीं बनती। वह किसी के साथ रियायत या मैत्री नहीं करती।

☐ जिस व्यक्ति की मृत्यु के साथ मैत्री हो, अथवा जो मृत्यु से दूर कहीं भागकर छूट सकता हो, अथवा जिसे यह निश्चय हो जाय कि मैं कदापि नहीं मरूँगा, वह भले ही सुख से सो सकता है।

☐ मृत्यु किसी के रोके नहीं रुकती। जितना-जितना जिस प्राणी का आयुष्य कर्म बँधा हुआ है, उसके क्षीण होते ही मृत्यु निश्चित रूप से आती है।

☐ मृत्यु का आगमन जितना निश्चित है, उतना ही मृत्यु का समय अनिश्चित है, अनियत है।

☐ विचारक एवं आराधक साधक अप्रमत्त एवं सतर्क होकर पहले से ही शरीर एवं शरीर सम्बन्धित जड़-चेतन पदार्थों के प्रति मोह-ममता से रहित होने का सतत प्रयत्न करते हैं।

☐ अगर बुढ़ापा आने तक मृत्यु का आगमन न होने की गारण्टी होती तो ज्ञानी या विचारवान साधक पहले से मृत्यु से सतर्क न रहते।

☐ जो व्यक्ति श्रावकधर्म या साधुधर्म की आराधना करता है, मृत्यु के स्वरूप को, उसकी वास्तविकता को समझता है, वह मृत्यु को दुःखद नहीं कह सकता, क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु क्या है।

☐ जैसे मनुष्य जीर्ण (फटे-टूटे) वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण कर लेता है, वैसे ही प्राणी जीर्ण (रोग या बुढ़ापे से जर्जर बने हुए) शरीर का त्याग करके दूसरे नये शरीर को प्राप्त करता है।

☐ मृत्यु भी मित्र की तरह प्राणी के पुराने चोले को फिंकवाकर नया चोला धारण करवाती है।

☐ मृत्यु पीडा या दुःख का वेदन मरणोन्मुख जीव को न होने देने के लिए बेहोश कर देता है, यह कितनी बडी दयालुता या उपकारिता है मृत्यु की ?

☐ ज्ञानी सम्यग्दृष्टि साधक मृत्यु को भयंकर या दुःखदायक न मानकर परम सखा, सुखद एवं उपकारी मानते है।

☐ जीवनभर की साधना को ज्ञानी साधक मृत्यु के समय अपराभूत होकर सफल बना लेते है।

☐ ज्ञानी साधक मृत्यु का काला पर्दा चीरकर उसके पीछे आत्मप्रकाश को देखते है, इससे वे निर्भय बन जाते है।

☐ ज्ञानी पुरुष मृत्यु के समय जीवन पर लगी हुई सभी प्रकार की वासना की धूल को झाड़कर शुद्ध एवं निर्भय हो जाता है।

☐ समाधिमरण तो तब कहा जा सकता है, जब अन्तिम समय में बाहर से भान न होते हुए भी अन्तर्मन में जागृत होता है।

☐ अकाममरण को बालमरण और पण्डितमरण को सकाममरण कहते है।

☐ जहाँ आत्मा, आत्मधर्म, धर्मप्राप्ति के उत्तम साधन या निमित्त रूप सद्गुरु-देव-धर्मभाव में रहकर अन्तिम अवसर पर देहत्याग हो, ऐसी मृत्यु समाधिमरण कहलाती है।

☐ विषयभोग, स्वजन, कुटुम्ब, धन-सम्पत्ति आदि पदार्थों में—संक्षेप में आत्मभाव से भिन्न किसी भी प्रकार के मोह मायायुक्त संसार भाव में रहते हुए शरीर का छूटना असमाधिमरण कहलाता है।

☐ समाधिमरण अगर एक बार भी प्राप्त हो गया तो समझ लो, अनन्त काल का असमाधिमरण टल जाता है।

☐ मृत्यु होने के बाह्यकारण तो सर्वविदित हैं—शारीरिक व्याधि से, अकस्मात् (दुर्घटना) से, उपसर्ग से और स्वेच्छा से मृत्यु होती है।

☐ समाधिमरण जीव के आन्तरिक मनोव्यापारों पर निर्भर है।

☐ आकस्मिक मरण प्रायः अस्वाभाविक और अकाल प्राप्त होते हैं, इनसे स्वजनों को बहुत आघात लगता है।

☐ ज्ञानी साधक उपसर्गों के आने पर घबराता नहीं, बल्कि निश्चल, निश्चिन्त एव निर्भय होकर देहादि के प्रति ममत्व त्याग करके, अठारह पाप-स्थान एवं चारों आहारों का त्याग करके सागारी अनशन करता है।

☐ जो व्यक्ति पहले से धर्मिष्ठ एवं साधनाशील होता है, उसी की मृत्यु प्राणघातक उपसर्गों के समय समाधिपूर्वक होती है।

☐ स्वेच्छा से होने वाले मरण को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) आत्महत्या से होने वाला और (२) संलेखना संथारा करके समाधिपूर्वक देह-त्याग से होने वाला।

☐ आत्महत्याओं के प्रसग पर जीव में क्रोधादि कषायभाव अत्यंत तीव्र होता है और जहाँ कषायों की तीव्र आग भभक रही हो, वहाँ समाधिमरण तो होता ही कैसे ?

☐ जो कर्म उदय में आएँ उन्हें शान्ति से सह लेना ही समाधिमरण का मूलमंत्र है।

☐ संलेखना द्वारा जो मरण होता है, वह स्वैच्छिक समाधिमरण होता है।

☐ संलेखना का अर्थ है—जिस तपोविशेष क्रिया से शरीर, कषाय आदि का संलेखन-अपकर्षण किया जाय। अथवा आगमोक्त विधि से शरीर आदि को कृश करना।

☐ सम्यक् प्रकार से काया और कषाय का लेखन (कृश) करना संलेखना है।

☐ क्रोधादि कषायरहित अनन्तज्ञानादि गुणलक्षण परमात्म पदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पो को कृश करना भावसलेखना है।

☐ भावसंलेखना के लिए काय-क्लेश रूप अनुष्ठान करना-अर्थात् भोजनादि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य-संलेखना है।

☐ यों तो संलेखना सभी साधकों (श्रावक-साधुवर्ग) के लिए है, परन्तु यों ही स्वस्थ और चलते शरीर की संलेखना नहीं की जाती है।

☐ धर्मार्थ शरीर छोड़ने को ही संलेखना कहते है।

☐ जिस समय मृत्यु के आगमन की निश्चित संभावना हो जाए या आयुक्षय का निश्चय हो जाने पर ही साधक संलेखना की आराधना में लगता है।

☐ जिस श्रावक-श्राविका या साधु-साध्वी का चारित्र निर्विघ्न पल रहा है और जिसे निर्यायक (संलेखना संथारा कराने वाले) और दुर्भिक्ष, रोग आदि का कोई भय नहीं है, वह साधक भक्तप्रत्याख्यान (सलेखना सथारा) के अयोग्य है।

☐ सलेखना तीन प्रकार की है—जघन्या, मध्यमा और उत्कृष्टा। जघन्या सलेखना छह महीने की होती है, मध्यमा एक वर्ष की और उत्कृष्टा होती है बारह वर्ष की।

☐ जो साधु या श्रावक भी आराधना के योग्य नित्य अभ्यास करता है, वह जितेन्द्रिय होता हुआ मृत्यु के समय शुभ ध्यान करने में समर्थ हो सकता है।

☐ शास्त्रोक्त विधिपूर्वक संलेखना करने से धीरे-धीरे धातुओं के क्षय होने से आर्तध्यान की संभावना नहीं रहती।

☐ जिन कारणों को देखकर संलेखना की थी, वे कारण अब न रहे तो हठपूर्वक उत्कृष्ट सलेखना को चलाने का कोई औचित्य नही रहता।

☐ उपवास-चिकित्सा और सलेखना में अन्तर है। चिकित्सा में जीवन की पूरी आशा और चेष्टा रहती है, जबकि संलेखना तभी की जाती है, जब जीवन की न तो कोई आशा रहती है और न चेष्टा की जाती है।

☐ सलेखना आत्महत्या नही है, अपितु आई हुई मौत के सामने वीरता-पूर्वक आत्मसमर्पण करना है। इसमें साधक शान्ति और आनन्द से समाधि-पूर्वक प्राणत्याग करता है।

☐ एकमात्र संलेखना मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ चलने में समर्थ है, इस प्रकार भक्तिभावपूर्वक मारणान्तिकी निरन्तर भावना करनी चाहिए। संलेखना की भावना भी भवनाशिनी है।

☐ चूँकि संलेखना व्रत वर्तमान शरीर का अन्त होने तक लिया जाता है, इसलिए इसे मारणान्तिकी संलेखना कहा जाता है। व्रती गृहस्थों को इस व्रत का आराधक कहा है।

☐ जैन धर्म में स्वेच्छा से जिस प्राणोत्सर्ग का विधान है, वह है समाधिमरण।

☐ किसी देवता को खुश करने के लिहाज से मर जाना अन्धश्रद्धा का भयंकर परिणाम है। यह एक प्रकार से आत्महत्या ही है।

☐ जैन-उपासना का ध्येय उसके तत्वज्ञान के अनुसार परार्पण या पर प्रसन्नता नहीं है, अपितु आत्मसंशुद्धि मात्र है, जो किसी देव को खुश करने हेतु प्राणोत्सर्ग से या मूढ़तापूर्वक जीवन का अन्त कर देने से नहीं होती।

☐ जैन धर्म आत्मवध को हिंसा मानता है, क्योंकि उसके पीछे कोई न कोई आसक्तिभाव प्रेरक तत्व है।

☐ संलेखना आत्महत्या नहीं है क्योंकि इसमें हिंसा का लक्षण घटित नहीं होता। हिंसा का लक्षण है—प्रमत्त योगों से प्राणों का विनाश करना।

☐ आत्महत्या तो किसी कषायावेश का परिणाम होता है, जबकि संलेखना त्याग और दया का परिणाम है।

☐ जैन धर्म राग-द्वेष मोहादि से युक्त होकर मरने की आज्ञा नहीं देता।

☐ जो आत्मघातीजन हैं वे अत्यन्त अन्धकार से तमसाच्छन्न असूर्य लोक में जाकर अनेक दुःख भोगते हैं।

☐ संलेखना-संथारा दोनों में थोड़ा सा अन्तर है, कार्यकारण भाव का। संलेखना की परिणति संथारे में होती है।

☐ संथारा समाधिमरण की अन्तिम प्रक्रिया है।

☐ आराधक साधक प्राणान्त अनशन से देहरूप घर का नाश करके भी दिव्य जीवनरूप अपनी आत्मा को रागादि में जलने से बचा लेता है। वह

व्यर्थ ही देहनाश कदापि न करेगा। देहरक्षा संयम के निमित्त कर्तव्य मानी गई है।

☐ संलेखनापूर्वक समाधिमरण (संथारा) में आध्यात्मिक वीरता है।

☐ संलेखना मरण को आमंत्रित करने की विधि नहीं है, पर अपने आप आने वाली मृत्यु के स्वागत के लिए निर्भयतापूर्वक तैयारी है।

☐ समाधिमरण की यह क्रिया मरण के निमित्त से नहीं, किन्तु मरण के प्रतिकार के लिए है। जैसे फोड़े को नश्तर लगाना आत्म-विराधनारूप नही होता।

☐ प्रीति के बिना बलपूर्वक संलेखना नहीं कराई जाती।

☐ संलेखना द्वारा समाधिपूर्वक मरण के तीन प्रकार हैं—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण एवं प्रायोपगमन (पादपोपगमन)।

☐ जिस समाधिमरण में अपने और दूसरे दोनों के द्वारा किए गए उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान (संन्यास) समाधिमरण कहते है।

☐ जिस समाधिमरण में अपने द्वारा किए गये उपकार की अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरे के द्वारा किए गये वैयावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा नही रहती, वह इंगिनी समाधिमरण है।

☐ जो अपने और पर के उपकार की अपेक्षा से रहित समाधिमरण है, उसे प्रायोपगमन कहा गया है।

☐ इस काल में भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण ही उपयुक्त है।

☐ परिणामों की विशुद्धि के बिना उत्कट तप करने से कायसंलेखना तो हो जाएगी, कषाय संलेखना नहीं।

☐ सागारी संथारा भी किसी उपसर्ग, आतंक, असाध्य व्याधि आदि के उपस्थित होने पर मृत्यु की अनिश्चित अवस्था में अथवा प्रतिदिन रात को सोते समय किया जाता है।

☐ समाधिमरण की मूल नींव है—सम्यक् आत्मश्रद्धा—देह और आत्मा की भिन्नतारूप श्रद्धा, अथवा सम्यक् धर्मश्रद्धा।

☐ जो मृत्यु अज्ञानी को ताप रूप प्रतीत होता है, वही ज्ञानी को अमृत-मोक्ष प्राप्ति कराने वाला सुखरूप होता है। ☐☐

पुष्कर-सूक्ति-कोश

ब्रह्मचर्य-विज्ञान

श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'ब्रह्मचर्य विज्ञान' के
आधार पर संग्रहीत ब्रह्मचर्य के विविध पक्षों पर प्रकाश
डालने वाली सूक्तियाँ।

१. ब्रह्मचर्य की सर्वतोमुखी उपयोगिता

☐ ब्रह्मचर्य जीवन का आधार है। प्राण-शक्ति को स्थिर, सम्पुष्ट और कार्यक्षम रखने का मूल है।

☐ जब से विश्व में अहिंसामूलक शुद्ध धर्म का प्रवर्तन हुआ, तभी से ब्रह्मचर्य का श्रीगणेश हुआ।

☐ ब्रह्मचर्य की उपेक्षा करने से परिवार, समाज और राष्ट्र की कितनी अधिक हानि हुई है ? विश्व में कितना अनाचार, रोग-शोक और दुःख फैल रहा है ? यह हम देख ही रहे हैं।

☐ बढ़ती हुई उच्छृंखलता, तथाकथित प्रगतिवादिता, यांत्रिकता और भौतिकता ने मनुष्य को इतना अधिक विलासी और सुखप्रिय बना दिया है कि उसे यौन-सुख के अतिरिक्त संसार में कोई सुख, कर्तव्य या उत्तरदायित्व ही नहीं सूझता।

☐ सन्तति-निरोधक कृत्रिम साधनों ने तो मनुष्य की उच्छृंखलता में बाढ़ ही ला दी है। इससे लाभ की बजाय हानि ही अधिक हुई।

☐ पश्चिम के स्वच्छन्द भोगवाद के प्रवाह में बहकर बहुत से लोग भारतीय संस्कृति की मर्यादामूलक सभ्यता को भूलकर ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने में लज्जा अनुभव करने लगते हैं।

☐ वासना में अन्धे बने हुए लोगों को सत्य-असत्य की पहचान तक नहीं है। न उन्हें अपने हित-अहित, कर्तव्य-अकर्तव्य एवं मर्यादा का भान है।

☐ जो लोग ब्रह्मचर्य को अनावश्यक बतलाते हैं, वे ही लोग जब क्षणिक वैषयिक सुख के लिए अतिपरिश्रम से उपार्जित की हुई अमूल्य निधि के रूप में संचित अपनी जीवनी-शक्ति को कुछ ही क्षणों में खो बैठते हैं, तब उनकी आँखें खुलती हैं।

☐ विवाहित हो जाने से किसी को अब्रह्मचर्य की या स्वच्छन्द विषय-भोग की छूट नहीं मिल सकती। विवाह ब्रह्मचर्यव्रत का बड़ा भारी सहायक है।

☐ दुर्विपय-भोग लालसा को विवाह किये बिना ही विवेक से दबाने की शक्ति हो तो विवाह करना आवश्यक नहीं है।

☐ विषय-भोगों में रत देवगण और देवेन्द्र भी ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी के प्रति पूर्ण आदर रखते हैं।

☐ जैन धर्म की दृष्टि से पूर्ण ब्रह्मचर्य केवल काल्पनिक आदर्श नहीं, यह सम्पूर्ण साध्य है। अतीत में लोगों ने इसका पालन किया, वर्तमान में करते है और भविष्य में भी करेंगे।

☐ पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को कोरा काल्पनिक मानना मिथ्या है। पूर्ण ब्रह्मचर्य साध्य है।

☐ यह ठीक है कि पूर्ण, अखण्ड और शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए तो शक्य नहीं है। इसका कारण यह है कि संसारी जीव विभिन्न कर्म-प्रकृतियों से बँधे हुए हैं।

☐ जब तक जीव के साथ मोहनीय कर्म न्यूनाधिक रूप में विद्यमान है तब तक उसके लिए निर्मोहरूप ब्रह्मचर्य का पालन कठिन है, किन्तु मोहनीय कर्म के क्षय होते ही ब्रह्मचर्य आदि चरित्र के गुण वीतरागदशा रूप में स्वतः प्रकट हो जाते हैं।

☐ कामभोग के रसज्ञों के लिए अब्रह्मचर्य से विरति और उग्र ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।

☐ सरलता से सम्पन्न साधुजनों द्वारा ब्रह्मचर्य का पूर्णतया आचरण किया जाता है।

☐ जो अल्पशक्तिमान व्यक्ति है, शीलरहित है, दीनता-हीनता के शिकार है, इन्द्रियों पर विजय नहीं पा सके है, उन मनुष्यों के द्वारा स्वप्न में भी इस ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करना शक्य नही है।

☐ जो सत्ववान, सदाचारी, दीनता-हीनताग्रस्त नहीं हैं, उनके लिए इन्द्रियविजेता बनना और ब्रह्मचर्य पालन करना दुःशक्य नही है।

☐ अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है।

☐ मनुष्य को चाहिए कि वह संयम (ब्रह्मचर्य) के महत्व को समझे। जो संयम अविवाहित अवस्था में मनुष्य के गौरव की अनिवार्य शर्त है, वह विवाहित जीवन में इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। विवाहित स्त्री-पुरुष वैषयिक प्रेम को शुद्ध भाई-बहन के प्रेम में परिणत कर दे।

☐ जब मनुष्य का स्वार्थ होता है, तब वह दूसरों का विचार करना

भूल जाता है और जब स्वयं को कुछ त्याग करना होता है, तब वह संसार की चिन्ता के बहाने से कर्तव्य से विमुख हो जाता है।

☐ आजीवन अखण्ड ब्रह्मचारी के उपदेश व वाणी से संसार में प्रचलित हिंसा, रक्तपात, बलात्कार आदि और कई बार तो महायुद्ध होने से रुक जाता है।

☐ मनुष्य को अपने समक्ष पूर्ण ब्रह्मचर्य का आदर्श रखना चाहिए। उस आदर्श को अपनी दृष्टि के सामने रखने से व्यक्ति अधिकाधिक पूर्णता की ओर प्रगति कर सकता है।

☐ यदि प्रत्येक व्यक्ति अखण्ड ब्रह्मचर्य का आदर्श सामने रखे और उस आदर्श तक पहुँचने का प्रयत्न करता रहे तो एक न एक दिन वहाँ तक पहुँचने में उसे सफलता मिल ही जाती है।

☐ 'सभी ब्रह्मचर्य का पालन करने लगेंगे तो जगत् जनसंख्या शून्य हो जाएगा' ऐसी शंका निराधार है।

☐ कामवासना या विषयेच्छा नींद या भूख जैसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके बिना मनुष्य जीवित ही नहीं रह सके।

☐ विषयेच्छा को तो मनुष्य प्रसन्नता से रोक सकता है। ब्रह्मचर्य पालन से प्राणशक्ति से अत्यन्त वृद्धि होती है।

☐ ब्रह्मचर्य का देहलक्ष्यी एक अर्थ है–अपने शरीर में रहे हुए या उत्पन्न होने वाले वीर्य की रक्षा करना।

☐ ब्रह्मचर्य का दूसरा मनोलक्ष्यी अर्थ है—मन की वासनारहित पवित्र स्थिति।

☐ ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्यरक्षा से स्वास्थ्य आदि की हानि होती है, ऐसा कहना मूर्खता की पराकाष्ठा है।

☐ वीर्यरक्षा स्वास्थ्य के लिए पोषक है, जबकि वीर्यनाश घातक है।

☐ नवयुवकों के लिए ब्रह्मचर्य शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक, तीनों दृष्टियों से उनकी रक्षा करने वाली वस्तु है।

☐ संयम (ब्रह्मचर्य) से कोई हानि नहीं पहुँचती और न वह मनुष्य के स्वाभाविक विकास को ही रोकता है। वह तो बल को बढ़ाता और बुद्धि को तीव्र करता है।

☐ वैद्यक और शरीरशास्त्र की दृष्टि से तो ब्रह्मचर्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका बड़ी प्रबलता से समर्थन किया जाना चाहिए।

☐ ब्रह्मचारी की वृद्धावस्था बाल्यवस्था जैसी आनन्दमयी होती है।

☐ यदि अब्रह्मचारी एक महीने में रोगमुक्त हो जाता है, तो ब्रह्मचारी सप्ताह भर में स्वस्थ हो सकता है।

☐ सामान्यतया ब्रह्मचर्य से कभी कोई रोग नहीं होता, इसके विपरीत वहुत से भयंकर रोगों की उत्पत्ति असंयम से होती है।

☐ अगर ब्रह्मचर्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा हो, उसका स्वरूप समझकर जागृतिपूर्वक पालन किया जाए तो भले ही प्रथम प्रयत्न में निष्फलता दिखाई दे, परन्तु सघन पुरुषार्थ से अन्त में ब्रह्मचर्य में सफलता मिलती ही है।

☐ साहस में विवेक तो होना चाहिए किन्तु निष्कारण भयभीत होकर साहस से दूर रहने वाला कभी ब्रह्मचर्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

☐ काम-वासना इतनी प्रवल नहीं, जिसका नैतिक बल से पूर्णतया दमन न किया जा सके।

☐ किसी भी धार्मिक क्रिया में अब्रह्मचर्य सेवन की छूट नहीं। काम-वासना (अब्रह्मचर्य) को कोई भी धर्म प्राकृतिक आवेग नही मानता।

☐ काम के आवेग के वश होकर वीर्यनाश कर डालने को भी उचित या स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

☐ ब्रह्मचर्य किसी प्रकार का किसी के द्वारा लादा हुआ नियन्त्रण नहीं है, अपितु स्वैच्छिक नियमन है जिससे शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था सुचारु रूप से चल सकती है।

☐ साधु हो या संसारी, योगी हो या भोगी, सबके लिए ब्रह्मचर्य उपयोगी है। जीवन में उसका वहिष्कार करके चलना अपने आप के लिए कब्र खोदना है।

२. ब्रह्मचर्य की सार्वभौम अनिवार्यता

☐ परमात्म-स्वरूप का साक्षात्कार करना मानवजीवन का अन्तिम ध्येय है। मनुष्य यह लक्ष्य या ध्येय तभी प्राप्त कर सकता है जब वह स्वयं विकारों से मुक्त हो।

☐ कामविकार को जैन शास्त्रों में 'वेद' कहा गया है। 'काम' मनसिज

या मनोज (मन में उत्पन्न होने वाला) है। उसके तीन भेद किये हैं – स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

☐ वीतराग परमात्मा की भूमिका प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का शुद्ध रूप में पालन करना अनिवार्य है।

☐ अखण्ड ब्रह्मचारी देहाध्यास एवं शरीर से सम्बन्धित पर-भावों से सर्वथा दूर रहता है। रोग, शोक, चिन्ता, दुःख, भय आदि तो उसके पास सहसा नहीं फटकते।

☐ अखण्ड ब्रह्मचारी का ज्ञान, दर्शन और चारित्र शुद्ध एवं उज्ज्वलतर हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने वाला प्रकाशमान ब्रह्म (परम-आत्मा) को धारण कर लेता है, फिर उसमें समस्त देवता (दिव्य शक्तियाँ) ओत-प्रोत होते हैं, अर्थात् वह समस्त दैवी शक्तियों का भण्डार बन जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य के लक्षण को देखने पर यह कथमपि नहीं कहा जा सकता कि आत्मा का दर्शन ब्रह्मचर्य के बिना सम्भव है।

☐ ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उस आत्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है।

☐ शुद्धात्मभाव में रमणता, गति या दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है।

☐ जब साधक अपने इन्द्रिय, तन, मन और वचन को आत्मा के केन्द्र पर ले जाता है, तभी कहा जाता है कि ब्रह्मचर्य सिद्ध हो गया। इसे ही आध्यात्मिक भाषा में आत्मस्वरूप दर्शन कहते हैं।

☐ यदि आत्मा चाहिए तो ब्रह्मचर्य का आचरण करो।

☐ सत्य, अहिंसा आदि गुणों का पूर्ण विकास हो जाना ही आध्यात्मिक परिपूर्णता है। ऐसी आध्यात्मिक पूर्णता ब्रह्मचर्य के बिना असम्भव है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना अपने आप में अध्यात्म साधना है।

☐ आत्मा जहाँ-जहाँ वैभाविक गुणों में भटकती है, वहाँ-वहाँ से उसे हटाकर स्वाभाविक आत्म-गुणों में लाना, ब्रह्मचर्य की ही विराट साधना है।

☐ संसारी आत्मा में मलिनता भी है, निर्मलता भी। मलिनता बाहर से आई है, निर्मलता बाहर से नहीं आई।

☐ जैन दृष्टि से आत्मा विभाव के कारण अशुद्ध दशा में है पर उसे शुद्ध किया जा सकता है, ब्रह्मचर्य विज्ञान के द्वारा।

☐ स्वभाव और विभाव का या जड़ या चेतन का अथवा आत्मा एवं आत्मगुण तथा शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं का भेदविज्ञान ही ब्रह्मचर्य विज्ञान है।

☐ आत्मगुणों की परिपूर्णता के लिए इसी ब्रह्मचर्य विज्ञान की आवश्यकता है।

☐ सभी व्रतों आदि की आराधना के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है।

☐ (ब्रह्मचर्य आदि) दूसरे सब व्रत सत्य से उत्पन्न होते हैं और उसी के लिए उनका अस्तित्व रहा है।

☐ भोग-विलास के द्वारा किसी को सत्य की प्राप्ति हुई हो ऐसी एक भी मिसाल हमारे पास नहीं है।

☐ अहिंसा का सम्पूर्ण पालन भी ब्रह्मचर्य के बिना अशक्य है।

☐ अहिंसा और सत्य के पालन में ब्रह्मचर्य प्रबल साधन है।

☐ यदि ब्रह्मचर्य व्रत भंग हो गया तो प्रायः अन्य सभी व्रतों का भंग हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य खण्डित होने पर भावहिंसा और द्रव्य-हिंसा दोनों होती है।

☐ भाव-ब्रह्मचर्य का भंग होने से भाव-सत्य का भंग हो जाता है। अब्रह्मचर्य-सेवन से द्रव्य-सत्य भी भंग होता है।

☐ ब्रह्मचर्य-भंग से अचौर्यव्रत का भी भंग हो जाता है।

☐ कुशील-सेवन करने से ब्रह्मचर्य भंग होना तो स्वतःसिद्ध है।

☐ अपरिग्रहव्रत का भंग भी मैथुन सेवन (ब्रह्मचर्य-भंग) से होता है।

☐ शेष चार महाव्रतों के पालन एवं संरक्षण के लिए ब्रह्मचर्य महाव्रत अनिवार्य है।

☐ जो व्यक्ति राष्ट्र-सेवा, समाजसेवा या धर्मसेवा दत्तचित्त होकर करना चाहता है, उसके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है।

☐ [illegible] में अगर वानप्रस्थ जीवन की साधना करनी हो तो उसके लिए भी ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य है।

☐ [illegible] साधना के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है।

☐ ब्रह्मचर्य तभी सिद्ध हो सकता है, जब हमारे समक्ष उच्चतम आदर्श हो, निर्विकार विचार और तदनुकूल वातावरण हो, सदाचारी-सत्संग हो।

☐ सेवाकार्य के लिए ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य है।

☐ गायत्री के छोटे-बड़े अनुष्ठानों के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक है।

☐ मन्त्र-तन्त्रादि की सिद्धि के लिए भी ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य है।

☐ क्षमा, दया, समता, शील, सन्तोष, शान्ति, निर्लोभता आदि की साधना के लिए भी ब्रह्मचर्य-पालन आवश्यक है।

☐ ब्रह्मचर्य एक ऐसा महाव्रत है जो सूर्य के समान सभी गुणरूपी ग्रहों-उपग्रहों का केन्द्र है।

☐ एक ब्रह्मचर्य का पालन करने से अनेक गुण प्राप्त (अधीन) हो जाते हैं।

☐ ब्रह्मचर्य के पालन से समस्त दुर्गुणों का नाश होता है। जिसे उत्तम धर्म पालना हो, उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

☐ सत्य, तप, भूतदया एवं इन्द्रियनिरोध के लिए ब्रह्मचर्य (भाव-ब्रह्मचर्य सहित द्रव्य-ब्रह्मचर्य) अनिवार्य है।

☐ मोहक्षय करने का एक प्रबल कारण ब्रह्मचर्य है।

☐ दृढ़ ब्रह्मचर्यनिष्ठा वाला साधक ब्रह्मचर्य को अखण्डित रखने के लिए मृत्यु तक का आलिंगन करने को तैयार रहता है।

☐ कामवासना (वेद-मोहकर्म) का क्षय हुए बिना मोक्ष प्राप्त होना असम्भव है।

☐ सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है।

☐ मोक्ष के लिए जितनी भी कठोर आध्यात्मिक साधनाएँ की जाएँगी, उनके लिए सुदृढ़, सशक्त, स्वस्थ एवं वज्रमय शरीर का होना आवश्यक है। इसकी पूर्ति ब्रह्मचर्य के अलावा और कोई साधन नहीं कर सकता।

☐ ब्रह्मचर्य से मनुष्य चिरायु होते हैं, उनके शरीर का संस्थान (ढाँचा या आकृति) सुन्दर एवं सुडौल हो जाता है, उनके शारीरिक संहनन सुदृढ़ हो जाते है, वे तेजस्वी और महावीर्यवान (प्रबल शक्तिशाली) होते हैं।

☐ मुक्ति की प्रक्रिया में ब्रह्मचर्य एक प्रबल कारण है। उसकी आराधना मुक्ति के लिए अनिवार्य है।

☐ जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते, अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, उनका मोक्ष सर्वप्रथम होता है।

☐ मोक्ष का दृढ़ आधार ब्रह्मचर्य है।

☐ पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन के बिना मोक्षप्राप्ति दूरातिदूर होती चली जाती है।

☐ ब्रह्मचर्य के बिना पारलौकिक अभ्युदय तो दूर रहा, लौकिक अभ्युदय भी प्राप्त नहीं हो सकता, दोनों के लिए ब्रह्मचर्य-पालन अनिवार्य है।

☐ ब्रह्मचर्य-पथ को अपनाये बिना कोई भी व्यक्ति अपने उत्कर्ष, जीवन की महत्ता एवं सुख-शांति को प्राप्त नहीं कर सकता।

☐ तेजस्वी जीवन बनाने के लिए ब्रह्मचर्य-रूपी तपश्चरण की आवश्यकता है।

☐ ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है। आचार्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्मचारी शिष्य को अपने शिक्षण एवं निरीक्षण में लेने की योग्यता प्राप्त करता है।

☐ वीर्य का ऊर्ध्वीकरण होने पर ही नर नारायण बन सकता है, वीर्य का अधःकरण होने पर अर्थात् ब्रह्मचर्य भंग होने पर तो देव भी दानव, तथा नर भी वानर बन जाता है।

☐ आन्तरिक शक्तियों को बिखरने से बचाकर केन्द्रित करने का कार्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही हो सकता है।

☐ ब्रह्मचर्य के बिना अपने आप पर शासन करने की शक्ति नहीं आ सकती। आत्मानुशासन के लिए, ब्रह्मचर्य अनिवार्य है।

☐ ब्रह्मचर्य से सभी साधनाओं में शक्ति का संचार होता है।

☐ प्रत्येक नैतिक, आध्यात्मिक या धार्मिक साधना में प्रगति के लिए ब्रह्मचर्य-साधना से सदैव सम्बन्ध रखना आवश्यक है।

☐ आध्यात्मिक दृष्टि वाले महापुरुष आत्म-सुख में ही वास्तविक एवं शाश्वत सुख मानते हैं। यह सुख ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है। भौतिक पदार्थों या इन्द्रियविषयों से जनित सुखों का अन्त दुःख में ही होता है।

☐ काम-सुख की अन्धी दौड़ में मनुष्य को दुःख, पश्चात्ताप, क्लेश, आत्मग्लानि, विषमता आदि से न जाने कितनी हानियाँ, परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं।

☐ निःसन्देह विषयभोगों में सुख मानकर लिप्त होने वाले व्यक्ति मृत्यु और विनाश की ओर अग्रसर होते हैं।

☐ दुःख के सर्वथा नाश के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो। जो लोग ब्रह्मचर्यहीन हैं, उन्हें पद-पद पर दुःख उठाने पड़ते हैं।

☐ आत्मिक सुख-शांति प्राप्त करने के लिए काम-सुख के मोहक जाल में न फँसकर ब्रह्मचर्य-पालन करना अनिवार्य है।

☐ दुःख का मूल नष्ट करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन आवश्यक है।

☐ उर्वर मस्तिष्क, तीव्र स्मरणशक्ति, सुदृढ़ शरीर, निर्मल मन, पवित्र बुद्धि इन सबकी उपलब्धि ब्रह्मचर्य के बिना नहीं हो सकती।

☐ विद्यार्थी जीवन में विद्या-प्राप्ति के लिए ब्रह्मचारी रहना अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना आगामी जीवन में सफलता दुष्कर है।

३. ब्रह्मचर्य की प्रधानता

☐ ब्रह्मचर्य को भंग करने की अपेक्षा मृत्यु को वरण कर लेना चाहिए।

☐ महाव्रतों की परिगणना में यद्यपि ब्रह्मचर्य का चतुर्थ क्रम है; तथापि वह अपनी अद्भुत गरिमा और महिमा के कारण सभी व्रतों में प्रथम स्थान रखता है।

☐ ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व एवं विनय का मूल है।

☐ ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर करोड़ों जीवों के विनाश के साथ-साथ संस्कृति, सभ्यता, नीति, धर्म आदि का भी विनाश होता है।

☐ तराजू के एक पलड़े में चारों वेद (वेदों के उपदेश) रखे जाएँ और दूसरे पलड़े में ब्रह्मचर्य रखकर तोला जाए तो ब्रह्मचर्य का पलड़ा भारी हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य इसलिए भी सब व्रत-नियमों में प्रधान है कि ये सब व्रत-नियम आदि ब्रह्मचर्य के ही परिवार हैं। ब्रह्मचर्य इस परिवार का

☐ जीवदया, इन्द्रिय-दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप, ये सब शील के परिवार हैं।

☐ लोकोत्तर उद्देश्य की पूर्ति के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये महाव्रत हैं। परन्तु इन सबसे लोकोत्तम, लोक में प्रधान या विश्व में अग्रणी कोई व्रत है तो ब्रह्मचर्य ही।

☐ ब्रह्मचर्य यह अद्वितीय गुण है और सर्वगुणों का नायक है।

☐ जो व्यक्ति ब्रह्मचर्यनिष्ठ है वह सर्वत्र उत्कृष्ट, उच्च, वन्द्य एवं प्रधान माना जाता है। उसे सर्वत्र आदर-सम्मान दिया जाता है, उसकी यश कीर्ति सर्वत्र फैलती है, उसे विश्व का महामानव माना जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य की आराधना के कारण ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति की इस लोक और परलोक में यशकीर्ति और प्रतीति (विश्वास) बढ़ती है।

☐ व्रतों में ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट है।

☐ ब्रह्मचर्य को कुछ मनीषियों ने व्रतों का गुरु बताया है। ब्रह्मचर्य-पालन से होने वाली पुण्यराशि बहुत ही अधिक है। जैनदर्शन की दृष्टि से शुद्ध ब्रह्मचर्य साधना से महानिर्जरा भी बहुत अधिक होती है।

☐ संसार के समस्त उत्तम कार्यों में विघ्ननिवारक एवं मंगल का मार्गदर्शक विनायक ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्तियों के या ब्रह्मचर्य का पालन करके उत्तम कार्य करने वालों के कार्य ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मंगलमय होते हैं।

☐ ब्रह्मचर्याश्रम चारों आश्रमों की बुनियाद है।

☐ बाल्यावस्था यह मानव-जीवन का स्वर्णकाल होता है। इसमें गुरु-निष्ठा, अध्ययननिष्ठा और सुसंस्कारनिष्ठा परिपक्व होती है। ये तीनों निष्ठाएँ ब्रह्मचर्य के द्वारा ही परिपक्व एवं सफल होती हैं।

☐ ब्रह्मचर्यपथ पर चलते हुए कहीं थकान आए, वहाँ गृहस्थाश्रम विश्राम रूप है।

☐ संन्यास-आश्रम में मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से अब्रह्मचर्य का त्याग और पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य होता है।

☐ शास्त्रों में अहिंसा आदि चार महाव्रतों के लिए कहीं भी 'उग्र' और 'घोर' शब्द नहीं आता। ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए कई स्थानों पर 'उग्र' और 'घोर' विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

□ ब्रह्मचर्य महाव्रत उग्र है, उसे धारण करना अति दुष्कर है।

४. ब्रह्मचर्य का अमोघ प्रभाव

□ अखण्ड और शुद्ध ब्रह्मचर्य के अद्भुत चमत्कार हैं, अगणित प्रभाव हैं, आश्चर्यजनक प्रताप हैं।

□ देवों के राजा इन्द्र भी ब्रह्मचारी के समक्ष तथा ब्रह्मचर्य के प्रभाव के समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं।

□ जो महान् आत्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसके चरणों में देव, दानव, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि समस्त दैवी शक्तियाँ सभक्ति भाव नमस्कार करती हैं।

□ अगरु और चन्दन की सौरभ फैलती है, वह तो बहुत ही अल्पमात्रा में होती है, परन्तु ब्रह्मचर्य (शील) की सुगन्ध ऐसी है, जो देवों के हृदय को भी आकर्षित कर लेती है।

□ शील की गन्ध के समान दूसरी गन्ध कहाँ से होगी ? शील की गन्ध ऐसी गन्ध है जो विपरीत हवा में भी उसी तरह बहती है जिस तरह अनुकूल हवा में बहती है।

□ मनुष्य चाहे कितना ही पापी हो, क्रूर हो, विषयान्ध हो, धन के मद में मतवाला हो, सत्ता के नशे में चूर हो अथवा शस्त्र-अस्त्र आदि संहारक पदार्थों से सुसज्जित हो, ब्रह्मचारी स्त्री या पुरुष के ब्रह्मचर्य का उस पर अचूक प्रभाव पड़ता है। किन्तु ब्रह्मचारी पर इन या ऐसे ही कठोर हृदय व्यक्तियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

□ स्वस्त्री के अतिरिक्त समस्त नारियों के प्रति अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग स्थूल ब्रह्मचर्य कहलाता है।

□ अखण्ड ब्रह्मचारी का ब्रह्म तेज इतना प्रखर होता है कि उनके पास कामुक दृष्टि से आने वाली महिला की कामवासना भी शान्त हो जाती है।

□ ब्रह्मचर्य ने ही सीता को जगत् जननी पद पर प्रतिष्ठित किया।

□ ब्रह्मचर्य का प्रभाव देवों और मानवों पर ही नहीं, तिर्यंचों एवं प्राकृतिक पदार्थों पर भी पड़ता है।

☐ ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति की मानसिक इच्छाशक्ति प्रबल होती है।

☐ अहिंसक के समक्ष सिंह आदि क्रूर जानवर भी अपना भयंकर स्वभाव छोड़ देते हैं।

☐ जिसके मन-वचन-काया में ब्रह्मचर्य का अमृत ओतप्रोत होगा, उसमें प्राणियों के प्रति द्वेष, वैर या हिंसा की भावना भी नहीं होगी, और न भयंकर से भयंकर प्राणी को देखने पर भय की भावना पैदा होगी।

☐ ब्रह्मचर्य का बल हजार हाथियों से भी अधिक है, वह शरीर-बल से नहीं नापा जाता। कदाचित् प्रत्यक्ष भी नहीं दृष्टिगोचर होता, किन्तु उसके कार्य से स्पष्टत. अनुमान लगाया जा सकता है।

☐ ब्रह्मचारी का संकल्पबल इतना तीव्र होता है कि उसका प्रत्येक मनोवांछित पवित्र कार्य सिद्ध होकर रहता है।

☐ ब्रह्मचारी के मुख से जो भी वचन निकल जाता है, वह वैसा होकर ही रहता है।

☐ ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति के शरीर पर सर्दी, गर्मी या वर्षा का सहसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

☐ ब्रह्मचारी जादूगर की तरह अपने चमत्कारों का प्रदर्शन नहीं करता, न ही वह अपनी उपलब्धियों का ढिंढोरा पीटता है। वह सहजभाव से निष्ठा और श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

☐ अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन का प्रभाव शरीर और इन्द्रियों पर भी पड़ता है। अखण्ड ब्रह्मचारी की बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ इतनी सूक्ष्मग्राही एवं सक्षम हो जाती हैं कि वे बहुत ही गहन, गूढ़ और गुप्त बात को पकड़ सकती हैं।

☐ जो व्यक्ति इन्द्रियों का सतत कठोर दमन करके ऊर्ध्वरेता बन जाता है, उस सत्यनिष्ठ ब्रह्मचारी की इच्छानुसार सारे कार्य होते हैं। ऐसा पुरुष इच्छागामी हो जाता है।

☐ जो व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत मन-वचन-काया से अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उस तेजस्वी व्यक्ति के लिए इस जगत् में कोई भी वस्तु अप्राप्य एवं अशक्य नहीं है।

☐ ब्रह्मचर्यरूप तप से देवों ने मृत्यु का भी विनाश कर दिया था।

☐ ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति मृत्यु की भी तिथि बदल सकता है। यह अखण्ड ब्रह्मचर्य का मृत्यु पर भी प्रभाव कहा जा सकता है।

☐ अखण्ड ब्रह्मचर्य शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर अत्यन्त लाभदायक प्रभाव डालता है।

☐ ब्रह्मचारी का शरीर और मन इतना सुदृढ, अविचल एवं पवित्र हो जाता है कि किसी भी प्रकार की उग्रतम काम-वासना के उत्तेजक वातावरण में भी वह ब्रह्मचर्य पर सुदृढ़ रहता है।

☐ जो व्यक्ति जितना अधिक संयमी, ब्रह्मचर्यनिष्ठ होता है उतना ही उसका व्यक्तित्व प्रखर, तेजस्वी और प्रभावशाली बनता है।

☐ विधिपूर्वक अखण्ड ब्रह्मचर्य का प्रभाव क्रमश शरीर, मन और आत्मा पर पड़ता है। आत्मा में विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करके उन पर विजय प्राप्त करने की क्षमता एवं दक्षता आ जाती है। अवांछित बातों का प्रभाव उसके मस्तिष्क को उत्तेजित नहीं कर सकता, यही उसकी ब्रह्मचर्य-निष्ठा की कसौटी है।

☐ सर्वेन्द्रिय-संयम रूप ब्रह्मचर्य दूसरों को अचूकरूप से वश में कर लेता है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति की एक दृष्टि पड़ते ही विरोधी से विरोधी व्यक्ति पानी-पानी हो जाता है।

☐ यदि एक ही कृत्य से सारे जगत् को वश में करना चाहते हो तो शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करो अपनी दुर्वृत्त इन्द्रियों को विषयों में स्वच्छन्द विचरने से रोको।

☐ ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति की तेजस्वी दृष्टि और ओजस्वी वाणी का शीघ्र प्रभाव पड़ता है।

☐ ब्रह्मचर्य की उपासना करने से मनुष्य समस्त पापों को जला देता है। जैसे ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति से इन्द्र डरता है, वैसे ही काल भी डरता है।

☐ अखण्ड ब्रह्मचर्य का सार्वभौम प्रभाव अद्भुत है।

५. ब्रह्मचर्य का माहात्म्य

☐ भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य को जितना अधिक महत्व दिया गया है, उतना और किसी व्रत-नियम या साधना को नहीं।

☐ हमारा जीवन वीर्यरक्षा (ब्रह्मचर्य) पर टिका है, और वीर्यनाश से हमारा मरण है।

☐ **मरणं बिन्दुपातेन, जीवन बिन्दु धारणात्।**

☐ वीर्यपात से मरण है और वीर्य-धारण से जीवन है।

☐ ब्रह्मचर्य के सद्भाव में जीवन सदैव आनन्दमय और उल्लासमय बना रहता है।

☐ ब्रह्मचर्य मानव-जीवन का सर्वस्व है।

☐ जीवन-उपवन का माली सद्गृहस्थ यदि ब्रह्मचर्य की खाद बाल्यावस्था से ही बालक के जीवन में डाल देता है, तो उसे जीवन के सभी क्षेत्रों में उत्तम बुद्धिबल, मनोबल, शरीरबल, चरित्रबल, आत्मबल आदि बढ़े हुए मिलते हैं।

☐ ब्रह्मचर्य भावी जीवन की आधारशिला है।

☐ ब्रह्मचर्य अमरत्व की साधना के लिए आवश्यक है। ब्रह्मचर्य अमृत है और अब्रह्मचर्य विष है।

☐ मृत्यु के समय ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति के ओठों पर अद्भुत मुस्कान अठखेलियाँ करती है।

☐ ब्रह्मचर्य मुक्ति और स्वर्ग का खुला द्वार है। यह नरक और तिर्यंच गति के मार्ग का निवारण करता है।

☐ जितने भी नर-नारी मुक्त हुए है, वे सब ब्रह्मचर्य के पालन से ही ससार सागर को पार कर सके है।

☐ जो संकीर्ण दृष्टि वाले व्यक्ति हैं वे ही कामादि रोग में ग्रस्त होते हैं। जो ऊर्ध्व (विशाल) दृष्टि वाले है, ऊर्ध्व (गति) को ओर देखते हैं, वे कामादि के पाश को तोड़ डालते हैं।

☐ जो अकर्मवीर्यशाली है, वह ब्रह्मचारी है। वह कर्मक्षय करके संसार को घटाता है, मोक्ष की ओर बढ़ता है।

☐ ब्रह्मचर्य का निश्चय दृष्टि से अर्थ है—आत्मा (ब्रह्म) या आत्मगुणों

में रमण करना और शरीर या वैभाविक गुणों (शरीर से सम्बद्ध परभावों) में आसक्त न होना।

☐ ब्रह्मचारी पुरुष स्त्री को ब्रह्म (आत्म) रूप में देखता है। उसके शरीर को परभाव समझकर उसके प्रति मोहवश आकर्षित नहीं होता।

☐ जड़ से आत्मा का सम्पूर्ण रूप से पृथक् होना और अपने वास्तविक स्वभाव में ओतप्रोत हो जाना ही मुक्ति है, सिद्धि है।

☐ ब्रह्मचर्य राग-द्वेषादि कालुष्य से या परभावों से रहित विशुद्ध सिद्धि-गति का स्थान है।

☐ अन्तर् में शुद्ध रूप से ब्रह्मचर्य के आचरण के बिना व्यक्ति न तो ऋषि है, न मुनि है, न संयमी है और न भिक्षु है।

☐ वही ऋषि है, वही मुनि है, वही संयत है और वही भिक्षुक है जो शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

☐ शुद्ध साधना का मूल ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही विकारों और वासनाओं को दूर करके अंतरंग की शुद्धि हो सकती है। उसी से तप, जप, ध्यान या अन्य साधनाओं में चमक-दमक आती है।

☐ ब्रह्मचर्य का पालन करने से अंतःकरण उदार, गम्भीर और स्थिर हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य के कारण ब्रह्मचर्यनिष्ठ का जीवन हिमवान पर्वत से भी अधिक तेजस्वी होता है।

☐ ब्रह्मचर्य में ही ऐसा जादू है जिसके प्रभाव से मनुष्य का चिन्तन-मनन, विचार एवं भाव पवित्र एवं शुद्ध रहते है।

☐ मन जितना पवित्र होगा, उसमें चिन्तन-मनन भी उतना ही प्रशस्त होगा, उसमें विचार भी सुन्दर ही आएँगे, उसकी स्मरणशक्ति, निर्णयशक्ति तथा निरीक्षण-परीक्षण एवं स्फुरणाशक्ति भी उतनी ही तीव्र एव सक्षम होगी।

☐ जिन उत्तम गुणों से युक्त महापुरुषों में यह ब्रह्मचर्य व्रत सदा विशुद्ध होता है, उनका ब्रह्मचर्ययुक्त मन शंकारहित, भयविहीन, तुषरहित चावल के समान सारयुक्त एवं निरायास (खेदरहित), तथा आसक्ति या मलिनता के लेप से रहित होता है।

☐ ब्रह्मचर्य पवित्र मन का झरना है और अब्रह्मचर्य मलिन मन का गंदा नाला है।

☐ मन की पवित्रता ब्रह्मचर्य से आती है।

☐ ब्रह्मचर्य शुद्ध साधना का सिंहद्वार है। इसमें प्रवेश किये बिना साधना में गति-प्रगति आ ही नहीं सकती।

☐ ब्रह्मचर्य पाँच महाव्रतों और पाँच अणुव्रतों का मूल है। ब्रह्मचर्य के बिना अन्य महाव्रतों या अणुव्रतों का कोई मूल्य नहीं, जड़ को छोड़कर केवल पत्तों को सींचना है।

☐ जैसे प्राण निकल जाने पर शरीर निर्जीव हो जाता है, वैसे ही अहिंसादि चारित्र के अंगों में से ब्रह्मचर्य को निकाल लेते हैं, तो चारित्र निष्प्राण सा हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य के बिना दूसरे व्रत आदि - सम्यक्चारित्र के अंगों का पालन कैसे होगा ? क्योंकि चारित्र-पालन के लिए मन-वचन-काया की विशुद्धि आवश्यक है।

☐ ब्रह्मचर्य को चारित्र का प्राण और जीवन कहा गया है।

☐ विषयभोग अनेक रोग, शोक, दुःख, चिन्ता आदि नाना अनर्थ पैदा करने वाले हैं। सर्वाधिक आनन्ददायी एवं आनन्द का सर्वोत्तम साधन तो ब्रह्मचर्य है।

☐ वीर्यक्षय होते ही व्यक्ति ग्लानि, उदासी, शरीर में शिथिलता, अशक्ति, वेदना आदि अनेक अनिष्टों का शिकार हो जाता है।

☐ मनुष्य चाहे तो ब्रह्मचर्य के माध्यम से ब्रह्म (आत्मा) में रमण करके असीम आनन्द की अनुभूति कर सकता है। ब्रह्मचर्य से प्राप्त आनन्द ही मन, वाणी, चित्त, बुद्धि एवं हृदय में व्याप्त हो जाता है।

☐ अज्ञानी विषयासक्त मन आनन्द की खोज में बाहर भटकता रहता है।

☐ काम-भोग अनर्थों की खान है। उनमें आनन्द नहीं। अतः ब्रह्मचर्य ही आनन्द का अक्षय कोष है।

☐ ब्रह्मचर्य का व्यापक और व्यावहारिक अर्थ है—सर्वेन्द्रियसंयम, मनःसंयम, वचनसंयम, हाथ-पैरों पर संयम, क्रोधादि पर संयम, जननेन्द्रिय-

संयम या उपस्थसंयम। इस प्रकार सर्वदा एवं सर्वत्र संयम ही ब्रह्मचर्य का सर्वस्व है।

☐ जिस व्यक्ति के जीवन में संयम नहीं रहता, विशेषत: जननेन्द्रिय-संयम, पंचेन्द्रियसंयम या मनःसंयम शिथिल हो जाता है, अथवा संयम का अतिशय भंग हो जाता है, उसका आध्यात्मिक मेरुदण्ड विकृत हो जाता है।

☐ शुद्ध और सर्व-संयम पालन करने पर ब्रह्मचर्यरूपी मेरुदण्ड सुरक्षित, सशक्त एव सम्यक् रह सकता है, अन्यथा वह विकृत, निर्बल एवं असुरक्षित हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य संयम का मेरुदण्ड है।

☐ वास्तविक तप तो वह है, जिसमें इन्द्रिय-विषयों के उपभोग पर नियन्त्रण हो, मनोविकारों पर संयम हो।

☐ उपवासी अब्रह्मचारी की अपेक्षा उपवास नहीं करने वाला ब्रह्मचारी श्रेष्ठ है; क्योंकि उपवास करने का मुख्य उद्देश्य इन्द्रियों और मन पर या इच्छाओं-वासनाओं पर विजय पाना है।

☐ जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे ब्रह्मचर्य से प्राप्त होती है।

☐ तपस्या का मूल ब्रह्मचर्य है।

☐ मनीषियों ने बाह्य तप को तप नहीं कहा, अपितु ब्रह्मचर्य को ही सर्व तपों में उत्तम कहा है।

☐ ब्रह्मचारी की तेजस्विता और कान्ति के सामने हिमवान् पर्वत की कान्ति और तेजस्विता फीकी लगती है।

☐ ब्रह्मचर्य से ब्रह्मतेज का संचय होता है और पूर्ण तपस्वी उसी के बल से तप सफल कर सकता है।

☐ ब्रह्मचर्यरूपी तपस्या वह अग्नि है, जिसमें तपकर आत्मा कुन्दन वन जाती है।

☐ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इनका मूल ब्रह्मचर्य है।

☐ हेयोपादेय का, सत्यासत्य का एव कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय सम्यग्दृष्टि के विना नहीं हो सकता।

☐ ब्रह्मचर्य से ही आत्मिक, बौद्धिक, हार्दिक, विवेकीय या निरीक्षण-परीक्षणीय शक्ति प्राप्त हो सकती है।

☐ ब्रह्मचर्यरूपी (आत्म-विचरण) यज्ञ में, आत्मारूपी अग्नि में शरीर, मन, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के संपूर्ण कालुष्य (विकार) की आहुति देनी है; आत्मा की सेवा में इन सबको चढ़ा (अर्पण कर) देना है।

☐ जिसे यज्ञ कहा जाता है, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है।

☐ ब्रह्मचर्य में सभी तीर्थ है, ब्रह्मचर्य में ही तप है, ब्रह्मचर्य में धैर्य है और यश भी निहित है।

☐ ब्रह्मचर्य में पुण्य, पवित्रता और पराक्रम हैं। ब्रह्मचर्य में स्वातत्र्य और ईश्वरत्व तक भी प्रतिष्ठित है। वीर्यधारण (ब्रह्मचर्य) में ये समस्त प्रतिष्ठित है।

☐ ब्रह्मचर्य ही स्वास्थ्य और आरोग्य की कुंजी है। शीघ्र आरोग्य प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य से बढ़कर कोई दवा नहीं है।

☐ ब्रह्मचर्य की जड़ी-बूटी तो शरीर और आत्मा दोनों को एक साथ ही शक्ति प्रदान करती है।

☐ वास्तविक सौन्दर्य साधनों का अनुगामी नही होता। उसका आधार है—स्वस्थ शरीर, निर्विकार मन एव ब्रह्मचर्य का अद्भुत तेज।

☐ मन का सौन्दर्य सद्‌विचार और पवित्रता से प्रकट होता है। तन का सौन्दर्य प्रकट होता है—वीर्य-रक्षण से।

☐ ब्रह्मचर्य की तन-मन-वचन से उपासना करने पर शारीरिक सौन्दर्य भी बढेगा, मनोबल भी उच्च बनेगा, जीवन भी कार्यक्षम एवं सत्वशाली बनेगा।

☐ ब्रह्मचर्य ही वह रंग है, जिससे चेहरा ही नही, सारा शरीर ओज, तेज और लावण्य से चमक उठता है।

☐ बुद्धिमान एव दूरदर्शी व्यक्ति शरीर को आभूषणों से सजाने के बजाय आत्मा को शील (ब्रह्मचर्य) के आभूषण से सजाते हैं, जिससे दुःख, अशान्ति, रोग, शोक, भय, ईर्ष्या, कलह, लूट आदि किसी बात का खतरा नही रहता।

☐ सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्।

☐ सौजन्य, वाक्संयम, उपशम, विनय, दान, क्षमा, अक्रोध, निश्छलता इत्यादि समस्त गुणों के विभिन्न कारण होते हुए सर्वस्व कारण रूप शील परम आभूषण है।

☐ शीलरूपी रत्न न तो खोता है, और न ही उसकी चोरी या लूट होती है और न ही वह नष्ट होता है।

☐ ब्रह्मचर्य के प्रताप से मनुष्य को तीर्थंकर पद प्राप्त होने से तीन लोक की सर्वस्व सम्पदा (ऋद्धि-समृद्धि) प्राप्त हो सकती है।

☐ विशाल कुल से क्या प्रयोजन? शील ब्रह्मचर्य ही महिमा का का कारण है।

☐ कुल अच्छा हो या बुरा, किन्तु ब्रह्मचर्य उसके जीवन में है, तो वह महान है, देवों का भी पूज्य है।

☐ ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य में कार्य-क्षमता, सूझबूझ एवं कर्तव्य निर्धारण शक्ति बढ़ जाती है।

☐ आलस्य, अकर्मण्यता एवं निरुद्योगिता ब्रह्मचारी के पास नहीं फटकती। वह यथाशक्ति पुरुषार्थ करके श्रेयस्कर कार्यों को सिद्ध कर लेता है।

☐ जैसे पृथ्वी के आधार से बैठना खड़े होना आदि सभी कार्य सम्पन्न होते हैं, वैसे समस्त श्रेयस्कर कार्य शील (ब्रह्मचर्य) के आश्रय से सम्पन्न होते है।

☐ ब्रह्मचर्य-पालन से परस्पर प्रेम, आत्मीयता, बन्धुत्व, सज्जनता, सौहार्द, स्नेह, वात्सल्य आदि गुण बढ़ेंगे, स्वार्थ आदि दुर्गुण दूर होंगे और सभी क्षेत्रों में सुधार द्रुत गति से होने लगेगा।

☐ सभी सुधारों का मूल ब्रह्मचर्य है किन्तु समस्त सुधारणाओं में सर्व-प्रथम आत्म-सुधारणा करनी चाहिए, राष्ट्र हितैषियों को उसके मूल–ब्रह्मचर्य का आचरण करना चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्य का एक अर्थ होता है—बृहत्ता महानता में विचरण करना। स्वयं को महान बनने की तरफ ले जाना।

☐ ब्रह्मचर्य जिसके जीवन में रम गया हो, उस व्यक्ति का जीवन नैतिक बल अथवा चरित्र बल में सुदृढ़ हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्याणुव्रती गृहस्थ का जीवन सभी प्रकार की नैतिकता से ओत-प्रोत होता है। पराई कमाई का लाखों का ढेर भी उसके लिए धूल समान होगा, और अप्सरा-सी सुन्दर युवतियाँ भी उसके लिए माता-बहन-पुत्री के समान होगी।

☐ अखण्ड ब्रह्मचर्य-महाव्रती का जनता मे इतना विश्वास इसीलिए है कि लोग जानते है इनके लिए संसारभर की स्त्रियाँ माता, बहन या पुत्री के समान है।

☐ शक्तिसंपन्न व्यक्ति ही आत्मनिर्भर हो सकता है और शक्तिसंपन्नता आती है ब्रह्मचर्य से।

☐ ब्रह्मचर्य-बल से सम्पन्न व्यक्ति में वीरता के साथ-साथ धैर्य भी होता है।

☐ दैवीसाधन से शरीर तैयार करना हो तो उसका एकमात्र उपाय ब्रह्मचर्य है।

☐ शरीरबल के साथ-साथ मनोबल, बुद्धिबल, विवेक-विचारशक्ति या आध्यात्मिक शक्ति आदि बल ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हो सकते है, आसुरी मार्ग से नही।

☐ इतना अवश्य है कि जहाँ ब्रह्मचर्य है, वहाँ दुर्बलता टिक नहीं सकती।

☐ शरीरबल के साथ मनोवल होने पर ही आत्मगुणों की साधना की जा सकती है।

☐ जिस तन-मन में बल नहीं, क्षमता नही, शक्ति नहीं, वह आत्मा को-आत्मगुणो को उपलब्ध नही करता। बलवान शरीर में ही बलवान आत्मा का निवास होता है।

☐ आत्मस्वभाव पर मेरुसम स्थिर रहने वाला ही आत्मा की शुद्ध ज्योति एवं आत्मगुणों का साक्षात्कार कर सकता है। कष्टों से घबराकर पथभ्रष्ट होने वाला वलहीन व्यक्ति आत्मदर्शन नही कर सकता।

☐ ब्रह्मचर्य में अमित शक्ति है, तेज है, ओज है, वल-वीर्य है। वह अपूर्व शक्ति, साहस और पुरुषार्थ का भण्डार है।

☐ यदि व्यक्ति प्राप्त शक्ति को वीर्यधारणरूप ब्रह्मचर्य के द्वारा रोक कर विवेकपूर्वक उचित दशा में लगा देता है तो उससे महान कार्य सम्पन्न हो सकते हैं।

☐ न तो अकेले शरीर से आध्यात्मिक साधना हो सकती है, और न अकेली आत्मा से। दोनों का संयोग और विवेकपूर्वक प्रयोग ही आध्यात्मिक शक्तियों को प्राप्त करता है।

☐ ब्रह्मचर्य ही वह सर्वोत्कृष्ट उपाय है जो तन-मन और आत्मा को अप्रतिहत शक्तिमान बना देता है।

☐ विशुद्ध अध्यात्म शक्ति ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होती है।

☐ ब्रह्मचर्य के प्रताप से उसके साधक-आराधक में इतनी प्रचण्ड आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है कि वह बड़े से बड़े प्रलोभन और भय के वश में नहीं होता।

☐ मनुष्यों के कुल की उन्नति करने वाला शील (ब्रह्मचर्य) ही है। परम आभूषण भी शील है। अग्नि को शीघ्र पानी कर देने वाला भी शील है। सुगति में ले जाने वाला शील है। सचमुच शील कल्पवृक्ष है।

☐ ब्रह्मचारी की सभी शुभेच्छाएँ पूर्ण होती हैं।

☐ ब्रह्मचर्य जीवन-वृक्ष का पुष्प है और प्रतिभा, पवित्रता, वीरता आदि गुण उसके फल हैं।

☐ ब्रह्मचर्य शाश्वत, अव्याबाध और पुनर्भव को रोकने वाला है।

☐ ब्रह्मचर्य दुर्गति के मार्ग को रोकने वाला तथा आच्छादित करने वाला है, सद्गति का पथप्रदर्शक है और लोक में उत्तम व्रत है।

☐ वैर की शान्ति ब्रह्मचर्य का फल है।

☐ ब्रह्मचर्य का निरतिचार (विशुद्ध) पालन करने वाला ही सुब्राह्मण, सुश्रमण और सुसाधु है।

☐ ब्रह्मचर्य जीवन का अमृत है, वासना मृत्यु है, ब्रह्मचर्य अनन्त सुख है। वासना अशान्ति एवं दुःख का सागर है।

☐ ब्रह्मचर्य शुद्ध ज्योति है, वासना पापकालिमा है। ब्रह्मचर्य जीवन का ओज और तेज है। अब्रह्मचर्य ग्लानि और निसत्वता है। विशुद्ध ब्रह्मचर्यसाधक पूज्यों का भी पूज्य बन जाता है।

६. ब्रह्मचर्य से विविध लाभ

□ ब्रह्मचर्य से हानि तो किसी भी दृष्टि से कतई नहीं है, बल्कि अनेकों भौतिक लाभ है।

□ ब्रह्मचर्य से व्यक्तिगत लाभ तो है ही, परिवार, समाज और राष्ट्र को भी ब्रह्मचर्य-पालन से कम लाभ नही है।

□ स्वेच्छा से मनोनिग्रह या वासना-नियंत्रण ही रोग-शोक, दुःख एवं निर्बलता का निवारक है, स्वस्थता और आत्म-शक्ति का प्रदाता है।

□ ब्रह्मचर्य से ही आरोग्य-लाभ हो सकता है। यह वह अमृत है जिसके आसेवन से शारीरिक ही नहीं, मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगों से भी मानव मुक्त हो सकता है।

□ संसार के समस्त धर्म-कर्म शरीर की पुष्टता और स्वस्थता पर आधारित है। स्वस्थता ब्रह्मचर्य पर आधारित है।

□ अखण्ड-ब्रह्मचारी को पता ही नही लगता कि व्याधिग्रस्त दिवस कैसा होता है। उसकी पाचन शक्ति नियमित होती है।

□ ब्रह्मचारी के शरीर में प्राण एवं आरोग्यप्रद तत्व इतने प्रबल होते है कि उसे विषयासक्ति के विचार और कार्य भ्रष्ट नहीं कर सकते। यदि ब्रह्मचारी के शरीर पर रोग हमला करता है तो भी ब्रह्मचर्य तमाम प्रकार के रोगों के लिए बख्तर बन जाता है।

□ ब्रह्मचारी अपना प्रत्येक कार्य निरन्तर करता रहता है, उसे प्रायः थकान नहीं आती। वह कभी चिन्तातुर नहीं होता। उसका शरीर सुदृढ़ होता है। उसका मुख तेजस्वी होता है। उसका स्वभाव आनन्दी और उत्साही होता है।

□ आत्मा को अपने ध्येय तक पहुँचाने के लिए स्वस्थ तन-मन की आवश्यकता है, और तन-मन की स्वस्थता ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हो सकती है।

□ स्त्री-संग से दूर रहने वाला व्यक्ति दीर्घायु होता है। उसका शरीर हृष्टपुष्ट और तेजस्वी बनता है। उसे शीघ्र वृद्धावस्था नहीं आती। वह वृद्ध होते हुए भी युवावस्था की मस्ती में रहता है।

□ जिस कुल या परिवार में ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उस कुल की सन्तान दीर्घजीवी होती है। जो व्यक्ति या कुल अहर्निश काम-भोगों में रत रहता है, संयम की बिलकुल उपेक्षा करता है, उससे दीर्घजीवी सन्तान कैसे पैदा हो सकती है?

☐ जो मनुष्य अपने शरीर में वीर्य का संग्रह (ब्रह्मचर्य-पालन) करता है, वह दीर्घजीवी होता है। ब्रह्मचर्य पालन किये बिना मनुष्य पूर्ण आयु प्राप्त नहीं कर सकता।

☐ श्वासोच्छ्वास जितने कम चलते हैं, मनुष्य उतने अधिक समय तक अपना जीवन टिका सकता है।

☐ मनुष्य जहाँ तक ऊर्ध्वरेता रहता है, वहाँ तक उसे अकाल मृत्यु का भय नहीं होता।

☐ संसार में जितने भी सुख हैं, वे आयुष्य के अधीन हैं, और आयुष्य ब्रह्मचर्य के अधीन है।

☐ ब्रह्मचर्य के रसायन-सेवन से मनुष्य की आयुष्य वृद्धि होती है।

☐ ब्रह्मचारी की आकृति, शरीर का डीलडौल, ढाँचा, अंगोपांग आदि सब सुन्दर, तेजस्वी और सुदृढ़ होते हैं।

☐ शरीर के रक्षण के लिए ब्रह्मचर्य सर्वाधिक जरूरी है। जिसने उसका पालन नहीं किया, उसका जीवन धिक्कार है।

☐ रेतस् (वीर्य)—जिस तत्व को मनुष्य काम-सेवन में व्यय कर देता है। जितेन्द्रिय (ब्रह्मचारी) बनने से वही तत्व प्राण, मन और शरीर की शक्तियों का पोषक हो सकता है।

☐ जिन लोगों ने थोड़े समय भी ब्रह्मचर्य का पालन किया होगा, उन्हें अपने मन और शरीर के बढ़े हुए बल का अनुभव जरूर हुआ होगा।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना परिपक्व हो जाने पर अपूर्व शारीरिक-मानसिक शक्ति (वीर्यलाभ) मिलती है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक अपनी आत्मा में आत्मा की समस्त शक्तियों को केन्द्रित कर लेता है।

☐ शरीर में वीर्य के संचय और जज्ब कर लेने से मनुष्य की दैवी शक्ति में अद्भुत वृद्धि होती है।

☐ अचिन्त्य और अद्भुत पराक्रम करने के लिए आवश्यक समग्र अनुपम मानसिक तथा शारीरिक शक्ति, प्रशंसनीय सद्गुण और दीर्घायुष्य केवल ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही प्राप्त किया जा सकता है।

☐ जो व्यक्ति ऊर्ध्वरेता बनता है, वह देव जैसा पराक्रमी होता है।

☐ ब्रह्मचारी को शारीरिक-मानसिक शक्ति के साथ-साथ शान्ति भी प्राप्त होती है, क्रान्ति भी। वह जीवन में कभी हारता नही, न ही पराधीन होता है।

☐ सम्पूर्ण कार्यों की सफलता का आधार भी मनोबल है। श्रेष्ठता, उन्नति और स्वतन्त्रता का बीजमन्त्र अगर कोई है, तो मनोबल है और श्रेष्ठ मनोबल ब्रह्मचर्य के पालन से ही प्राप्त होता है।

☐ ब्रह्मचर्य से शुद्ध विचार एव चिन्तन-मनन करने की क्षमता बढ़ती है। मानसिक शक्तियों के विकास से निर्भीकता, साहस, श्रद्धा, कार्यक्षमता, योग्यता आदि गुणों में वृद्धि होती है। साथ ही मानसिक शक्तियों के विकास से आत्मिक उत्थान भी होता है।

☐ ब्रह्मचारी मे सदैव मानसिक उल्लास बना रहता है। वह प्रत्येक कार्य को अत्यन्त उत्साह एव चाव से करता है। इसलिए वह प्रत्येक कार्य में अगुआ रहता है।

☐ ब्रह्मचर्य से मनुष्य के हृदय-बल का विकास होता है। वह सारे विश्व के साथ मैत्री, बन्धुता, वात्सल्य एवं आत्मौपम्य का विचार करता है।

☐ ब्रह्मचर्य के साधक का हृदय (अन्त करण) प्रशस्त (उदार), गम्भीर और स्थिर हो जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य पालन करने वाले के हृदय में परोपकार वृत्ति जागृत रहती है।

☐ ब्रह्मचर्य का सबसे बड़ा वरदान है— बौद्धिक शक्तियो का विकास। ब्रह्मचर्य-पालन करने वाले व्यक्ति के ज्ञानतन्तु शक्तिशाली बनते हैं। उसका मस्तिष्क विशाल एवं उर्वराशक्ति, निरीक्षण-परीक्षण शक्ति, निर्णयशक्ति एव चिन्तन-मनन शक्ति से परिपूर्ण हो जाता है।

☐ जिस जीवन में ब्रह्मचर्य का दीपक जगमगाता रहता है, वह किसी भी विचार को जिन्दगी भर भूलता नही।

☐ निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य के पालन से सभी विद्याएँ थोड़े ही समय में प्राप्त हो सकती है।

☐ ब्रह्मचर्य के प्रताप से स्मृति अखण्ड रह सकती है। चाहे तो व्यक्ति ब्रह्मचर्य के बल से श्रुतिधर और स्मृतिधर बन सकता है। आज ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण ही हमारे देश का इतना अध पतन हुआ है।

☐ ब्रह्मचर्य से मनुष्य के जीवन में वह रूपान्तर हो जाता है, जिसकी कल्पना भी स्वेच्छाचारियों को नहीं हो सकती।

☐ ब्रह्मचर्य से ही विद्याध्ययन हो सकता है। बुद्धि और स्मरणशक्ति तीव्र होती है—ब्रह्मचर्य से। ब्रह्मचर्य से मन, बुद्धि और चित्त एकाग्र होता है। 'ब्रह्मचर्येण वै विद्या।'

☐ ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति में आत्म निर्णय की क्षमता, आत्मविश्वास की प्रचुरता और निर्भयता होती है।

☐ पूर्ण ब्रह्मचर्य या मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले गृहस्थ से सारे परिवार को ब्रह्मचर्य पालन की प्रेरणा और सस्कार मिलते हैं।

☐ परिवार में ब्रह्मचर्य के वातावरण से स्वस्थता, सात्विकता एवं आत्मचिन्तन, धर्माचरण आदि का लाभ भी कम महत्वपूर्ण नही है।

☐ गृहपति श्रावक की स्वदारसन्तोषरूप ब्रह्मचर्य मर्यादा से सारे परिवार को बहुत से लाभ प्राप्त होते हैं।

☐ परिवार के अग्रगण्य माता-पिता के द्वारा कुछ वर्षो तक पालन किए हुए ब्रह्मचर्य का उनकी सन्तान पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

☐ जब अधिष्ठान ही दुर्बल है, तब उसका अधिष्ठाता कैसे बलवान होगा? दुर्बल और निःसत्व स्वेच्छाचारी माता-पिता की सन्तान में बल, सत्व या साहस कहाँ से आयेगा?

☐ जिस परिवार में अग्रगण्य ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, उनकी सन्तान अकाल में मरण शरण नहीं होती। वह दीर्घजीवी और बलिष्ठ होती है।

☐ जिस समाज में ब्रह्मचर्य पालन करने वाले अधिक होते हैं, वह समाज गौरवशाली, सुखी, स्वस्थ, धार्मिक, सदाचारी और सत्कार्य करने वाला होता है।

☐ स्वेच्छाचारी समाज एक तरह से पशुओं का या दानवों का समाज बन जाता है—अब्रह्मचर्य के वातावरण के कारण। वहाँ कोई किसी पर विश्वास नही कर पाता न हो निरंकुश काम-सेवन से कोई सुख-शान्ति पा सकता है।

☐ ब्रह्मचर्य की मर्यादा का पालन करने वाले समाज में स्त्री-पुरुषों में परस्पर विश्वास, सन्तोष एव सहिष्णुता बढ़ती है।

☐ जिस समाज में ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुषों का आदर किया जाता है,

वह समाज भी उच्चकोटि का तथा सभ्यता और संस्कृति में अग्रणी माना जाता है।

☐ जिस राष्ट्र में ब्रह्मचर्य-पालकों का बाहुल्य होता है, उस राष्ट्र की जनता, शरीर की ऊँचाई, डीलडौल और शक्ति में दूसरे राष्ट्रों से बढ़कर होती है। वह राष्ट्र अपराजेय होता है। वह राष्ट्र अनेक योद्धाओं और शक्तिशाली पुरुषों को जन्म देने का गौरव प्राप्त करता है।

☐ त्रिलोक के साम्राज्य का अथवा स्वर्ग के अधिकार का त्याग कर देना, तथा इससे भी बढकर उत्तम कोई वस्तु हो तो उसका भी परित्याग कर देना, परन्तु ब्रह्मचर्य-भग न करना चाहिये।

☐ ब्रह्मचर्य से शारीरिक मानसिक, बौद्धिक आदि लाभ तो आनुषगिक हैं, मुख्य लाभ तो आध्यात्मिक है।

☐ जहाँ काम-क्रोधादि विकारों का आक्रमण होने पर साधक डिग जाय उनके प्रवाह में वह जाय, वहाँ ब्रह्मचर्य भंग समझना चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्य के परिपक्व अभ्यास से आत्मा इतनी शुद्ध, पवित्र, निश्चल एवं ध्येय में स्थिर हो जाती है कि चाहे उसके समक्ष स्वर्ग की अप्सराएँ भी कामसेवन की प्रार्थना करें तो भी वह अपने ब्रह्मचर्य से एक इंच भी विचलित नही होता।

☐ ब्रह्मचर्य के पालन से मन में निर्विकारता आती है, निर्विकारता के कारण अनासक्ति पैदा होती है। अनासक्ति से चित्तशुद्धि होती है और उससे प्रेम व्यापक (विश्वव्यापी) होता है।

☐ ब्रह्मचर्य से अहिंसा, सत्य आदि धर्म की रक्षा भी होती है।

☐ परलोक में भी ब्रह्मचारी को शुभ कर्मो के पुण्य प्रभाव से सुगति मिलती है और सर्वथा कर्मक्षय होने से मोक्षप्राप्ति भी हो जाती है।

☐ जैन एवं वैदिक धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए स्वर्गगमन तो सहज माना ही है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए भी ब्रह्मचर्य को मूल कारण बताया है।

७ ब्रह्मचर्य की उपलब्धियाँ

☐ अनन्त-अनन्त जन्मों के बाद पुण्यराशि संचित होने के कारण मानव जन्म मिला है। सद्बुद्धि, ज्ञान और ब्रह्मचर्य से वह सार्थक हो सकता है।

☐ ब्रह्मचर्य चिन्तामणि रत्न है, उससे भी मनुष्य स्वर्ग के उत्तमोत्तम सुख अथवा मोक्ष का अनन्त, अक्षय एवं निराबाध स्वाधीन सुख प्राप्त कर लेता है।

☐ ब्रह्मचर्य के द्वारा लौकिक और लोकोत्तर सभी सिद्धियाँ, लब्धियाँ या ऋद्धियाँ भी उपलब्ध की जा सकती है।

☐ ब्रह्मचर्य से आध्यात्मिक जीवन की उच्चता अन्तिम मंजिल भी प्राप्त की जा सकती है।

☐ ब्रह्मचर्य धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध (मुक्त) बन गये, वर्तमान में बन रहे हैं और भविष्य में भी बनेंगे।

☐ ब्रह्मचर्य के शुद्ध पालन से स्वर्ग-देवलोक की ऋद्धि, समृद्धि तथा देवों की वैक्रिय लब्धि आदि प्राप्त होती है।

☐ कई लोगों को ब्रह्मचर्य की उत्कट साधना के कारण अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व (प्रभुत्व) और वशित्व (वशीकरण) इस आठ सिद्धियों की उपलब्धि हो जाती है।

☐ ब्रह्मचर्य के संरक्षण से मनुष्य को सर्वलोकों में सुखदायिनी सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

☐ ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य-साधना के फलस्वरूप अनेक लब्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं जैसे - आमर्शोषधि (किसी को सहलाने—हाथ फेरने मात्र से उसका रोग मिट जाना), सर्वौषधि लब्धि (किसी को स्पर्श करने मात्र से उसका रोग मिट जाना)।

☐ शाप या अनुग्रह की लब्धि भी ब्रह्मचर्य से प्राप्त हो सकती है।

☐ अखण्ड ब्रह्मचर्य के प्रताप से साधक को मंत्र-तत्र या विद्या आदि की सिद्धि भी शीघ्र हो ज़ाती है।

☐ मन-वचन-काया से शुद्ध रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने से पदानु-सारिणी लब्धि प्राप्त होती है।

☐ ब्रह्मचारी के मन में जो भी शुभ विचार, संकल्प या भाव स्वपरहित के उठते है, या किसी के लिए मन में शुभेच्छा अथवा आशीर्वाद स्फुरित होते है, वे अवश्य ही पूर्ण होते हैं।

☐ इस लोक में शील ही प्रधान है, शील में ही सभी गुण प्रतिष्ठित हैं। शील (ब्रह्मचर्य) से वह सब कुछ पाता है, जिसकी मन में वांछा करता है।

☐ ब्रह्मचर्यसम्पन्न व्यक्ति सभी कामनाओं को प्राप्त करता है।

☐ ब्रह्मचर्य का आराधक-साधक मनुष्यों का मार्गदर्शक एवं संसार का अन्त करने वाला बनता है।

☐ जो मनुष्य (भावना बल से) भोगाकांक्षा का अन्त करता है, वह मनुष्यों के लिए चक्षुरूप मार्गदर्शक बनता है।

☐ ब्रह्मचर्यनिष्ठ पुरुषों का जीवन अन्तिम सत्यों पर चलता है, एवं संसार का अन्त करने वाला होता है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना से ही मोक्ष की उपलब्धि संभव है।

☐ अब्रह्मचर्य से बाँधे हुए कर्मों के उदय से नाना रोग, दुःख, शोक आदि प्राप्त होते है, इनके मुख्य कारणभूत कर्मबन्धन को मिटाने का उपाय ब्रह्मचर्य ही है।

☐ कार्मणशरीर से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा पाने का सामर्थ्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है। इसलिए ब्रह्मचर्य की यह उपलब्धि सर्वोपरि एवं सर्वोत्तम है।

८ ब्रह्मचर्य : एक शब्द, अनेक अर्थ

☐ ब्रह्मचर्य शब्द में जो अर्थ-गाम्भीर्य, अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति तथा विचार सामर्थ्य एव गहन अर्थ-पराक्रम निहित है, वह संस्कृत-भाषाशास्त्र के किसी अन्य शब्द में नही है।

☐ ब्रह्म के वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराओं में दो अर्थ विशेष प्रचलित है आत्मा और परमात्मा।

☐ ब्रह्म का तीसरा अर्थ जो वैदिक परम्परा में विशेष प्रचलित है, वह है—अध्ययन (विद्याध्ययन) या वेद का अध्ययन।

☐ ब्रह्म का चौथा व्युत्पत्त्यर्थ होता है—बृहद, विराट् या महान। चर्य का अर्थ होता है—विचरण करना, रमण करना, चलना या गति करना, चर्या करना, अध्ययन करना या अनुष्ठान करना।

☐ ब्रह्मचर्य का पूर्ण अर्थ हुआ—आत्मा में रमण करना, अथवा परमात्मा (परमात्म भाव) में विचरण करना, अथवा विद्याध्ययन या वेदाध्ययन में विचरण करना।

☐ वेदाध्ययन का आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है। अथवा बृहत् या महान् में विचरण करना, विराट में रमण करना भी ब्रह्मचर्य है।

☐ शुद्ध आत्मा में, आत्मभावों या स्वभाव या निजगुणों में रमण करना ब्रह्मचर्य है।

☐ ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसमें लीन (तन्मय) होना ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के सम्बन्ध में निर्ममत्व हो चुका है, उसी के ब्रह्मचर्य होता है।

☐ जीव ब्रह्म है, जीव में ही जो पर-देह-सेवन-रहित चर्या होती है, उसे ब्रह्मचर्य समझो।

☐ आत्मा को विकारी भावों से हटाकर शुद्ध परिणति में केन्द्रित करना यह निश्चय दृष्टि से ब्रह्मचर्य का स्वरूप है।

☐ जिस आचरण से आत्मचिन्तन हो, आत्मा अपने आप को पहचान सके और अपने स्वभाव में रमण कर सके, उस आचरण का नाम ब्रह्मचर्य है।

☐ इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वचन और तन का कार्य आत्मा की सेवा में रहना है, क्योंकि ये सब स्वाभाविक रूप से आत्मा के सहायक एवं सेवक हैं।

☐ आत्मा अपना स्वरूप तभी जान सकता है, तभी स्व-स्वभाव में स्थिर रह सकता है; जब बुद्धि, मन, इन्द्रियों आदि के बहकावे में न आए।

☐ इन्द्रियाँ मन के, मन बुद्धि के और बुद्धि आत्मा के अधीन हो, आत्मा की आज्ञानुवर्ती हो एवं आत्मा की सहायिका हो, तभी आत्मा ब्रह्म में विचरण कर सकती है।

☐ ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है कि इन्द्रियाँ दुर्विषयों की ओर न दौड़ें, मन इन्द्रियों के साथ होकर विषय-कषायों का चिन्तन न करे या राग-द्वेषपूर्वक विचार न करे।

☐ मन का कार्य आत्मा को अपने स्वरूप में रमण करने देना है, और इन्द्रियों को भी उन्हीं कार्यों में लगाना है जिनसे आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन और वीर्यरूप निजगुण में स्थिर रह सके।

☐ आत्मा के द्वारा इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त करके दुर्विषयों कषायों, राग-द्वेष आदि वैभाविक या परभावीय भावों से दूर रहकर स्वभाव (आत्मा के निजगुणों या निज स्वरूप) में रमण करना, विचरण करना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

☐ जिनसे आत्मा का पतन होता है, आत्मा स्वभाव को छोड़कर विषय-वासनादि विभाव में जाती है, उन सबको छोड़ना आवश्यक है ।

☐ ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है, स्वधर्म है, स्वगुण है, निजरूप है ।

☐ ब्रह्मचर्य स्वभाव है, आत्मा की स्वपरिणति है, जबकि अहंचर्य (देहभाव में रमण) देहाध्यास, विभाव है, पर-परिणति है ।

☐ ब्रह्मचर्य में बाहर से अन्दर की ओर आना होता है, जबकि अहंचर्य में आत्मा विकृत एवं व्यभिचारी होकर अन्दर से बाहर की ओर जाता है ।

☐ अहंचर्य में मन और इन्द्रियों की दासता रहती है, जबकि ब्रह्मचर्य में मन और इन्द्रियों की वृत्ति पर आत्मा की प्रभुता रहती है ।

☐ ब्रह्मचर्य सही माने में तभी सिद्ध होता है, जब बहिर्जगत् शून्य हो जाये और अन्तर्जगत् में ही एकमात्र तन्मयता हो ।

☐ ब्रह्मचर्य का मतलब है—ब्रह्म की खोज में अपना जीवनक्रम रखना । सच्चिदानन्द रूप शुद्ध निज आत्मा में रमण करना । ब्रह्म की सत्य की खोज मे चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार ।

☐ अहिसा आदि स्वभाव है वे ही सत्य है, उनकी गवेषणा करते हुए चर्या (प्रवृत्ति) करना ब्रह्मचर्य है ।

☐ ब्रह्मचर्य का दूसरा व्यापक अर्थ है—ब्रह्म, अर्थात् परमात्मा में, अथवा परमात्मभाव में या परमात्मा की सेवा में रमण या विचरण करना ।

☐ आत्मा की पवित्रता एवं शुद्धता के लिए मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ एव शरीर (अंगोपांगों सहित) को शुद्ध रखना आवश्यक है ।

☐ परमात्मभाव का तात्पर्य है—राग-द्वेष, मोहरहित शुद्ध आत्मभाव ।

☐ बलवान आत्मा ही परमात्मा के स्वरूप को जान सकता है ।

☐ ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है—ब्रह्म को खोज करना । ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है । अतः ध्यान, धारणा और आत्मानुभव से उसे अपने अन्तःकरण में खोजना चाहिए ।

☐ ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करने वाले स्त्री या पुरुष परमेश्वर के निकट होते है ।

□ ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ है—ब्रह्म-प्राप्ति या परमात्म-दर्शन या आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए अनुकूल चर्या यानी अनुष्ठान करने योग्य साधना ।

□ समस्त पदार्थों का जो अक्षय, कूटस्थ, शाश्वत एवं दिव्य मूल कारण है, वह 'ब्रह्म' है, अथवा ज्ञान-रूप वेद ब्रह्म है। ऐसे 'ब्रह्म' की प्राप्ति के उद्देश्य से व्रत ग्रहण करना ब्रह्मचर्य है।

□ ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ है महानता में विचरण करना, महान् होना।

□ इन्द्रिय-विषयों की लालसा से विचार ही मनुष्य को क्षुद्रता या हीनता की ओर खींच ले जाते हैं।

□ क्षुद्र या हीन सीमा को लाँघकर पवित्र एवं महान जीवन की विराट्ता की ओर, या विशाल ध्येय की ओर बढ़ना, गति करना या उसमें रमण करना ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य है।

□ जहाँ महान् या बृहत् ध्येय (मोक्षप्राप्ति, परमात्म-रमण या शुद्धात्मभाव-रमण) के रूप में ब्रह्मचर्य को अपनाया जाता है, वहाँ भी काम-क्रोधादि क्षुद्र विकारों या हीन दुर्विषयों का दमन-शमन करना एवं उनसे सावधान रहना आवश्यक होता है।

□ योगाभ्यास और परमात्म-भक्ति द्वारा जो अपने मन से मलिन संस्कारों का नाश कर डालता है और बाकी का समय आत्मचिन्तन एवं परोपकार में लगा देता है, उसे अक्षय आत्मानन्द से इतनी तृप्ति हो जाती है कि (क्षुद्र विषयानन्द की ओर) कामादि विकारों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता।

□ ब्रह्मचर्य शब्द का मतलब है—सबसे विशाल ध्येय—परमेश्वर का साक्षात्कार करना।

□ जैनधर्म की धारा में ग्रहणशिक्षा (शास्त्राध्ययन एवं ज्ञानवृद्धि) तथा आसेवनाशिक्षा (व्रत-परिपालन, कषायजय, विनयधर्माचरण एवं स्वच्छन्दाचार से निवृत्ति) के लिए गुरुकुलवास (आचार्य, उपाध्याय, या गीतार्थ गुरु की सेवा में रहने) को ब्रह्मचर्य कहा गया है।

□ ब्रह्म अर्थात् गुरु में चर्या अर्थात् तदनुकूल विचरण करना अथवा गुरु-चरणों में रहना—ब्रह्मचर्य का अर्थ है।

☐ जिसके पालन करने पर अहिंसादि गुण बढ़ते हैं, वह 'ब्रह्म' कहलाता है। ब्रह्म में विचरण करना ब्रह्मचर्य है।

९ इन्द्रिय-संयम : ब्रह्मचर्य का प्रथम प्रवेश द्वार

☐ ब्रह्मचर्य का जितना व्यापक एवं गम्भीर अर्थ जैनधर्म ने किया है शायद ही उतना व्यापक अर्थ किसी अन्य धर्म ने किया हो।

☐ केवल जननेन्द्रिय संयम से ब्रह्मचर्य का यथार्थ रूप से पालन नहीं होता। यह ब्रह्मचर्य का एकांगी लक्षण है।

☐ कई लोग जननेन्द्रिय को तो नियन्त्रण में रख लेते है, परन्तु स्पर्श, रूप, शब्द, गन्ध और रस इन विषयों का खुलकर उपभोग करते हैं, इनमें से मनोज्ञ विषयो पर उनकी आसक्ति भी गाढ़ हो जाती है।

☐ विषयमात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है जो और इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर केवल एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है, इसमें शक ही क्या ?

☐ जो जननेन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करे, उसे पहले ही प्रत्येक इन्द्रिय को उसके विकारों से रोकने का निश्चय कर ही लेना चाहिए।

☐ सब इन्द्रियों के संयमन की ओर ध्यान न देकर केवल जननेन्द्रिय का निरोध करने का प्रयत्न विफल होगा।

☐ सब इन्द्रियों को समग्र रूप में वश में करने का अभ्यास किया जाए तो जननेन्द्रिय को वश में करने का प्रयत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है।

☐ समस्त इन्द्रियों पर अंकुश रखना, उन्हें विषय-भोगों में आसक्ति-पूर्वक प्रवृत्त न होने देना पूर्ण ब्रह्मचर्य है।

☐ इन्द्रियों को अनियन्त्रित रखकर छूट दे देने से वे आत्मा की निर्विकारता को नष्ट कर देगी। आत्मा का स्वभाव विकार नही, निर्विकारता है।

☐ स्वच्छन्दतारूपी अग्नि में ब्रह्मचर्य की आहुति दे डाले तो वह नष्ट हुए विना नही रहेगा।

☐ इस शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियाँ दुर्जय शत्रु हैं। इन्हें जीत लेने पर अवश्य समग्र लोक तुमने जीत लिया।

□ यदि एक भी इन्द्रिय ढीली छोड़ दी जाएगी तो ब्रह्मचर्य मिथ्या सिद्ध होगा।

□ ब्रह्मचर्यरूपी घट में एक भी छिद्र होगा तो उसमें संयम-जल टिकेगा नहीं।

□ सब इन्द्रियों को एक साथ नियन्त्रित करने और जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

□ सभी इन्द्रियों का आकर्षण प्रबल और सूक्ष्म है।

□ सभी इन्द्रियां समान रूप से कठिन भी हैं सूक्ष्म भी। हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! सर्वप्रथम तू इन्द्रियों पर संयम करके इस ज्ञान-विज्ञान के नाशक पापी काम को नष्ट कर।

□ समस्त वासनाओं में कामवासना विशेष प्रबल है।

□ इन्द्रियसंयम का अर्थ है—ये इन्द्रियाँ जब भी विषयों की ओर दौड़ें, तब उन्हें सावधानी से सँभाला जाय और उनकी शक्ति को बर्बाद होने से रोका जाए, ताकि आत्मा की विकास यात्रा पूर्ण हो।

□ इन्द्रियाँ आत्मा की सुविधाजनक विकास यात्रा के लिए सहायक उपकरण हैं। इनके सहयोग से आत्मा अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करता है, सुख-शान्ति पाता है।

□ इन्द्रियाँ ऊर्ध्वगामी होती है, तो जीव को उत्कर्ष और आनन्द प्राप्त कराती हैं।

□ यदि इन्द्रियाँ अधोगामी एवं अनियन्त्रित होकर दुर्विषयो में भटकती है तो मनुष्य के लिए पतन एवं विनाश का कारण बन जाती हैं।

□ जिस प्रकार उच्छृंखल भागते हुए घोड़ों को कुशल सारथी अपने नियन्त्रण में कर लेता है, उसी प्रकार विद्वान साधक विषयरूपी महाशत्रु में विचरण करती हुई इन्द्रियों रूपी अश्वों को यत्नपूर्वक संयम (नियन्त्रण) में करें।

□ इस शरीर को एक रथ समझो। इस पर आरूढ़ होने वाला रथी आत्मा को समझो। जीवात्मा को यह वाहन मोक्ष प्राप्त करने के लिए मिला है। इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं। मन इन घोड़ों को नियन्त्रण में रखने वाली लगाम है।

□ कोई भी इन्द्रिय हो, उसके उपयोग की एक सीमा निर्धारित है। यदि उसका अतिक्रमण किया जाएगा तो रोग, शोक एवं दुःख घेर लेंगे।

☐ प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ (विषय) के साथ राग-द्वेष लगे हुए हैं, उन दोनों के वशीभूत न हो क्योंकि राग और द्वेष ये दो ही जितेन्द्रियता के शत्रु है।

☐ इन्द्रियों की प्रबलता आत्म-कल्याण के मार्ग में प्रमुख शत्रु मानी गई है।

☐ जो इन्द्रियाँ आत्मविकास में रुकावट डालने वाली मानी जाती है, वे ही इन्द्रियाँ आत्म-कल्याण की कारण हो सकती है, बशर्ते कि उनका सदुपयोग हो।

☐ विश्व व्यापी आध्यात्मिक विज्ञान को समझने के लिए इन्द्रियों के विषय-विकार से दूर रहना आवश्यक है।

☐ सर्वेन्द्रियसंयम के विचार को एक संकल्प का रूप देना चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं देखता। वह इन्द्रियों की लोलुपता का शीघ्र दमन करता है।

☐ इन्द्रियों पर संयम करना ही ब्रह्मचर्य का प्राण है।

☐ ब्रह्मचर्य पाँचों इन्द्रियों की विषयासक्ति का त्याग करने ही चरितार्थ हो सकता है।

☐ जिस प्रकार हेमन्त ऋतु की भयंकर सर्दी अग्नि के बिना नही मिटती, वैसे ही मनुष्य के मन में उत्पन्न कामभाव इन्द्रियनिग्रह के बिना नष्ट नही होता।

☐ जो मनुष्य अपनी जीभ को वश में रख सकता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सुलभ हो जाता है।

☐ जब तक व्यक्ति अन्य इन्द्रियों को नही जीत लेता, तब तक जितेन्द्रिय नहीं कहलाता। परन्तु जब तक रस को नही जीत लेता तब तक व्यक्ति जितेन्द्रिय नही हो सकता, क्योंकि रस को जीत लेने पर सबको जीत लिया समझो।

☐ वर्तमान युग में अच्छे-अच्छे घरों में खान-पान का विवेक समाप्त हो गया है। उनकी जीभ पर कोई संयम नहीं है।

☐ सर्वेन्द्रियसंयम में स्वादेन्द्रियसयम का स्थान प्रमुख है, क्योंकि स्वादेन्द्रिय को छूट देने पर अन्य इन्द्रियाँ भी बलवान् हो जायेंगी।

☐ स्वाद को जीतना सहज नही है; किन्तु वासना का संयम जिह्वा के संयम के साथ बँधा है।

☐ जहाँ कृत्रिम स्वाद की माँग है, वहाँ न सच्ची भूख है, न तटस्थता है और न ही इन्द्रिय-संयम है।

☐ कोऽरुक्. कोऽरुक् ? कौन नीरोग है, कौन नीरोग है ? हितभुक्, मितभुक्,! वही जो पथ्यकारक भोजन करता है, परिमिति भोजन करता है।

☐ जिह्वा की आवाज का उचित आदर-सम्मान करने पर ही स्वास्थ्य-रक्षा एवं संयम रक्षा, दोनों हो सकती हैं।

☐ जिह्वेन्द्रियसंयम का एक और पहलू है —वाणी पर नियंत्रण।

☐ 'वचनपातो, वीर्यपातात, गरीयान'—बोलने में, लगातार बात करने आदि वाणीप्रधान प्रक्रियाओं में सबसे अधिक वीर्यशक्ति और प्राणशक्ति का व्यय होता है।

☐ अधिक वाचालता तथा आवेगपूर्ण वार्तालाप जिह्वा का असंयम है, स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना के लिए नेत्रेन्द्रिय-संयम अत्यन्त आवश्यक है।

☐ रूपप्रेक्षण की लालसा और आसक्ति को जीतना ही नेत्रेन्द्रिय संयम है।

☐ ब्रह्मचारी साधक के समक्ष चाहे नवयौवना सुन्दरी आ जाये, वह उसे अपनी माता या बहन के समान माने अथवा काष्ठ की पुतली समझे, तभी साधक का ब्रह्मचर्य सुरक्षित रह सकता है।

☐ नेत्र-संयम ब्रह्मचर्य के लिए प्रथम सोपान है।

☐ संयम-पालन और जीव-दया के लिए आँखों का उपयोग करने का का निषेध नहीं है। निषेध है—आसक्ति या घृणा, मोह या नफरत अथवा विकारी भावना से ताक-ताककर किसी रूप या दृश्य को देखने का।

☐ ब्रह्मचारी साधक के लिए आवश्यक है कि दीवार पर नारी का चित्र खींचा हुआ या टंगा हो, या कोई वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नारी हो, उसकी ओर ताककर न देखे।

☐ स्त्रियों का रूप विकार उत्पन्न करने का नियामक कारण नहीं है, चित्त में रही हुई कामादि विकारों की दुष्ट वासनाएँ ही कारण हैं, जो ब्रह्मचारी साधक को पतित करती हैं।

☐ मन की आंखों पर पर्दा डालना चाहिए, ताकि मानस-चक्षुओं से किसी भी स्त्री को विकारी भाव से न देखें।

☐ ब्रह्मचारी के लिए वाह्य सौन्दर्य के बदले आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन को ही उचित कहा गया है।

☐ आत्मा एव परमात्मा का अनन्त सौन्दर्य इतना अद्भुत एवं आल्हादमय है कि एक बार भी उसका अनुभव, साक्षात्कार या दिव्यदर्शन हो जाये तो आँखें सदैव उसे पाने के लिए तरसती रहेंगी।

☐ नाटक, संगीत और वासनामय खेल-तमाशे मनुष्य के मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। अतः मनुष्य को वासना भडकाने वाले नाटक नहीं देखने चाहिए।

☐ सिनेमा-नाटकों को देखने से आज किसी को भी जीवन में शिक्षा मिलती हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

☐ नेत्रेन्द्रिय ब्रह्मचर्य के लिए ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुष अपने से विजातीय के रूप को हो नही, अपितु समस्त कामवासनावर्द्धक एवं विकारोत्पादक दृश्यों को न देखें।

☐ श्रवणेन्द्रियसंयम श्रवणेन्द्रिय ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है।

☐ प्रिय शब्दों को सुनकर राग या मोह करना तथा अप्रिय शब्दों को सुनकर द्वेष या घृणा करना ब्रह्मचारी के लिए उचित नहीं है।

☐ कामोत्तेजक अश्लील एव भद्दे शब्दों को सुनने से सोई हुई कामवासना जागृत होती है।

☐ कानों में कैसे ही शब्द पड़ें, ब्रह्मचर्य साधक उनके साथ मन को न जोड़े।

☐ अन्तर्मन में पड़े हुए सुषुप्त सस्कार कब उद्बुद्ध होकर ब्रह्मचारी को भी बलात कामोत्तेजना की ओर बहा ले जायेगे, कहा नही जा सकता।

☐ सुगन्ध मन को प्रिय लगती है, इसमें आसक्त होकर व्यक्ति कामवासना के वशीभूत हो जाता है। ब्रह्मचारी के लिए तेल, फुलेल, इत्र, पुष्पमाला, चन्दन आदि द्रव्यों के उपयोग का या सुगन्ध लेने का निषेध किया गया है।

☐ नासिका से स्पृष्ट सुगन्ध एवं जनन-शक्ति में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

☐ सुगन्ध का जननेन्द्रिय एवं कामवासना के उत्तेजन में बहुत बड़ा हाथ है।

☐ ब्रह्मचारी को घ्राणेन्द्रिय पर सयम रखना आवश्यक है और घ्राण-संयम के लिए सुगन्धित पदार्थों के प्रति अनासक्ति रखना जरूरी है। सुगन्धित पदार्थों का राग या मोह (आसक्ति) पूर्वक सेवन ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाला है।

☐ हाथों से कोमल, गुदगुदाने वाली वस्तुओं का या स्त्री आदि क अंगोपांगों का अत्यन्त नाजुक कामनामय स्पर्श करना ब्रह्मचर्य-भंग का कारण है।

☐ स्पर्शेन्द्रिय अनुकूल स्पर्श होने पर राग व मोह या आसक्ति और प्रतिकूल स्पर्श होने पर द्वेष या घृणा करती है, यह ब्रह्मचर्य-भंग का कारण है।

☐ स्पर्श से मानसिक विकार उत्पन्न होने का कारण यह है कि त्वचा के ज्ञानतन्तुओं की तथा शरीर के प्रजनन-अवयवों के तन्तुओं की रचना एक ही पदार्थ से हुई है।

☐ समस्त विषयों में सबसे अधिक निषेध स्पर्श का है। स्पर्श की तो भावना या कामना भी ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध है।

☐ कुछ विचारकों ने ब्रह्मचर्य का लक्षण किया है—"स्त्री-पुरुष के संयोग, सहवास, या स्पर्श का परित्याग।"

☐ ब्रह्मचारी के लिए स्त्री के प्रत्यक्ष स्पर्श का विशेष रूप से निषेध है। वह इसलिए कि स्त्री-स्पर्श स्पर्शेन्द्रिय को उत्तेजित करता है, कामवासना भड़काता है और इससे ब्रह्मचर्य भंग होता है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक का सच्चे माने में ब्रह्मचर्य तभी कहा जा सकता है, जब आँख, कान, नाक और मन से भी स्वैच्छिक रूप से भी कामविकार पैदा न हो।

☐ ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ यह है कि पुरुष और स्त्री एक-दूसरे से (किसी भी इन्द्रिय या मन द्वारा) विषय भोग न करें और न एक-दूसरे को विकार की दृष्टि से देखें।

☐ हम मुर्दा शरीर को छूकर जिस प्रकार निर्विकार दशा का अनुभव

करते हैं, उसी प्रकार किसी सुन्दर युवती को (विशेष परिस्थिति में) छूकर निर्विकार दशा में रह सकें, तभी हम ब्रह्मचारी हैं।

☐ कामविकार को उत्पन्न एवं उत्तेजित करने के साधनभूत इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति या राग-द्वेष का त्याग करना, इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना और इन्हें सुमार्ग में लगाना ब्रह्मचर्य का व्यापक लक्षण है।

१०. ब्रह्मचर्य साधना का मंत्र : मनोनिग्रह

☐ इन्द्रिय-संयम द्वारा ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है किन्तु इन्द्रिय-संयम साधने के लिए मन को साधने की आवश्यकता है। मनःसंयम सधने पर इन्द्रियाँ स्वतः संयम एवं ब्रह्मचर्य में लीन हो जाती है।

☐ मन ही इन्द्रियों का गुरु या कमांडर है।

☐ कई बार इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्पर्क न होने पर भी ब्रह्मचर्य के सामान्य साधक का अपरिपक्व मन दुर्विषयों के बारे मे सकल्प-विकल्प करता रहता है।

☐ अगर ब्रह्मचारी साधक बाह्य रूप से सभी इन्द्रियों को बन्द करके बैठ जाए, किन्तु मन से विषयों का स्मरण करता रहे, तो भगवद्गीता में उसे मिथ्याचारी (दम्भी) कहा गया है।

☐ मन पर नियन्त्रण लम्बे अर्से तक प्रयत्न करते रहने पर ही सम्भव है। इन्द्रियों पर सयम करना भी आसान नहीं है।

☐ मनोनिरोध प्रयत्न-सूचक सर्वेन्द्रियसंयम ही ब्रह्मचर्य का यथार्थ लक्षण घटित होता है।

☐ मानव मन अत्यन्त प्रबल एवं वेगवान है। संकल्प-विकल्प करना मन का स्वभाव है।

☐ मन का निग्रह करना कठिन होते हुए भी असाध्य नही है।

☐ मनुष्य-जीवन की जय और पराजय मन की जय-पराजय पर आधारित है।

☐ अभ्यास और वैराग्य से मन का निग्रह हो सकता है।

☐ मानव आत्मा में मन की शक्ति से अधिक शक्ति विद्यमान है।

☐ अभ्यास मनुष्य को प्रवीण-परिपूर्ण बना देता है।

☐ विविध मनोविकारों के साथ बार-बार युद्ध में सफलता न मिले तो भी साधक को हतोत्साह नहीं होना चाहिए।

☐ देखे, सुने (प्रत्यक्ष परोक्ष) एव जाने हुए इन्द्रिय-विषयों के प्रति वितृष्णा (लालसारहित) हो जाना, उनसे अरुचि हो जाना, उन्हें अपनाने का विचार न होना विरक्ति या वैराग्य है।

☐ मै परमात्मस्वरूप हूँ, शुद्ध आत्मा हूँ, देह और इन्द्रियों से भिन्न हूँ। इस प्रकार का विवेक और वैराग्य का बल विकारों को परास्त करने में सहायक होगा।

☐ साधक विकारों के पैदा होने से घबराए नहीं, उनसे लड़ने और उन्हें हटाने-मिटाने का अपना प्रयत्न छोड़े नहीं।

☐ विषय-सेवन के प्रति घृणा (विरक्ति) हो जाने पर भी पूर्वसंस्कारवश कभी विकार पूरे बल के साथ मन पर आक्रमण करे तो साधक को उसके साथ असहकार का प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिए।

☐ मलिन संस्कार मन में कितना ही जोर क्यों न मारे, उससे हारना नहीं, सतत् भिड़ते रहना चाहिए। अन्त में विजय मिलेगी ही। मन पर जोर अजमाने की अपेक्षा विवेक, वैराग्य और अभ्यास की कुंजी द्वारा खोलने से मनोविजय का ताला आसानी से खुल जाता है।

☐ मन आन्तरिक विचारों के क्षेत्र में डूबा रहेगा, तो इन्द्रिय-विषयों का विचार नहीं आएगा। आन्तरिक पवित्रता रखने से इन्द्रिय-विषयों पर स्वतः नियन्त्रण रहेगा।

☐ पवित्र मन इन्द्रियों को दुर्विषयों की ओर जाने ही नहीं देगा। वह इन्द्रियों को शुभकार्यों में लगाएगा।

☐ मनोविजय का लक्ष्य बनाये बिना जो इन्द्रियविजय या ब्रह्मचर्य-योग की साधना करने जाता है, वह उस पंगु की तरह हास्यास्पद बन जाता है जो पर्वतशिखर पर चढ़ना चाहता है।

☐ जो मनोविजयमूलक सर्वेन्द्रियसंयम नही कर सकता, वह ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना का मंत्र है—समस्त इन्द्रियों और मन को विषय-विकारों से विरक्त रखना।

११. वीर्य-रक्षा और ब्रह्मचर्य

☐ मनोनिग्रह का अभ्यास सधने पर इन्द्रिय-सयम सध जाता है और तब ब्रह्मचर्य की आराधना समग्र रूप में सफल होती है।

☐ ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी चिन्तक जहाँ इन्द्रियसंयम को महत्व देते हैं, वहाँ शरीरशास्त्री ब्रह्मचर्य का सम्वन्ध वीर्यरक्षा से जोड़ते हैं।

☐ पूर्णरूप से वीर्य-रक्षा का फलितार्थ यही निकलेगा कि सभी इन्द्रियों और मन को विकार भाव से दुर्विषयों की ओर प्रवृत्त न होने देना।

☐ खाये-पीये हुए पदार्थों से सर्वप्रथम जो तत्व बनता है, उसे 'रस' कहा जाता है। रस से रक्त से रक्त, मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य बनता है।

☐ ओजस् के नाश से मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है, क्योंकि ओजस् के रहते ही जीवन रहता है।

☐ देह के आश्रित विविध भाव ओजस् से ही निष्पन्न होते हैं, जैसे कि उत्साह, प्रतिभा, धैर्य, लावण्य, सुकुमारता आदि।

☐ शरीर में से वीर्य शक्ति निकल जाती है, तब वह शरीर भी निःसत्व, खोखला, निस्तेज एवं सारहीन हो जाता है।

☐ शरीर को यथार्थरूप से कार्य करने की जो शक्ति देता है, वह वीर्य है।

☐ वीर्य एव प्राण का अति निकट सम्बन्ध है। इस प्राणदायक तत्व को नष्ट करने से प्रत्येक इन्द्रिय शिथिल और निर्बल हो जाती है।

☐ वीर्यनाश ने पुरुष का वदन तेजोहीन हो जाता है। उसका बुद्धिबल लुप्त हो जाता है, उसकी स्मरण शक्ति का ह्रास हो जाता है, उसमें कायरता अपना अड्डा जमा लेती है।

☐ अन्तःस्राव की ही चमक सन्तों, महात्माओं के चेहरों पर देखी जा सकती है।

☐ अन्तःस्राव ही पुरुषों के शरीर में पुरुषत्व और स्त्रियों के शरीर में स्त्रीत्व को बनाये रखता है।

☐ यदि बहिस्राव न हो तो वही तत्व अन्तःस्राव के रूप में शरीर को तेजस्वी तथा ओजस्वी बना देगा।

☐ बहिःस्राव के लिए आयुर्वेद में बीज, शुक्र या रेतस् शब्द है। बहिः-स्राव होने पर मनुष्य तेजोहीन हो जाता है।

☐ बहिःस्राव से शारीरिक-मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है।

☐ इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि शुक्र कीटाणु के शरीर में खप जाने से समग्र शरीर में संजीवनी शक्ति का संचार हो जाता है।

☐ यदि अन्तःस्राव (ओज) तथा बहिःस्राव (शुक्र) को शरीर में धारण कर लिया जाय तो किशोरावस्था, यौवन और पुरुषत्व इन तीनों अवस्थाओं का क्रमिक विकास सुचारु रूप से होता है।

☐ वीर्य का नाश मस्तिष्क का नाश है क्योंकि वीर्य और मस्तिष्क दोनों एक ही पदार्थ हैं।

☐ मस्तिष्क और वीर्य का पारस्परिक सम्बन्ध चिरकाल से माना जाता रहा है।

☐ जीवन-रक्षा के लिए वीर्यरक्षा करना आवश्यक ही नहीं, परम आवश्यक है।

☐ वीर्य जैसे अत्यन्त कीमती दुर्लभ पदार्थ को तथा अत्यन्त सारभूत वस्तु को क्षणिक विषयानन्द के आवेश में नष्ट कर देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है?

☐ वीर्य स्थिर होने से शरीर सुदृढ़ और स्वस्थ हो जाता है, मस्तिष्क स्वच्छ हो जाता है. और विचार शक्ति मजबूत होती है।

☐ वीर्य के परमाणुओं में एक खास विलक्षणता देखी जाती है कि वे सदैव गतिशील होते हैं।

☐ शरीर में वीर्य की दो प्रकार की स्थितियाँ रहती हैं—सचय और विचय।

☐ संचय का अर्थ है वार्य-शक्ति की अभिवृद्धि होते रहना और विचय का अर्थ हैं वीर्य का ह्रास।

□ शरीर की सजीवनी शक्ति के वीज (वीर्य) का शरीर से बाहर जाना जीवन की अवनति है।

□ वीर्य का शरीर में ही संचय (शोषण) होने से आन्तरिक शक्ति बढ़ती है तथा इस अद्भुत शक्ति से शरीर का उत्तमोत्तम विकास होता है।

□ वीर्य का सचय करने वाले का शरीर कभी क्षीण नहीं होता, वह पूर्ण नीरोग रहता है, उसका चेहरा ब्रह्मचर्य के तेज से चमकता रहता है, वह सदैव युवक जैसा दिखाई देता है।

□ संचित वीर्य के परिणामस्वरूप मनुष्य पुरुषत्वसम्पन्न, दृढ़काय, तेजस्वी, उद्यमी, वीर्यवान और प्रतापी बनता है।

□ सहशिक्षा तो वालक के जीवन में कुठाराघात है।

□ अगर २५ वर्ष की आयु तक आहार-विहार को दूषित न होने दिया गया, वीर्य को शरीर में भली-भाँति पचा लिया गया और ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ तो इस आयु में शक्ति की मस्ती, विचारों की प्रफुल्लता, मानसिक उन्मुक्तता, साहस, स्वस्थता, निर्भयता, वाक्‌विनोद आदि उसके जीवन में आ जाते है, जो जीवनभर रहते है।

□ मानव को दीर्घदृष्टि से सोचकर महान् मूल्यवान वीर्यरूपी प्राण-शक्ति तत्व को आत्मशक्ति द्वारा शरीर में पचाकर समस्त मानसिक शारीरिक शक्ति तथा दीर्घायु प्रदायिनी जीवन शक्ति में रूपान्तर करके आत्म-कल्याण कर लेना चाहिए।

□ वीर्यक्षय का प्रारंभ ही जीवन-क्षय का प्रारम्भ है।

□ वीर्यनाश होने से ज्ञान तन्तुओं में जो तनाव होता है, और उससे शरीर को जो हानि पहुँचती है, वह इतनी भयंकर होती है कि उसके (सहचार के) पश्चात् अनुभव होने वाले दुष्परिणामों का होना सर्वथा स्वाभाविक है।

□ वीर्य शरीर में स्थित अत्यन्त मूल्यवान, उपयोगी एव शक्ति प्रदायक तत्व होने से उसकी सदैव रक्षा करनी चाहिए।

□ वीर्य को बर्बाद करना कीमती इत्र को गटर में डालने के समान भयंकर कृत्य है।

☐ अगर वीर्य न हो तो मनुष्य का चलना-फिरना, गमनागमन, यहाँ तक कि चिन्तन-मनन एवं जीभ से बोलना आदि सब क्रियाएँ वन्द हो जाती हैं। इस परम उपकारी, जीवनत्राता वीर्य की रक्षा का कार्य अतीव महत्व-पूर्ण एवं अनिवार्य है।

☐ वीर्यनाश धर्म और धन का नाश करने वाला तथा असंख्य जीवों की हिंसा करने वाला महापातक है, जिससे बड़े-बड़े महान् आत्मा भी पतित होकर अधमाधम अवस्था में गिर गये हैं।

☐ अग्नि में हाथ डालने से ठंडे स्पर्श का अनुभव होना असम्भव है, उसी तरह वीर्यपात होने से शरीर को हानि न पहुँचना अशक्य है।

☐ वीर्य-रक्षा सदैव लाभदायक है, उससे आरोग्य और सुख की वृद्धि होती है, वह हानि या व्याधि का कारण नहीं होती।

☐ वीर्य का ऊर्ध्वीकरण करना ही ब्रह्मचर्य है।

☐ ब्रह्मचर्य का उद्देश्य भी यही है कि जिस वीर्य में नये प्राणी को उत्पन्न करने की प्रत्यक्ष शक्ति है, उसे अपने देह में खपाकर अपने तन-मन में अभूतपूर्व प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न करना। अर्थात् – वीर्य की भौतिक शक्ति को साधना के द्वारा आध्यात्मिक शक्ति में रूपान्तरण करना।

☐ ब्रह्मचर्य का योगविद्यासम्मत लक्षण है—वीर्य का उर्ध्वीकरण करना। यही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

१२. ब्रह्मचर्य और शील

☐ सामान्यतया जैन और बौद्ध ग्रंथों में ब्रह्मचर्य का लक्षण शील किया है।

☐ शील शब्द का सर्वमान्य प्रचलित अर्थ है—सदाचार या सच्चरि-त्रता। सदाचार के गर्भ में अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वृत्ति का समावेश हो जाता है। बौद्धधर्म में ये पाँचों व्रत पंचशील के नाम से प्रसिद्ध है।

☐ राष्ट्रीय सदाचार संहिता के अन्तर्गत भी अनाक्रमण (अखण्डता), अहस्तक्षेप, सार्वभौमत्व, सहअस्तित्व एव प्रभुसत्ता (स्वराष्ट्र स्वातंत्र्य); इन पाँच शीलों को स्वीकार किया गया है।

☐ इन्द्रियों और मन की सुन्दर आदतों को भी शील कहा जाता है, तथा सद्व्यवहार भी शील शब्द का लक्षण माना जाता है।

☐ जीवदया दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप इन सबको शील का परिवार अंग कहा है।

☐ इन्द्रिय-विषयों से विरक्त रहना शील है।

☐ शील का एक अर्थ स्वभाव भी है। अच्छे स्वभाव आदि से युक्त व्यक्ति को सुशील और बुरे स्वभाव आदि से युक्त को कुशील कहा जाता है।

☐ सिर के समान उत्तम होना, शील का अर्थ है; तथा शीतल-शान्त रहना, शील का अर्थ है।

☐ अब्रह्म अर्थात् अकुशल कर्म का त्याग भी ब्रह्मचर्य कहलाता है।

☐ ब्रह्मचर्य का लक्षण है जीवनस्पर्शीपूर्ण सयम।

☐ ऊर्ध्वगामी धर्मो को जीवन में प्रकट करके उनमें तन्मय हो जाना ब्रह्मचर्य है।

☐ जिसमें मोक्ष के लिए ब्रह्म—सब प्रकार के संयम की चर्या, अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है।

☐ अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य—असमय से विरति ब्रह्मचर्य है।

१३. ब्रह्मचर्य बनाम मैथुन-विरमण

☐ ब्रह्मचर्य 'ब्रह्म' की तरह व्यापक और विशाल है। इसका स्वरूप जितना सहज है, उतना ही गहनीय है।

☐ जितने भी प्रकार के मैथुन-अब्रह्मचर्य है, उनसे सर्वथा विरत होना ब्रह्मचर्य है। यह महाव्रत अब्रह्म से विरति रूप कहा गया है।

☐ मैथुनसेवन का मन-वचन-काया से कृत, कारित और अनुमोदित रूप से त्याग करना, नवविध मैथुन विरमण रूप ब्रह्मचर्य का स्वरूप है।

☐ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मैथुन सेवन न करना ब्रह्मचर्य है।

☐ मन, वचन और काया से सभी अवस्थाओं में सर्वदा एवं सर्वत्र मैथुन-त्याग को ब्रह्मचर्य कहते है।

☐ जो व्यक्ति वाचिक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता वह मानसिक ब्रह्मचर्य का भी पालन नहीं कर सकता और जो व्यक्ति मानसिक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता, वह वाचिक और कायिक ब्रह्मचर्य से भी भ्रष्ट हो जाता है।

☐ विचार, वाणी और आचरण, तीनों से मैथुनविरमण ब्रह्मचर्य का पालन होना चाहिए। इन तीनों पर संयम रखना पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है।

☐ मानसिक विकार ही वाचिक एवं कायिक विकारों का उत्पत्तिस्थान है। यदि मन में ब्रह्मचर्य नहीं है तो वचन और शरीर में कहाँ से आएगा ?

☐ वीर्य की शुद्धि एव वृद्धि के लिए चित्त को सुरक्षित रखना चाहिए। चित्त की रक्षा के लिए दृष्टि एवं श्रोत्र को ठीक संभालना चाहिए। वस्तुतः मन से रक्षित ब्रह्मचर्य ही शुद्ध ब्रह्मचर्य कहा गया है।

☐ देह को वश में करना उतना कठिन नहीं, जितना मन को वश में करना।

☐ एक आचार्य ने केवल कायिक ब्रह्मचर्य को अधम, वाचिक को मध्यम और मानसिक को उत्तम ब्रह्मचर्य माना है।

☐ कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों के समवायिक संयमी प्रयत्नों एवं अध्यवसायों से पूर्ण ब्रह्मचर्य सफल होता है।

☐ दुर्विषयों की उधेड़बुन में डूबे रहना, एक प्रकार का मानसिक **मैथुन** (अब्रह्मचर्य) है।

☐ दुश्चिन्तन (विषयस्मरण) के मन में उत्पन्न होते ही उसे किसी न किसी सात्विक उपाय से रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

☐ कामोत्तेजक कीर्तन शरीर में एक प्रकार की उत्तेजना-उष्णता उत्पन्न करके वीर्यस्राव कर देता है।

☐ कामोत्तेजक क्रीड़ाएँ ब्रह्मचर्य को नष्ट कर देती हैं। मन को उत्तेजित तो करती ही है।

☐ किसी स्त्री के सौन्दर्य और शृंगार को देखकर अपवित्र कामवासना और विषय-लालसा उत्पन्न होना कुत्सित है।

☐ कामवासनापूर्वक सौन्दर्य या अंगोपांग निरीक्षण दूषित दृष्टिराग है, यह भयानक मानसिक व्यभिचार है, सुलगाने वाली भयंकर आग है।

□ दृष्टिदोष पैदा करने वाली कामोत्तेजक बातों से ब्रह्मचारी को बचना बहुत ही आवश्यक है।

□ ब्रह्मचारी को एकान्त में बैठकर माता या सगी बहन से भी बातचीत नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवान हैं, वे बड़े-बड़े विद्वानों को भी खींच लेती है।

□ इश्क का नशा मद्य के नशे से भी बढ़कर है, वह चैन से बैठने नहीं देता।

□ काम के संकल्प का नशा इतना भयानक है कि इसका पूर्ण होना भी सत्यनाशक है और निष्फल होना भी भयावह है। ऐसा पापी संकल्प पूर्ण होने पर तो पतन और पातक का परिपूर्ण कुण्ड है और निष्फल होने पर क्रोध, सम्मोह (बुद्धिमूढ़ता), स्मृतिभ्रष्टता, प्रतिहिंसा और उसके राक्षसी परिणाम सामने आते हैं।

□ कामवासना का दुरध्यवसाय इतना गन्दा है कि इसमें धर्म-कर्म, रीति-नीति, आचार-विचार, विवेक बुद्धि, मर्यादा आदि सबको ताक में रख दिया जाता है।

□ कामवासना के दुरध्यवसाय के दुष्ट प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य परिवार में तिरस्कृत हो जाता है, समाज में बहिष्कृत हो जाता है, उसकी प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि सब धूल में मिल जाती है। ऐसे व्यक्ति को सभी नीच एवं निन्द्य मानते हैं।

□ क्रियानिष्पत्ति यह मैथुन की अंतिम परिणति है, जो स्मरण से प्रारम्भ होती है। स्मरण से लेकर क्रियानिष्पत्ति तक के मैथुन के आठ अंग उत्तरोत्तर प्रबल-प्रबलतर हैं। क्रियानिष्पत्ति तो सबसे प्रबल है, क्योंकि इसमें शरीर से प्रत्यक्ष सहवास होता है।

□ ब्रह्मचर्य की सुरक्षा एवं स्थायित्व के लिए मैथुन के आठों अंगों से बचना चाहिए।

□ मानसिक मैथुन प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु प्लेग के कीटाणु की तरह अदृश्य और भयंकर होता है।

□ मानसिक व्यभिचार प्रारम्भ होने के दो कारण मुख्य हैं—(१) सच्ची शिक्षा का अभाव और (२) सत्संगति से विरति।

□ निम्न स्तर के कामोत्तेजक साहित्य से विकृत ज्ञान ही मिलता है, जिससे युवक मोह और भ्रम में फँसकर सर्वनाश के पथ पर बढ़ जाता है।

☐ बहिःस्राव जितना बढ़ता है, अन्तःस्राव उतना ही घटता है।

☐ दुराचारी और अजितेन्द्रिय मनुष्यों ने वैवाहिक जीवन को भी व्यभिचार के घृणित कीचड़ से सर्वथा लथपथ कर रखा है।

☐ प्रेम संकुचित वस्तु नहीं है, जो रात्रि के पापमय एकान्त में ही प्रकट हो सके, इस प्रकार का प्रेम तो क्षणिक वासना का विलास है, जो टिकता नहीं है। वास्तविक प्रेम तो चौबीसों घण्टे प्रकट हो सकता है और इसमें हृदय कुण्ठित नहीं, प्रफुल्लित रहता है।

☐ स्त्री की इच्छा के बिना पुरुष का उसे हाथ लगाना भी बलात्कार है। अनियंत्रित विषयभोग से प्रेम नष्ट हो जाता है। स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे से घृणा पैदा हो जाती है। जीवन उद्देश्यशून्य एवं आत्मलक्ष्य से हीन हो जाता है।

☐ विषयवासना की तृप्ति के लिए केवल पुरुष का अपने अधिकार की दृष्टि से स्त्री-सहवास करना व्यभिचार ही कहा जाएगा।

☐ सगर्भावस्था का स्त्रीसंग पति, पत्नी और गर्भस्थ बालक, तीनों के लिए दुःखदायक एवं पीड़ाकारक है। गर्भवती स्त्री-संग करना महापाप बताया है।

☐ पति को विषय-वासना तृप्त करके पत्नी को अकाल में विनाश करने का हक हिन्दू धर्मशास्त्र नहीं देता।

☐ अपनी जीवन-संगिनी पत्नी को विषय-वासना तृप्ति का साधन मात्र बना लेना संसार का सबसे बड़ा पाप है और स्त्री के प्रति किया हुआ सबसे बड़ा अन्याय है। इसलिए पत्नी-व्यभिचार महापाप है।

☐ गुप्त-व्यभिचार सब प्रकार के व्यभिचारों से रसीला और कीमती है। स्वस्त्री-व्यभिचार टके सेर है, वेश्या-व्यभिचार रुपये सेर है, किन्तु गुप्त-व्यभिचार तो प्राणों के भाव बिकता है।

☐ संसार के समस्त भयंकर पापों में से आधे पाप इस गुप्त-व्यभिचार के कारण होते हैं।

☐ परस्त्रीगमन इन गुप्त व्यभिचारों का मुखिया है। परस्त्रीगमन सन्देहों का भँवर, अविनय का घर, साहस का नगर, दोषों का खजाना, कपट का भू-गृह, अविश्वास का क्षेत्र, बड़े-बड़े पुरुषसिंहों को पछाड़ने वाला और माया का पिटारा है।

☐ धर्म की ओट में, धर्म के नाम पर जो गुप्त व्यभिचार होता है, उसे

धार्मिक व्यभिचार या धार्मिक मैथुन कहा जाता है, जो गुप्त व्यभिचार से भी निन्द्य और घोर पाप है।

☐ गुप्त व्यभिचार, धार्मिक व्यभिचार या अनैसर्गिक व्यभिचार की तरह वेश्या-व्यभिचार भी मानव जाति के लिए सबसे अधिक भीषण, कुत्सित अभिशाप और निन्द्य है।

☐ वेश्यावृत्ति का प्रारम्भ होता है—परिवार और समाज द्वारा स्त्रियों पर किये गये अत्याचारों से।

☐ वेश्या-व्यभिचार से स्वयं वेश्या और वेश्यागामी अनेक संक्रामक रोगों का शिकार बन जाते है। दरिद्र एवं असहाय बन जाते हैं या अकाल में मौत के मेहमान बन जाते हैं।

☐ वेश्यागामी स्वयं रोगपीड़ित हो जाता है, उसकी पत्नी उसके पापों को भुगतती है, उसके बच्चे भी जन्म से ही इन पापों को लेकर पैदा होते है।

☐ वेश्या-व्यभिचार सर्वाधिक निन्द्य, घृणित, पापमय और हानिकारक होने से सर्वथा त्याज्य है।

☐ वाचिक मैथुन कायिक मैथुन का पूर्वरूप और मानसिक मैथुन का उत्तररूप है। यह मैथुन भी कम हानिकारक और खतरनाक नहीं है।

☐ वाचिक मैथुन ही आगे चलकर प्रायः कायिक मैथुन के रूप में परिणत हो जाता है।

☐ वाचिक मैथुन भी मानसिक मैथुन की तरह दण्डनीय समझा जाता है।

☐ कायिक, मानसिक और वाचिक, सभी प्रकार के मैथुन या व्यभिचार सभी दृष्टियों से हानिकारक और त्याज्य हैं।

ब्रह्मचर्य-साधना

१. ब्रह्मचर्य-साधना : उद्देश्य और मार्ग

☐ ब्रह्मचर्य-साधना जीवन-निर्माण की कला है।

☐ वह कला वास्तविक कला नहीं है, जो सौन्दर्य की चकाचौंध में 'सत्यम् और शिवम्' को तिलांजलि दे दे।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना मानव-जीवन के विचार, आचार और व्यवहार को बदलने और सिद्धान्त के अनुरूप कल्याणमय और सुन्दर बनाने की कला है।

☐ ब्रह्मचर्य से शरीर भी सुन्दर बनता है, मन भी सुन्दर बनता है, और वचन तथा व्यवहार भी सुन्दर बनता है, किन्तु ये सब सुन्दर बनते हैं—सत्यं और शिवं के सन्दर्भ में।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना रूपी कला की पहचान यही है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा साधक के मन में पवित्रता जागे।

☐ ब्रह्मचर्य-साधनारूपी कला आत्मा पर या आत्म-शक्तियों पर लगे हुए विकारों के जंग को साफ कर देती है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना साधक की आत्मा को आत्मगुणों को चमकाने की, कुण्ठित आत्म-शक्तियों को तीव्र करने की कला है। वह आत्मा के सौन्दर्य का विकास करती है। जीवन के उज्ज्वल गुणों को चमकाती है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना सभी साधनाओं में अपने आपमें सबसे अनूठी, श्रेष्ठ और प्रखर है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना निरपवाद है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना में अपवाद मार्ग का आश्रय लेकर साधक कदापि माध्यस्थ नहीं रह सकता, क्योंकि ब्रह्मचर्य-साधना में अपवाद मार्ग का आश्रय राग, द्वेष और मोहवश ही होता है।

☐ ब्रह्मचर्य का भंग करने वाले साधक के लिए उसके पद के अनुसार कठोर, कठोरतर और कठोरतम प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना अपनी भूमिका के अनुसार सर्वांगपूर्ण, निरपवाद एवं निष्कलंक सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक साधना है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना वह साधना है, जो मन वचन और काया में जरा-सा विकार आने पर खण्डित, विराधित हो जाती है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना को आगमों में उग्र, सुदुष्कर एवं दुःखरूप बताया है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना वासनाजय की साधना है।

☐ जिस समय चित्त में काम-वासना की लहरें उमड़-घुमड़कर उठती हैं, उस समय बड़े बड़े जप-तप करने वालों, योगियों के पैर उखड़ जाते हैं, वे ब्रह्मचर्य-साधना के पथ पर टिक नहीं पाते।

☐ कामवासना पर विजय पाये बिना ब्रह्मचर्य साधना में अभीष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

☐ इस भूमण्डल पर बहुत से शूरवीर हैं, जो मतवाले हाथियों का मद उतारने में शूरवीर हैं, कई प्रचण्ड सिह के वध में भी दक्ष है, किन्तु काम के दर्प को चूर-चूर करने में बहुत विरले मनुष्य हैं।

☐ मनुष्य के चित्त में जब कामोद्रेक हो जाता है, उस समय वह अपने-आपको संभाल नहीं सकता।

☐ ब्रह्मचर्य साधक एकाकी हो या समूह के साथ, उसे अपने-आपको एकाकी समझकर अपनी साधना में सतत् आगे बढ़ना है।

☐ ब्रह्मचर्य साधक को अपने साथ प्रतिक्षण अर्हन्तदेव को साक्षीरूप में उपस्थित समझना चाहिए। फिर उसे भय कहाँ ?

☐ प्रतिज्ञा लेते ही साधु का ब्रह्मचर्य संकल्पज होता है, सिद्ध ब्रह्मचर्य नहीं। सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुँचना उसका लक्ष्य होता है।

☐ जो स्वप्न में अणुमात्र भी ब्रह्मचर्य से स्खलित नहीं होता, उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है।

☐ जब तक सकल्पज ब्रह्मचर्य का साधक परिपक्व नही बना है, तब तक चारित्रमोह के प्रवल अन्धड़ उसके ब्रह्मचर्य-द्वीप को बुझा सकते हैं, मन्द कर सकते हैं।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना का ध्येय, साध्य अथवा अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है—समस्त कर्मो—आत्मा के कर्मजनित राग-द्वेषादि विकारों का सर्वथा क्षय, आत्मा की पूर्ण विशुद्धि।

☐ जो साधक परमात्मभाव को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मचर्य की साधना (आचरण) करनी चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य जैन धर्म ने आत्महित या आत्मविशुद्धि वताया है।

☐ ब्रह्मचर्य-पाधना एक आचार है, चारित्र का एक अंग है।

☐ ब्रह्मचर्यरूप आचार-पालन का उद्देश्य केवल आत्म-शुद्धि (कर्म-क्षय-कर्मनिर्जरा) ही है।

☐ साक्षात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए देह से (सदा के लिए) मुक्त होने के साधन के माने ही ब्रह्मचर्य है।

☐ ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है–ब्रह्म की खोज करना। ध्यान, धारणा और आत्मानुभव से उसे अपने अन्तःकरण में खोजना चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना के द्वारा जब तक तेजस् और कार्मण शरीर को प्रभावित नहीं किया जाता, तब तक ब्रह्मचर्य-साधना को सफल नहीं माना जा सकता।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य स्थूल (औदारिक) शरीर, तथा सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म शरीर को जागृत करके उनसे परे अध्यात्म के नये-नये पर्यायों को उद्घाटित करते हुए अन्त में पूर्ण-शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करना है।

☐ ब्रह्मचर्य साधना किसी भी कामनापूर्ति या मांग के लिए नहीं है, वह कामना या इच्छा को ही समूल नष्ट कर देने वाली साधना है।

☐ जहाँ व्यक्ति निष्काम और निरीह बन जाता है, वहाँ उसकी आत्मा या परमात्म स्वरूप सर्वांगरूप से जाग जाता है। कामनापूर्ति या इच्छापूर्ति का स्तर बहुत नीचे रह जाता है। यही ब्रह्मचर्य-साधना का मूल उद्देश्य है।

☐ साधक के मन में जब भी किसी प्रकार का अशुभ विकल्प उठे, मन को एक विशाल, उदात्त और शुभ विकल्प दे दो, जिससे उस समय उठने वाले सारे अशुभ विकल्प शीघ्र ही पलायित हो जाएँ।

☐ विशाल उदात्त विकल्प ब्रह्मचर्य-साधना को सरल बनाने का एक अनूठा उपाय है।

☐ ब्रह्मचर्य का साधक जब प्रारम्भ से ही किसी न किसी विराट भावना को लेकर चलेगा, तब उसके लिए ब्रह्मचर्य-साधना सरलतम हो जाएगी, वह ब्रह्मचर्य में अटल निष्ठा प्राप्त कर सकेगा।

☐ संसार में जितने भी अखण्ड ब्रह्मचर्य-साधक महापुरुष हो चुके हैं, उनके समक्ष जीवन की बृहत् धारणा थी, अपने आत्मकल्याण और जन-कल्याण की विराट् भावना थी।

☐ जिसे ब्रह्मचर्य की कठोर एवं उग्र साधना सहज, सरल और सुकर बनानी है, उसे अपने समक्ष कोई न कोई महान उद्देश्य अवश्य रखना चाहिए।

☐ धर्म संघ की, साधु-साध्वियों की, तपस्वी मुनियों की या रुग्ण साधुओं

की सेवा की विराट साधना से भी ब्रह्मचर्यसाधना सुगम बनाई जा सकती है।

☐ जैन शास्त्रों में ब्रह्मचर्य साधना को सरल बनाने के लिए साधु-साध्वियों को जगह-जगह स्वाध्याय, ध्यान, आत्मभाव, तपस्या आदि में सतत् रत रहने की प्रेरणा की गई है।

☐ बृहद् उद्देश्य या विराट् लक्ष्य में अपने मन-वचन-काया के योग को ओतप्रोत किये विना काम-वासना पर विजय पाना बहुत दुष्कर होगा। वासना के आगे बड़े-बड़ों के छक्के छूट जाते है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना में पवित्र सद्दृष्टि आवश्यक है।

☐ मोह में वासना, विषय-विकार और अब्रह्मचर्य है। विशुद्ध प्रेम में वात्सल्य-सम्बन्ध है।

☐ मोह और शुद्ध प्रेम में ऊपर से दिखाई देने वाला आकर्षण समान है, किन्तु वास्तव में दोनों के आकर्षण भिन्न-भिन्न प्रकार के है।

☐ मोह और विशुद्ध प्रेम दोनों के आकर्षण में रात-दिन का सा अन्तर है।

☐ विजातीय शरीर के सम्बन्ध में मनुष्य ने अपनी दृष्टि पहले से ही विकारी बना ली है। वास्तव में स्त्री-शरीर या पुरुष-शरीर अपने-आप में कोई विकार या वासना की उत्पत्ति का कारण नहीं है।

☐ स्त्री के प्रति पुरुष की मातृत्व दृष्टि या पुरुष के प्रति स्त्री की पवित्र दृष्टि हो तो विकार या वासना उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं।

☐ स्त्री परिचय या कामोत्तेजक वातावरण से पैदा होने वाली मानसिक विकृति के पीछे मूल उपादान कारण तो मनुष्य के अन्तर् में पड़ी हुई मलिनवृत्ति है।

☐ किसी का शरीर विकार की स्मृति का कारण नही है, किन्तु उसके पीछे मनुष्य की मनोभावना या दृष्टि ही सब कुछ है। स्त्रीमात्र के प्रति मातृभाव या भगिनीभाव की दृष्टि को विश्वव्यापी एवं निर्मल (पवित्र)बना लिया जाए तो जगत् की समस्त अन्य स्त्रियों के परिचय में आने पर भी ब्रह्मचारी साधक निर्विकारी रह सकता है।

☐ विजातीय के प्रति मोहजनित विकारी आकर्षण को शुद्ध, प्रेमजनित पवित्र आकर्षण में वदला जा सकता है, जरूरत है—केवल दृष्टि वदलने को।

☐ शरीर के बिना अकेली आत्मा ब्रह्मचर्य का क्या, किसी भी व्रत, नियम, संयम या तप की साधना नहीं कर सकती।

☐ हे साधक ! तू ब्रह्मचर्यादि की साधना के लिए शरीर को तपा, इसकी सुकुमारता को छोड़! साथ ही, कामों (इच्छा-काम और मदन-काम) पर विजय प्राप्त कर। द्वेषवृत्ति को छेद डाल और रागवृत्ति को दूर कर। इस प्रकार करने से ही तू इस संसार में सुखी होगा।

☐ ब्रह्मचर्य आदि की साधना से स्व-पर कल्याण के लिए इस शरीर को साधना है, सशक्त एवं कार्यतत्पर रखना है।

☐ शरीर को व्यर्थ कष्ट देना, उस पर अत्याचार करना या नष्ट कर देना अथवा अंगोपांगों को भंग कर देना धर्म नहीं है, यह अज्ञानकष्ट है, बालतप है। ऐसा करने से न तो ब्रह्मचर्य आदि की साधना ही हो सकती है और न ही धर्म का पालन या आत्मकल्याण हो सकता है।

☐ अच्छे या बुरे वचनों का स्रोत तो मन है। मन में अच्छे विचार होंगे तो अच्छे वचन निकलेंगे, बुरे विचार होंगे तो बुरे विचार निकलेंगे।

☐ कामाचार या दुष्कर्मों की जड़ शरीर या अंगोपांग नहीं, किन्तु मन है।

☐ शरीर को नष्ट करने या व्यर्थ कष्ट या दण्ड देने से ब्रह्मचर्य-साधना का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता है।

☐ जब तक राग-द्वेष और तज्जनित कर्म नष्ट नहीं होंगे, तब तक जन्म-मरण तथा शरीर-धारण नष्ट नहीं होगा।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक को ब्रह्मचर्य साधना के लिए शरीर और मन को सशक्त एवं उद्यत रखना है। इतना विवेक होगा तो उस साधक की ब्रह्मचर्य साधना सुगम हो सकेगी।

☐ शरीर को मारकर आत्मा को अपनी ब्रह्मचर्यादि साधना में दृढ़ता से तत्पर रख सकने की बात मत सोचो, और न ही आत्मा को मारकर शरीर को सुकुमार, भोगासक्त एवं विषय-सुखदास बनाने की बात ही सोचो।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक के समक्ष शरीर और आत्मा दोनों हैं। साधक दोनों में से एक की भी उपेक्षा करके साधना नहीं कर सकता। साधक का कर्तव्य है कि वह साधना के मार्ग में आत्मा और शरीर दोनों का यथोचित विकास

करे, दोनों को यथामात्रा में सशक्त बनाए, दोनों को अपनी-अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करने दे।

☐ ब्रह्मचर्य साधना सिद्ध परमात्मा तक पहुँचने की उच्च साधना है। शरीर आत्मा के निवास करने के लिए पवित्र मन्दिर है। यह सोचकर शरीर को उच्च साधना के लिए तैयार रखना है।

२. ब्रह्मचर्य-साधना : दृढ़ता के सूत्र

☐ ब्रह्मचर्य साधना के लिए ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। उक्त साधना करने का दृढ़ निश्चय करना पड़ता है।

☐ संकल्प के बिना जो कुछ भी किया जाता है, उसका फल बहुत थोड़ा होता है तथा उस कार्य में होने वाले धर्म का आधा भाग नष्ट हो जाता है।

☐ जिसने संकल्पशक्ति का विकास कर लिया, समझ लो, उसने ब्रह्मचर्य-साधना पर पूर्ण अधिकार कर लिया।

☐ आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में संकल्पशक्ति सर्वोपरि है।

☐ जिसकी संकल्पशक्ति सुदृढ़ होती है, वह वायु को भी वश में कर लेता है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना में भी संकल्पशक्ति के प्रभाव से वीर्य का अधोगमन रोककर ऊर्ध्वगमन भी किया जा सकता है।

☐ संकल्पशक्ति, कल्पना को दृढ़ निश्चय में बदल देती है, कल्पना को मूर्तरूप देने में प्रबल सहायक संकल्प शक्ति ही है।

☐ सकल्पवलजनित प्रकम्पन इतना तीव्र हो जाता है कि कल्पना यथार्थ में बदल जाती है।

☐ संकल्प शक्ति के द्वारा शब्द के साथ-साथ अर्थ घटित होता जाता है।

☐ आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्मचर्य के दृढ़तापूर्वक पालन की कामना को पूर्ण करने में सक्षम संकल्पशक्ति ही कामधेनु है। कल्पना को पूर्ण करने में समर्थ संकल्प वल ही कल्पवृक्ष है और मनश्चिन्तित कार्य को पूर्ण करने वाली संकल्पशक्ति ही चिन्तामणिरत्न है।

☐ संकल्पशक्ति में सारे ब्रह्माण्ड को हिला देने की शक्ति है। जिस व्यक्ति की संकल्पशक्ति सुदृढ़ हो जाती है, वह दुनिया में अजेय बन जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना की सफलता में संकल्पशक्ति का बहुत बड़ा योगदान है।

☐ संकल्पशक्ति के अभाव में ब्रह्मचर्य की साधना तो बहुत दूर, साधारणसा कार्य भी सफल नहीं हो पाता।

☐ (१) जिस व्यक्ति ने इन्द्रिय-दुर्विषयों का निरोध नहीं किया, (२) जिसने उग्र परीषहों (कठिनाइयों) पर विजय पाने या सामना करने की क्षमता प्राप्त नहीं की और (३) अव्यक्तरूप से जिसके चित्त में चंचलता बनी रहती है, वह व्यक्ति अपने संकल्प से स्खलित हो जाता है।

☐ मानव जब इन्द्रियों का गुलाम बन जाता है तब अनेक अनिष्ट या अकृत्य कर बैठता है।

☐ जब इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं होता तो हजार बार निश्चय कर लेने पर भी संकल्प टूट जाता है, मनुष्य अपने संकल्प पर दृढ़ नही रह पाता।

☐ संकल्प टूटने का दूसरा प्रबल कारण है कठिनाइयों को झेलने की अक्षमता।

☐ वह साधना ही क्या जिसमें परीषह, कष्ट, विघ्न-बाधा या संकट न आएँ !

☐ घटना को कथमपि टाला नहीं जा सकता, किन्तु उस पर संवेदन करना-भोगना टाला जा सकता है।

☐ ब्रह्मचर्य आदि धर्म की साधना करने वालों को धर्म, देव या गुरु के द्वारा यह स्थिति उपलब्ध हो सकती है कि वह घटना को तटस्थभाव से देखे, उसमें रागद्वेषयुक्त होकर लिप्त न हो, उसे भोगे नहीं।

☐ ब्रह्मचर्य साधना के संकल्प के टूटने का तीसरा कारण है चित्त की चंचलता।

☐ चंचलचित्त व्यक्ति मानसिक चंचलतावश अब्रह्मचर्य के—कामवासना के प्रवाह में बह सकता है।

☐ संकल्पशक्ति की दृढ़ता के लिए साधक में कायोत्सर्गभाव, अनुप्रेक्षा, भावना, शुभ ध्यान और मन-वचन काय की एकता का अभ्यास होना आवश्यक है।

☐ सकल्पशक्ति होने पर विश्व की कोई भी शक्ति ब्रह्मचर्य-साधक को साधना से एक इंच भी नहीं डिगा सकती।

☐ ब्रह्मचर्य साधना में संकल्प की सुदृढ़ता और स्थिरता के लिए आत्मा को ब्रह्मचर्य-साधना से भावित करना आवश्यक है। 'भावितात्मा' का अर्थ है—इच्छाशक्ति से सम्पन्न आत्मा।

☐ 'यादृशी भावना यस्य, बुद्धिर्भवति तादृशी'—जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी बुद्धि भी वैसी ही बन जाती है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना की आधारशिला की शास्त्रीय षट्सूत्री इस प्रकार है—(१) श्रद्धा, (२) प्रतीति, (३) रुचि, (४) स्पर्शना, (५) पालना और (६) अनुपालना।

☐ श्रद्धा का अर्थ है—प्राप्त सत्य को धारण करने की तीव्र उत्कंठा अथवा सत्य के प्रति तीव्रतम आकर्षण।

☐ जो वस्तु श्रद्धा के द्वारा ब्रह्मचर्य-साधना में घटित हो सकती है, वह श्रद्धा के बिना केवल व्याख्या, लेख या प्रवचन से घटित नहीं हो सकती।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना के प्रति प्रतीति का अर्थ है—इस ब्रह्मचर्य से मुझे ही नहीं, अनेक साधकों को लाभ हुआ है, वे इसके ऐहिक-पारलौकिक लाभ से लाभान्वित हुए है।

☐ अरुचि से किये जाने वाले किसी भी कार्य में प्रायः सफलता नहीं मिलती। ब्रह्मचर्य की साधना भी अरुचिपूर्वक करने पर उसका आधा आकर्षण तो तुरन्त समाप्त हो जाएगा, शेष आकर्षण भी साधना की कठोरता को रह-रहकर याद करने पर समाप्त हो जाना सम्भव है, इसलिए ब्रह्मचर्य-साधना में रुचि होना अत्यावश्यक है।

☐ ब्रह्मचर्य की साधना किस विधि से, कैसे, किस उद्देश्य से, किसके द्वारा, किस प्रकार से की जाए, जिससे सफलता या सिद्धि मिले, सर्वव्यापी प्रभाव पड़े या अमुक फल मिले—इसे जानना अनिवार्य है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना में विधि आदि की जानकारी के साथ 'स्पर्शना' होना अनिवार्य है। इसके बिना साधना में तेजस्विता नहीं आएगी।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना में सफलता या सिद्धि के लिए स्पर्शना के साथ-साथ 'पालना' (सुरक्षा) भी आवश्यक है।

☐ अनुपालना का अर्थ है—ब्रह्मचर्य की साधना के अनुकूल पथ्य-पालन।

□ अविधिपूर्वक किये गये ब्रह्मचर्य-पालन से भी यथेष्ट उपलब्धि या सफलता नहीं मिलती ।

□ ब्रह्मचर्यरूप धर्म का अविधिपूर्वक पालन करने से कई बार वह आत्म-वंचना या परवंचना का कारण भी हो सकता है। अविधिपूर्वक पालन किया गया ब्रह्मचर्य कई बार साधक को ले डूबता है ।

□ संसार भोग-सुखों की मृगतृष्णा से भरा हुआ है। ऐसी स्थिति में जिस साधक की ब्रह्मचर्य की जड़ें मजबूत नहीं हैं, उसे संसार में जो भी आकर्षक एवं मनोहर वस्तु मिलती है, उस पर ललचा जाता है और गुप्त रूप से उसे भोगने का प्रयत्न करता है ।

□ ब्रह्मचर्य-साधना का प्रारम्भिक रूप, फैलना नहीं, जड़ को मजबूत बनाना है ।

३. ब्रह्मचर्य-साधना का आध्यात्मिक पक्ष

ब्रह्मचर्य की साधना को सहज बनाने के लिए मुख्यतया तीन उपाय बताए हैं—(१) परभाव और स्वभाव का या जड़ और चेतन का अथवा शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान, (२) आत्मा का अहंता और ममता से दूर रहना और (३) सबमें आत्मभाव का दर्शन ।

□ आत्मभावों के सिवाय जितने भी भाव या पदार्थ हैं, आत्मा से भिन्न हैं। उनके साथ आत्मा का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, औपाधिक या वैभाविक सम्बन्ध है ।

□ आत्मा से यह शरीर (चाहे स्त्री का है या पुरुष का) पृथक् है। शरीर और देदीप्यमान आत्मा की भेदविज्ञान की दृष्टि जब परिपक्व हो जाएगी तब आत्मभाव में रमणता या विचरणरूप ब्रह्मचर्य की साधना सहज ही हो जाएगी ।

□ आत्मा के मूल और शुद्ध स्वभाव के रूप में सभी आत्माएँ समान हैं। किन्तु जड़ के साथ संसर्ग के कारण इनके स्वभाव में विकार उत्पन्न हुआ है ।

□ ब्रह्मचर्य-साधना आत्मभावरमण से होती है, क्योंकि सुन्दर स्त्री हो या पुरुष, एक-दूसरे के प्रति आकर्षण तथा कामविकार के प्रति झुकाव होता है—अहंकार और ममकार से ।

☐ अहंकार के कारण व्यक्ति भ्रमवश औपाधिक हो जाता है, निरुपाधिक नहीं रह पाता। यही कारण है आत्मभाव-रमणता में बाधा का।

☐ ममता या ममकार के कारण मनुष्य स्त्री आदि की ओर स्नेह व कामवासनावश आकर्षित होता है।

☐ यह आत्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। अपितु जैसा-जैसा शरीर धारण करता है, उसके अनुसार सदा उस शरीर की संज्ञा हो जाती है।

☐ आमतौर पर सामान्य व्यक्ति की वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं।

☐ सामान्यतया पुरुष को स्त्री में और स्त्री को पुरुष में अद्भुत रूप-सौन्दर्य प्रतीत होता है। अपने देहाध्यास या बहिर्मुखी वृत्ति के कारण सुपुप्त रूप से अपने अन्तर् में रही हुई कामवासना के कारण विजातीय व्यक्ति में राग पैदा होता है।

☐ शरीर का सौन्दर्य आत्मा के सौन्दर्य की छायामात्र है, यह पर-प्रकाशित सौन्दर्य है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के कारण ही विश्व की प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य प्रतीत होता है। चैतन्य के निकलते ही यह सौदर्य नष्ट हो जाता है।

☐ अन्तर्दृष्टि से देखा जाए तो सौंदर्यरूप प्रभु आत्मा स्वयं है। प्रभु या आत्मदेव के सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थ में कुछ भी सौंदर्य नहीं है।

☐ आत्मा की उपस्थिति के प्रभाव से ही शरीर जैसा गन्दा पदार्थ सुदृढ और सुन्दर दिखाई देता है।

☐ आत्मदेव के ही सौंदर्य का दर्शन करना चाहिए, उससे सहज ही आत्म-रमणता होगी।

☐ जिस व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) का रूप मनुष्य को मोहान्ध बनाता है, उस व्यक्ति के शरीर की नश्वरता का चिन्तन करना भी कामावेग को रोकने हेतु मोहक्षय करने का अनुपम उपाय है।

☐ जिस किसी व्यक्ति को मृत्यु का सतत् स्मरण होता रहता है, वह आत्म-ज्ञान के विना भी शीघ्र कामान्ध होने से वच सकता है।

☐ जिसके सामने मौत नाच रही हो, वह व्यक्ति काम-विलास, राग-रंग या वाह्य-विषयों से उपरत हो जाता है।

☐ जो ब्रह्मचारी साधक स्त्री के शरीर को अशुचिमय और दुर्गन्धित

जानकर मन में उसके रूप-लावण्य को भी मोह पैदा करने वाला मानता है, उसकी ब्रह्मचर्य-साधना सुगम हो जाती है।

□ जो मल के बीजभूत, मल को उत्पन्न करने वाले, मलप्रभावी, दुर्गन्ध युक्त, लज्जाजनक एवं ग्लानियुक्त अंग (शरीर के अंगोपांग) को देखता हुआ कामसेवन से विरत होता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारक है।

□ ब्रह्मचर्य साधक की अशुचि-अनुप्रेक्षा से शरीर सौंदर्य से विरक्ति और आत्मदर्शन की ओर प्रवृत्ति हो सकती है।

४. ब्रह्मचर्य साधना : विभिन्न दृष्टियों से

□ भारतीय संस्कृति की दृष्टि से धर्म का सर्वसम्मत लक्षण यह है— "जो समाज का धारण-पोषण एवं रक्षण करे, समाज को सुखमय बनाए।"

□ धर्म मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों और वासनाओं को नियन्त्रित करने एवं आत्मा के समस्त शुभ का लाभ प्राप्त कराने का एक अभ्यास है। धर्म आत्मा की स्वाभाविक वृत्ति है।

□ ब्रह्मचर्य साधना व्यक्ति के आत्मिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, ऐहिक और पारलौकिक सभी दृष्टियों से हितकारक, लाभदायक, शुभ प्रवृत्ति है।

□ ब्रह्मचर्य-साधना आत्मविकास एवं आत्मिकगुणों की वृद्धि के लिए उत्तम साधना है। यह आत्मा का स्वाभाविक सहज धर्म है।

□ सभी धर्मों में साधु-संन्यासियों के लिए संसार भर की समस्त स्त्रियों को माता, बहन या पुत्री के रूप में मानने का कर्तव्यरूप ब्रह्मचर्य धर्म विहित है।

□ गृहस्थ के लिए स्वविवाहिता स्त्री के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों के प्रति मातृभाव, भगिनीभाव या पुत्रीभाव रखने का ब्रह्मचर्य धर्म विहित है।

□ साध्वियों का धर्म समस्त पुरुषों के प्रति पिता, भाई या पुत्र की दृष्टि रखना विहित है।

□ अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हुए ब्रह्मचर्य पालन करने से समाज में व्यवस्था, शान्ति और सुरक्षा बनी रहती है।

☐ ब्रह्मचर्य समाजहित के लिए सभी दृष्टियों से उत्तम साधन है।

☐ समाज के सर्वतोमुखी अभ्युदय और कल्याण की दृष्टि से ब्रह्मचर्य-साधना को सभी धर्मों ने धर्म के रूप में या नैतिक नियमों या कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया है।

☐ एक दुराचारी या व्यभिचारी व्यक्ति भी व्यभिचार, दुराचार या बलात्कार करने के बाद प्रायः पश्चात्ताप करता है।

☐ वैदिक धर्म की परम्परा में तो ब्रह्मचर्य साधना को जीवन के तीन-चौथाई काल में स्थायी धर्म माना है।

☐ जैनपरम्परा में ब्रह्मचर्य-साधना को महाव्रत और अणुव्रत के रूप में पालन करने का विधान है।

☐ जैन धर्म में ब्रह्मचर्य साधना को ध्रुव, शाश्वत और नित्य कहा है।

☐ बौद्धधर्म-ग्रन्थों में विधान है कि बोधिलाभ प्राप्त करने के लिए मार को जीतना तथा वासना पर संयम रखना आवश्यक है।

☐ ईसाई धर्म ने भी ब्रह्मचर्य को धर्म के रूप में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। स्वयं ईसामसीह ब्रह्मचारी थे।

☐ व्यभिचार करना, बलात्कार करना और विलासिता का पोषण करना आदि अनैतिक दुष्कर्मों को ईसाई धर्म में भयंकर पाप माना गया है।

☐ प्रभु के राज्य में प्रवेश करने के लिए तन-मन का पवित्र होना आवश्यक है।

☐ मुस्लिम धर्म में भी जनाकारी (व्यभिचार), विलास और वासना का तीव्र विरोध किया गया है।

☐ दर्शन धर्मशास्त्र विहित तथ्यों, सिद्धान्तों एवं आचरणीय सत्यों तत्वों का विश्लेषण करता है।

☐ जगत् की सारी वस्तुएँ विनाशी है, भोगसुख भी क्षणिक और विनाशी है।

☐ सांसारिक पदार्थों या विषयभोगों से मिलने वाला कोई भी सुख ऐसा नहीं है, जिसके साथ दुःख जुड़ा हुआ न हो।

☐ जैनशास्त्रों में जगह-जगह काम-भोगों को दुःखमय तथा अनर्थों की खान कहा है।

☐ ब्रह्मचर्य साधना से पैदा होने वाला आत्मसुख केवल सुख है, विशुद्ध और परिपूर्ण सुख है। उसके साथ कोई भी दुःख जुड़ा हुआ नहीं है।

☐ इन्द्रियों के जो विषय मनुष्य को आकर्षक, मोहक या लुभावने प्रतीत होते हैं, उसका कारण वे विषय नहीं हैं, किन्तु मनुष्य के उनके पीछे चिपकाये हुए अपने विचार-संस्कार हैं।

☐ मनुष्य स्वयं ही सभी कल्पनाओं का स्रष्टा है।

☐ सुख या आनन्द सच्चिदानन्दरूप आत्मा का मूलभूत स्वभाव है। हम स्वयं आनन्दस्वरूप आत्मा हैं।

☐ सुख का संवेदन आत्मा में से होता है, परन्तु होता है—जड़ पदार्थ या विषय-भोग के सम्पर्क से, इसलिए अज्ञानी मनुष्य मानता है कि यह सुख जड़ पदार्थ या विषय-भोग में से आ रहा है।

☐ सच्चा सुख तो तुम्हारी अपनी आत्मा में है, अतः विषय-भोगों में आनन्द नहीं है, आनन्द तो अपनी आत्मा में ही है, जो स्वाधीन है।

☐ त्याग, तप, संयम या ब्रह्मचर्य आदि में ही सुख-शान्ति है, बाह्य विषयों में नहीं।

☐ बाह्य विषयों में जो सुखबुद्धि होती है, वह अनादिकालीन परम्परागत विषयासक्ति के कुसंस्कारों के कारण होती है।

☐ ब्रह्मचर्य से प्राप्त होने वाला आत्मानन्द क्षणिक विषयानंद से कई गुना अधिक एवं शाश्वत है। इसलिए आत्मानन्द के लिए ब्रह्मचर्य-साधना ही उपादेय है।

☐ बौद्धपिटकों में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग के अर्थ में हुआ है।

☐ योगशास्त्र आदि में पाँच यमों में ब्रह्मचर्य को भी एक सार्वभौम यम माना है।

☐ योगसाधना में वासना, कामना, तृष्णा, असंयम और आसक्ति बाधक तत्व हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य-साधना योगदर्शन द्वारा सर्वप्रथम महत्वपूर्ण एवं उपादेय बताई गई है।

☐ यौगिक प्रक्रिया से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-साधना की बहुत बड़ी उपलब्धि हो सकती है।

☐ यौगिक क्रियाएँ ब्रह्मचर्य-साधना को सुदृढ़ एवं परिपक्व बनाने में अतीव उपयोगी हैं।

☐ जीवन की पवित्रता; मन, वचन, कर्म की शुचिता और आत्मिक आनन्द की अनुभूति के लिए ब्रह्मचर्य-साधना अनिवार्य मानी गई है।

५. यौगिक प्रक्रियाओं में ब्रह्मचर्य की सहज साधना

☐ मन को उदात्त चिन्तन में लीन करने या तल्लीन/स्थिर रखने के लिए शरीर को उसके योग्य बनाना बहुत जरूरी है। शरीर की क्षमता एवं गतिविधि को पहचानना और उसे अपने नियन्त्रण में रखना—यह योगमार्ग है, योगविद्या है।

☐ हमारी प्राणधारा को प्रवाहित करने वाली तीन नाड़ियाँ हैं—ईडा, पिंगला और सुषुम्ना। बाएँ स्वर को ईडा, दाहिने स्वर को पिंगला और मध्य स्वर को सुषुम्ना कहते हैं। जब मध्य स्वर चालू होता है, तब सुषुम्ना प्राणधारा प्रवाहित होती है, तब मन शान्त और अन्तर्मुखी होने लगता है, विकल्प कम हो जाते हैं, मनुष्य के लिए निर्विकार, कामरहित एवं आत्मभाव में लीन होने का द्वार खुलता है।

☐ ईडा-पिंगला के चलते रहने पर मनुष्य में कामनाएँ, वासनाएँ बढ़ती हैं।

☐ जैविक रसायनों में प्रभावशाली परिवर्तन होता है—मंत्रों के द्वारा।

☐ हमारी शरीर-रचना में बुद्धि एवं वृत्तियों के जो केन्द्र हैं, वे सबके सब अधोमुखी है। वृत्तियाँ और बुद्धि नीचे की ओर होने से मनुष्य का समग्र चिन्तन अधोमुखी होता है। मन्त्रों और स्तोत्र आदि के उच्चारण से वृत्तियाँ और बुद्धि ऊर्ध्वमुखी हो जाती हैं।

☐ आध्यात्मिक चढ़ाई या ऊर्ध्वारोहण सुषुम्ना के मार्ग से करना होता है।

☐ आत्म-साक्षात्कार घटित होने के साथ ही ध्येय, ध्याता और ध्यान तीनों एक अभिन्न हो जाते हैं।

☐ ब्रह्म-रमणरूप आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य-साधना में पाँच तत्व सहायक बनते है—(१) तप, (२) ध्यान, (३) स्वाध्याय, (४) संयम और (५) मंत्र।

☐ ब्रह्मचर्य भी एक प्रकार का उत्कृष्ट तप है। तप से ब्रह्मचर्य-साधना में अवरोधक, बाधक एवं विघ्नकारक राग, द्वेष, काम, मोह आदि के परमाणुओं को तथा कर्मरूप आवरणों को हटाने में बहुत सहायता मिलती है।

☐ अशुद्ध परमाणुओं को उत्तप्त करके पिघलाने की प्रक्रिया में तप का बहुत बड़ा योगदान है।

☐ ध्यान की प्रक्रिया में चार रूप समाविष्ट होते हैं—(१) कायोत्सर्ग, (२) व्युत्सर्ग, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

☐ कायोत्सर्ग में काया के प्रति ममत्व का विसर्जन किया जाता है। इसका प्रारम्भिक रूप है—शिथिलीकरण का अभ्यास। द्वितीय रूप है— देह-विसर्जन।

☐ व्युत्सर्ग में आत्मा के सिवाय संसार के समस्त पदार्थों के प्रति व्युत्सृजन की भावना में चित्त को एकाग्र करना, तथा ऑटो सजैशन देना होता है।

☐ धर्मध्यान में पिण्डस्थ, पदस्थ एवं रूपस्थ तीन ध्यानों का समावेश होता है।

☐ ॐ पूर्णात् पूर्णमिदमुच्यते—(ईशावास्य उपनिषद्) अपूर्ण से पूर्ण का ध्यान करने से ही आत्मा को परिपूर्णता प्राप्त होती है। इससे तत्वतः ब्रह्मचर्य-साधना सहज हो जाती है।

☐ अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन पाँचों के रूप का, आकृति का गुणात्मक ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है। रूपस्थ ध्यान से भी ब्रह्मचर्य-साधना सरल होती है।

☐ शुक्लध्यान—यह रूपातीत ध्यान है। इसमें आत्मा, आत्मस्वभाव, आत्मगुणों, आत्मशक्तियों आदि का ध्यान करके निर्विकल्प स्थिति में पहुँच कर शुद्ध आत्मा में रमण करना होता है। इस ध्यान से विषयासक्ति, कषाय, राग-द्वेष आदि क्षीण होते हैं।

☐ वृत्तियों को बदलने और आत्मा की अनन्त शक्तियों एवं गुणों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वाध्याय महत्वपूर्ण अंग है। स्वाध्याय में भी ध्यान की भाँति लीनता प्राप्त हो सकती है।

☐ संयम ब्रह्मचर्य-साधना के मार्ग में बाधक एवं अवरोधक तत्वों को दूर करके ब्रह्मचर्य-पालन में सहायक होता है।

☐ मंत्र शब्दात्मक होता है। उसमें बहुत बड़ी शक्ति होती है। मंत्र के द्वारा आत्मिक शक्तियों का जागरण हो सकता है। मंत्र के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म शरीरों की शक्तियों को भी जाग्रत किया जा सकता है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधना तब तक सफल नहीं कही जा सकती, जब तक आध्यात्मिक—शारीरिक—मानसिक शक्तियों का विकास नहीं होता। इन शक्तियों का विकास होता है—मंत्र-प्रयोग के माध्यम द्वारा विस्फोट की शक्ति की उपलब्धि से।

☐ मंत्र एक बहुत बड़ी शक्ति है, ऊर्जा है। मंत्र-प्रयोग से ब्रह्मचर्य जैसी आध्यात्मिक-साधना भी आसानी से सम्पन्न की जा सकती है।

☐ प्राण-शक्ति का भी विकास मंत्रप्रयोग से होता है। अतः मंत्र-प्रयोग ब्रह्मचर्य-साधना में बाधक वातावरण को छिन्न-भिन्न कर देता है। वह ब्रह्मचर्य के अनुकूल वातावरण तैयार कर देता है।

☐ जीवन में परमात्मभाव की ज्योति ब्रह्मचर्य-साधना से झलक उठती है। परमात्मा का स्वरूप अनन्त ज्ञान-दर्शन-शक्ति-आनन्दात्मक है। उसे प्राप्त करने या परमात्मभाव की ओर गति करने में ध्यान और मंत्र का प्रयोग बहुत सहायक है।

☐ जिस व्यक्ति में परमात्मभाव जाग गया, वह निरीह और निष्काम बन जाता है। उसकी समस्त काम-वासनाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ समाप्त हो जाती है। वह काम के धरातल से ऊपर उठ जाता है। उसकी ब्रह्मचर्य-साधना सहज हो जाती है।

☐ गुणीजनों को भी अपने रूप की प्रतिपत्ति-प्रतीति दूसरों के सहारे से होती है। वह अपने से ज्ञानादि में आगे बढ़े हुए महापुरुष के द्वारा अपने को देखता है। आँख सबको देखती है, किन्तु अपने-आपको देखने के लिए उसे दर्पणतल का सहारा लेना पड़ता है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक को भी परमात्मभाव में गति करने के लिए या आत्मा में परमात्मभाव जगाने के लिए वीतराग परमात्मा का अवलम्बन लेना जरूरी है। इसीलिए वह परमात्मभाव को जगाने के लिए परमात्मा के नाम, स्वरूप, शरीर एवं शब्द का अवलम्बन लेता है।

☐

६. मनोविज्ञान और शरीरविज्ञान के अनुसार ब्रह्मचर्य-साधना

□ मनोविज्ञान मन के स्वरूप तथा उसकी विविध वृत्तियों-प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने वाली विद्या है।

□ मनोविज्ञान मानता है कि मनुष्य के बाह्य व्यवहारों, चेष्टाओं, अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों, शुभ-अशुभ कार्यों, उचित-अनुचित वचनों का मूल स्रोत उसका मन है। मन से ही ये सब पैदा होते हैं।

□ अस्वस्थ एवं विकृत मन ही अनेक बीमारियों का कारण होता है।

□ मन में रहने वाले सदाचार-दुराचार या कामवासना अथवा ब्रह्मचर्य-साधना के विचार मानव-मन की अज्ञात क्रियाओं पर निर्भर हैं।

□ ब्रह्मचर्य-साधना में बाधक-साधक कारणों को भी मनोविज्ञान द्वारा जाना जा सकता है।

□ मन के जिस भाग को हम जान सकते हैं, उसे चेतन मन कहते हैं, जिस हिस्से के विषय में हम कुछ नहीं जान पाते, वह अचेतन मन कहलाता है और चेतन तथा अचेतन मन के बीच का भाग चेतनोन्मुख मन कहलाता है।

□ चेतन मन में आने वाली कामवासनाएँ, न आने वाली कामवासनाओं का अत्यल्प भाग ही होता है।

□ मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियाँ अचेतन मन में ही पड़ी रहती है। पुराने विस्मृत अनुभवों तथा अतृप्त वासनाओं की परतें अचेतन मन में पड़ी रहती हैं। सक्रिय कामवृत्तियों का उद्‌गम स्थल अचेतन मन है।

□ राख के ढेर में दबी हुई अग्नि जैसे हवा आदि का निमित्त पाते ही प्रज्वलित हो उठती है, इसी प्रकार अचेतन मन में छिपी हुई कामवासना रूप आग भी वैसे निमित्त मिलने पर उभर आती है।

□ मन की मूल शक्ति काम (वासना) वृत्ति है। इस जीवनीशक्ति को फ्रांसीसी भाषा में लिबिडो कहा जाता है।

□ प्रत्येक व्यक्ति में जन्म से लेकर मृत्यु तक कामवासना किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। (फ्रायड)

□ काम-वृत्ति (वासना) मानव-मन की मूल शक्ति नहीं है। वातावरण

एवं परिस्थिति अथवा अभ्यास के अनुसार इसका आविर्भाव-तिरोभाव होता है।

☐ इस बात से मनोविज्ञान भी इन्कार नहीं करता कि कामशक्ति का रूपान्तर, मार्गान्तर, अवरोध एवं शोधन आदि हो सकता है।

☐ कामवासना मनुष्य के लिए स्वाभाविक नहीं है, वह सांयोगिक परिस्थितिजन्य है।

☐ कामवासना के दमन से वह थोड़ी देर के लिए दब जाती है, अचेतन मन में चली जाती है, किन्तु नष्ट नहीं होती।

☐ कामवासना के दमन के दो परिणाम निकलते हैं—(१) उचित दमन से उसकी शक्ति उच्चकोटि के सत्कार्यों में प्रकट होती है तथा (२) अनुचित दमन से वह गुप्त रूप से, टेढ़े-मेढ़े मार्गों से फूटकर बाहर निकलती है।

☐ कामवासना के ऊर्ध्वीकरण से ब्रह्मचर्य-साधना आसान हो जाती है, जबकि वासना का अधोगमन पतन की ओर ले जाता है।

☐ अनेक प्रकार के कामोन्माद कामवासना के अनुचित दमन के परिणाम हैं।

☐ उचित दमन के द्वारा कामवासना के ऊर्ध्वीकरण, मार्गान्तरण या संशोधन का मार्ग ही ब्रह्मचर्य-साधना के लिए उपादेय है।

☐ शरीरविज्ञान ब्रह्मचर्य-साधना का बहुत बड़ा समर्थक एवं सहयोगी है।

☐ वीर्य एवं शुक्र इस पचभौतिक शरीर की शक्ति, बल, पुरुषार्थ, ओज, तेज और सप्त धातु का केन्द्र है।

☐ वीर्यरक्षा से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है, जबकि वीर्यनाश से उसका पतन, ह्रास एवं सर्वनाश।

☐ वीर्य का स्थान वास्तव में अण्डकोष है, जबकि ओज का स्थान हृदय है फिर भी वह शरीरव्यापी है।

☐ ओज तो जितना भी वढ़े, लाभदायक है, क्योंकि उसके बढ़ने से मन की पुष्टि और बल की वृद्धि होती है।

☐ वीर्य के मार्गान्तरण के लिए योगियों ने उसके ऊर्ध्वीकरण के प्रयोग

का विकास किया। इस उपाय के फलस्वरूप वीर्य नीचे वीर्याशय में कम और ऊपर सहस्रार चक्र में अधिक जाता है।

□ यह नियम है कि वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होगा तो कामवासना बढ़ेगी और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होगा तो कामवासना घटेगी, ओज-तेज बढ़ेगा।

□ प्राणधारा १० भागों में विभक्त है—पाँच इन्द्रियाँ उसके पाँच स्थान हैं, तथा दूसरे पाँच स्थान हैं—मन, वचन, शरीर, श्वासोच्छ्वास और जीवनी शक्ति (आयुष्य)।

□ ब्रह्मचर्य-साधना से तेजस् शरीर सक्रिय और जागृत हो जाता है, जो दशविध प्राणों को सक्रिय एवं जागृत कर देता है। फिर कामवृत्ति का आक्रमण नहीं हो सकता है।

□ आयुर्वेद में पाँच प्राण बताये हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

□ ब्रह्मचर्य-साधना से पाँचों प्राणशक्तियाँ जागृत और सक्रिय हो जाती हैं।

□ जितेन्द्रियता और मन की प्रसन्नता, ये दो मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण हैं। ये ब्रह्मचर्य-साधनाजन्य हैं।

७. इन्द्रिय-संयम के अनुभूत नुस्खे

□ सर्वेन्द्रिय-संयम ब्रह्मचर्य-साधना के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भवन के लिए नींव।

□ इन्द्रियों के साथ विषयों का संयोग होने पर मनुष्य मन और बुद्धि को भी इसी ओर लगा देता है, तब अनेकों दुःखों का सूत्रपात होता है।

□ ये कामभोग क्षणमात्र सुख देने वाले, किन्तु बहुत काल तक दुःख देने वाले हैं।

□ ये जो इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग (संस्पर्श) से होने वाले सब भोग हैं, वे निःसन्देह दुःख के ही हेतु हैं और अनित्य हैं। बुद्धिमान विवेकी पुरुषों को उनमें रमण नहीं करना चाहिए।

□ जैसे किम्पाकफलों के सेवन का परिणाम अच्छा नहीं होता; वैसे ही इन विषय-भोगों के सेवन का परिणाम अच्छा नहीं होता।

☐ जो काम-भोग की इच्छा (लालसा) करते है, वे उन्हें प्राप्त किये बिना ही दुर्गति में जाते हैं।

☐ ब्रह्मचर्य के स्वरूप से अनभिज्ञ होकर यदि साधक केवल जननेन्द्रिय-संयम करके शेष इन्द्रियों को खुली छूट दे देता है, तो वह ब्रह्मचर्य-साधना से भ्रष्ट हुए बिना न रहेगा।

☐ इन्द्रियों को जीतने का एकमात्र यथार्थ उपाय है—एक साथ सबको जीतने का प्रयत्न करना।

☐ यदि एक इन्द्रिय का भी असंयम हुआ तो ब्रह्मचर्य-घट खाली हो जाएगा।

☐ इन्द्रियों के द्वार खुले रखकर उन पर निगरानी न रखी जाए तो उनमें भी विकाररूपी चोर घुसकर ब्रह्मचर्यरूपी धन को चुरा ले जायेंगे।

☐ सर्वेन्द्रिय-संयम के लिए कुसंगति, कुग्रंथ (अश्लील ग्रंथ) वाचन-श्रवण या अब्रह्मचर्य के कार्यों में प्रवृत्ति से दृढ़तापूर्वक दूर रहना होगा।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक को सर्वेन्द्रिय-संयम का अभ्यास करने के लिए अपनी इन्द्रियों को पवित्रता के वातावरण में, अच्छे कार्य में लगाये रखना चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक गंदे, अपवित्र वातावरण से तुरन्त विमुख हो जाए।

☐ इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाने का उपाय प्रतिसंलीनता है।

☐ पाँचों इन्द्रियों का बाह्य जगत् से जो सम्पर्क है, घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसे विच्छिन्न कर डालना ही इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का उद्देश्य है।

☐ इन्द्रियाँ सहजतया बाहर दौड़ती हैं, उन्हे अन्तर्मुखी बनाना ही प्रतिसंलीनता है।

☐ इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के दो मार्ग हैं—विषय-प्रचार का निरोध और राग-द्वेष पर संयम।

☐ योग-मुद्रा, षटकर्णी मुद्रा या 'सर्वेन्द्रिय विषयोपराम मुद्रा' का तीव्र अभ्यास हो जाने से इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से अपना सम्पर्क छोड़ देती हैं।

☐ आत्मा का आनन्द तो विषयानन्द से कई गुना बढ़कर है।

☐ आत्मानद में अनुपम अनूठे शाश्वत स्वाधीन आनन्द का अनुभव होता है। अपूर्व सुख की प्रतीति होती है, प्रसन्नता होती है, तृप्ति मिलती है।

☐ मनोनिग्रह के मामले में बड़े-बड़े योगी, साधक भी हार खा जाते हैं। मन की शक्ति से भी अधिक शक्ति मनुष्य की आत्मा में है।

☐ मन को जीतने के लिए आत्मा को दो महान् शस्त्रों का सहारा लेना होगा। ये है अभ्यास और वैराग्य।

☐ अभ्यास का अर्थ है—सतत् प्रयत्न करना, अहर्निश जागरूक रहने का प्रयास करना, और वैराग्य का अर्थ है—इन्द्रियों के अतीत-अनागत-वर्तमान प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयों के प्रति लालसा, तृष्णा और आसक्ति से दूर रहना।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक यदि आकर्षणों—प्रलोभनों के या लुभावने मोहक विषयों के प्रति जागरूक रहने का सतत अभ्यास करे और इनके प्रति विरक्त रहे तो अवश्य ही मनोविजय कर सकता है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक में यदि प्रलोभनों से बच निकलने का धैर्य नहीं है तो उसका मन शीघ्र ही अब्रह्मचर्य की ओर फिसल जाएगा।

☐ मंत्राराधना के द्वारा व्यक्ति अपनी ऊर्जा को इतना प्रबल बना देता है कि बाहर के वायुमण्डल में फैले हुए बुरे विचारों के परमाणु उसके मन-मस्तिष्क में प्रवेश ही नहीं कर सकते, न ही उसे प्रभावित कर पाते हैं।

☐ पवित्र मंत्र का आराधन दुर्विचारों या कामविकारों से मन-मस्तिष्क की रक्षा करने का सर्वोत्तम और निरवद्य उपाय है।

☐ अध्यात्ममंत्र की साधना करनेवाला धर्म-शुक्ल ध्यान से भी अपने शरीर, मन और मस्तिष्क की पूरी सुरक्षा कर सकता है।

८. काम-विजय के अनुभूत उपाय

☐ काम-विजय के बिना ब्रह्मचर्य-साधना सुरक्षित नहीं रह सकती, क्योंकि कामभाव मानव के लिए एक विषम पहेली बना हुआ है।

☐ कामभाव पर विजय पाने में ब्रह्मचर्य साधक की शारीरिक एवं सामरिक (शस्त्रास्त्र की) शक्ति ही नहीं, आत्मशक्ति की परीक्षा होती है।

☐ सशस्त्र सेना के द्वारा विश्व पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा उच्छृंखल कामवासना पर विजय पाना अधिक कठिन है।

☐ तथागत बुद्ध ने कामवासना सम्बन्धी सभी प्रकार के कलुषित

विचारों को कामवितर्क कहा है, जिसमें कामवासना के नाना रूप, नाना भाव-विभाव, लक्षण और दुःखद वितर्क हैं।

☐ कामवितर्कों का यह स्वभाव है कि कामोपभोग से वे शान्त नहीं होते। कामवासना की पूर्ति में मनुष्य अशान्त और दुःखी होता है।

☐ यों तो काम-तृप्ति पूर्णतया वृद्ध हो जाने तक भी नहीं होती। यह तो एक ऐसी अग्नि है, जो सदा धधकती रहती है।

☐ 'काम' को संस्कृत में 'मनसिज' एवं 'मनोज' कहा गया है।

☐ काम-तृप्ति काम-विजय का उपाय कभी नहीं हो सकता।

☐ प्रत्यक्ष मैथुन में जितना वीर्य नष्ट होता है, उसकी अपेक्षा मानसिक मैथुन में अनेकगुना अधिक वीर्य नष्ट होता है।

☐ काम-चिन्तन भी अत्यधिक अनिष्टकर है तथा भयंकर उत्पात का कारण है।

☐ कामासक्त नारी या नर अपनी संतान की हत्या करने से भी नहीं चूकते।

☐ निःसन्देह कामवासना पिशाचिनी शरीर का शोषण करके मनुष्य के लोक-परलोक को बिगाड़ देती है।

☐ कामविकारजन्य दुर्विचारों को ब्रह्मचर्यजन्य सद्‌विचार रूपी सेना से परास्त करना चाहिए।

☐ कामशक्ति को नियंत्रण में रखने के लिए शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियों के साथ कठोर संघर्ष करना होता है, इनकी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी आत्ममुखी बनाना होता है।

☐ कामविकार मन में उत्पन्न होते ही उसके साथ शीघ्र असहकार करना चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक का रुख विकारों के प्रति सहकार का नहीं, असहकार करते हुए उन्हें मिटाने का रहे।

☐ कामवासना का सर्वथा दमन अत्यन्त कठिन है। दमन-प्रयोग से कामवासना से सर्वथा मुक्ति पा लेना और भी कठिन है।

☐ कामवासना से मुक्ति पाने का सरल उपाय है, इसका शमन करना। शमन के मार्ग में खतरे कम है, और सुगमता अधिक है। इससे ब्रह्मचर्य-साधना जितनी सहज हो सकती है, उतनी दमन से नहीं।

☐ कामशमन का अर्थ है—कामवासना के उद्दीप्त होते ही उपयोगी लोकहित या आत्महित का विचार करके उसे पवित्र उपायों से शान्त कर देना, उसके प्रवाह में नही बहना।

☐ जब भी मन में तीव्र कामवासना भड़क उठे, ब्रह्मचर्यसाधक को मन ही मन किसी पूज्य गुरुजन का ध्यान करके उनके निकट उपस्थित होने की कामना करनी चाहिए।

☐ तीव्र कामवासना मन में उदित होने पर वैदिक आचार्य गायत्री मंत्र का जाप करने और जैनाचार्य पंचपरमेष्ठी मंत्र का जाप करने का निर्देश करते हैं।

☐ जो साधक परमात्मा के चरणों में अपना जीवन समर्पित कर देता है, अथवा अपना जीवन परमात्ममय बनाने में लगा देता है, उसके समस्त कामविकार सहज ही दग्ध हो जाते हैं, उस व्यक्ति के काम का सहज ही शमन हो जाता है।

☐ मन में कामवासना उठने लगे तो तत्काल अपने इष्टदेव का स्मरण अथवा अपनी माता का ध्यान करना चाहिए।

☐ 'काम' को जीतने के लिए ब्रह्मचर्य-साधक को ठीक उसके विरोधी भाव को विकसित करने की आवश्यकता है।

☐ **'मातृवत् परदारेषु'**—पूर्ण ब्रह्मचर्य साधक को चाहिए कि समस्त स्त्री जाति को 'माता' के रूप में देखे, बरते तथा तदनुकूल निज आचरण करे।

☐ ब्रह्मचारी साधक को निर्विकार दृष्टि रखकर अपनी निर्विकारता सुरक्षित रखते हुए किसी सुयुक्ति से कामान्ध स्त्री (नारी) के चंगुल से बचना चाहिए।

☐ वैराग्यभाव तीव्र हो जाने से कामज्वर शान्त हो जाता है।

☐ शरीर के समस्त अवयवों को शिथिल करके एकाग्रतापूर्वक ऐसा दृढ़ विचार करो—"मेरे शरीर की कामशक्ति उत्तरोत्तर ऊपर सिर की ओर चढ़ रही है।

☐ विवेकपूर्ण अभ्यास से कामवासना का शमन अनायास ही हो जाएगा।

☐ जहाँ परमात्मभाव है, वहाँ कामभाव को टिकने का अवकाश ही कहाँ है?

☐ मन को एकाग्र करके कोई शुभसंकल्प दृढ़तापूर्वक किया जाय तो कामवासना का उभार शान्त हो जाता है।

☐ यदि खान-पान, मलशुद्धि और वायुविकार की अवृद्धि का ध्यान

रखा जाए, इन बातों में पूर्ण सजग रहा जाए तो कामवासना शान्त हो सकती है।

☐ काम के उचित दमन का एक सात्विक और सहज उपाय है—कामशक्ति का शोधन, अर्थात्—कामशक्ति का सर्वथा बहिष्कार न करके उसका परिष्कार करना।

☐ काम के शमन की अपेक्षा शोधन का कार्य स्थायी रूप से कामविजय कर पाता है।

☐ कामशक्ति यदि धर्मानुकूल हो तो वह शुद्धात्ममय बन जाती है, वह अपनी आत्मा और संसार की आत्माओं के लिए हितकर हो जाती है।

☐ कामशक्ति का प्रवाह धर्म एवं मोक्ष के प्रयोजन से प्रवाहित होने पर उसका भलीभाँति शोधन हो जाता है।

☐ 'काम' तो एक ही है। विकार और वात्सल्य उसके दो रूप हैं। देहदृष्टि से देखने पर वह 'काम' 'विकार' बन जाता है और आत्मदृष्टि से देखने पर वह 'वात्सल्य' बनता है।

☐ विकार का अधिष्ठान देह है जबकि वात्सल्य का अधिष्ठान आत्मा है। विकार व्यक्तिलक्षी होता है, जबकि वात्सल्य समष्टिलक्षी या विश्वलक्षी होता है।

☐ नारी में रही हुई प्रियतमा का त्याग करना है और वात्सल्य को नारी में रही हुई माता को भावपूर्वक अपनाना है। तभी विकारी निमित्तों में भी उसकी ब्रह्मचर्यसाधना सदैव सरलता से हो सकेगी।

☐ कामविकार की वृत्ति पति-पत्नी सम्बन्ध के साथ जुड़ी हुई है, इसी वृत्ति के कारण ममत्व पैदा होता है, यही सारे दुःखों की जड़ है।

☐ कामविकार से मुक्ति पाने के लिए पत्नी-सहित समूची स्त्रीजाति के प्रति मातृभावना रखने की आवश्यकता है।

☐ मातृभावना से मनुष्य विकार से निवृत्त और पवित्रता में प्रवृत्त होता है। यह भावना सुन्दर है, और शुद्ध प्रेम उत्पन्न करने वाली तथा आनन्ददायिनी है।

☐ मातृभावना मोचक है—हमेशा के लिए काम-विकार से मुक्ति दिलाने वाली, मुक्ति का अनुभव कराने वाली भावना है।

☐ मातृभावना महान है। इस भावना से उच्च गुण प्रकट होते हैं। माता महनीय-पूजनीय होने के कारण भी मातृभावना महान् है। इस भावना से ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाने पर यह जीवन के अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष तक ले जाने वाली बनती है।

☐ मातृभावना ब्रह्मचर्य के प्रत्येक कोटि के साधक के लिए संजीवनी बूटी है, जो माता की तरह ब्रह्मचर्य का रक्षण, संवर्द्धन और पोषण करती है।

☐ कामवासना पशुत्व की निशानी है। जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है, वे ही इस कामवासना की पशु-प्रवृत्ति में फँसे रहते हैं।

☐ वासना एक क्षणिक उन्माद है। थोड़ी देर रहने वाली उत्तेजना है।

☐ कामशक्ति के उदात्तीकरण से ब्रह्मचर्य-साधना निराबाध रूप से हो सकती है।

☐ लोक-कल्याण एवं लोकसेवा के कार्यों में पूर्ण तन्मयतापूर्वक संलग्न हो जाने से मनुष्य की कामशक्ति का उदात्तीकरण हो सकता है।

☐ अपने सुख का ध्यान कामुकता है, पर दूसरों के सुख का ध्यान (शुद्ध) प्रेम है।

☐ कामुकता से हम घोर स्वार्थी और संकीर्ण बनते हैं, पर (शुद्ध) प्रेम से हम परोपकारी बनते हैं और स्वयं को दूसरों के लिए खो देना चाहते हैं।

☐ कामरोग से बचने का उपाय दूसरे उपयोगी कार्यों में अति व्यस्त होना है।

☐ जो किसी-न-किसी शुभप्रवृत्ति में संलग्न रहता है, काम को उसे पीड़ित करने का अवसर ही न मिलेगा।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक को भी चाहिए कि वह अपनी रुचि, योग्यता, शक्ति, कार्यक्षमता, प्रतिभा, परिस्थिति और हैसियत के अनुसार किसी न किसी सत्कार्य को ढूंढ़कर उसमें अपने तन, मन, प्राण और आत्मा को सतत् लगाए रखे।

☐ अपने ही जीवन-विकास, ज्ञान एवं साहित्य-सर्जना में एकनिष्ठ होकर उसका सुनियोजन करना काम-भावना का ऊर्ध्वीकरण है। काम-भावना का ऊर्ध्वीकरण भी कामविजय का एक प्रकार है।

☐ कामशक्ति के ऊर्ध्वीकरण से ही मनुष्य शक्तिसम्पन्न, विजयी, सफल एवं जीवन का महान कलाकार बन सकता है। अपना व्यक्तित्व उत्कृष्ट बनाने के लिए भी कामशक्ति का ऊर्ध्वीकरण अनिवार्य है।

☐ कामचक्र के ऊर्ध्वीकरण के बाद साधक के मन में काम-विकारों का उद्भव नहीं होता।

☐ ज्यों-ज्यों वासनाक्षय होता जाता है, त्यों-त्यों आनन्दानुभूति बढ़ती जाती है। उस आनन्दानुभूति का स्रोत इन्द्रिय-सुख न होकर आत्मिक सुख होता है।

☐ कामशक्ति के उचित दमन या शोधन का एक उपाय उसका रूपान्तर करना है। अर्थात् उसके प्रवाह को मोड़ना है। वही कामशक्ति आत्मशक्ति बढ़ाने वाली बन जाती है।

☐ कामशक्ति उच्चतम विषयों में परिवर्तित होकर अद्भुत चमत्कार दिखाती है। साधक की योग्यता, कार्यक्षमता और शक्ति बढ़ा देती है।

☐ वासना एक आँधी और तूफान है। इसके वश में होने से मनुष्य की उच्च शक्तियों का ह्रास होता है। मन की सरस, शान्त, सन्तुलित वृत्ति में चंचलता पैदा होती है।

☐ कलात्मक कार्यों में अपनी कामशक्ति को सुनियोजित करने से गृहस्थसाधक के आत्म-संयम और शक्ति-संचय तो होता ही है, प्रसिद्धि और समृद्धि भी प्राप्त होती है।

☐ कुण्डलिनी जागरण की साधना एक ऐसी साधना है, जिसके माध्यम से कामकला को ब्रह्मविद्या में परिणत किया जा सकता है।

☐ अनियंत्रित काम प्रवृत्ति का निरोध कल्याणकारी है।

☐ कामुकता में संलग्न अन्तःऊर्जा को उस पतन के गर्त से निकालकर ब्रह्मचेतना में—उत्कृष्ट उल्लास-प्रदायिनी ब्रह्मविद्या में नियोजित करना चाहिए।

☐ लोक मनोवृत्तियों को परिष्कृत करने के प्रयत्न किये जाएँ तो काम-विजय करने में ब्रह्मचर्य-साधकों को बहुत बड़ा सहारा मिलेगा।

☐ काम-विजय अतीव दुष्कर अवश्य है, परन्तु अशक्य नहीं है। जो काम को जीत लेता है, वह संसार को जीत लेता है और दुस्तर संसार सागर को पार कर लेता है।

☐ कठिनतर काम पर विजय प्राप्त करने में धैर्य की अत्यन्त आवश्यकता है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक को कामरूपी व्याधि को मिटाने के लिए पथ्य-पालन

और कुपथ्यों का त्याग करने को तत्पर रहना चाहिए तभी कामविजय हो सकेगा।

६. ब्रह्मचर्य-साधना एवं योगाभ्यास

☐ भारतीय योगशास्त्र में ब्रह्मचर्य-साधना की सिद्धि के लिए आसन, प्राणायाम और नियम—तीन साधन मुख्य हैं।

☐ आसनों को ब्रह्मचर्य-साधना का मेरुदण्ड कह सकते हैं।

☐ तभी ब्रह्मचर्य-साधना सिद्ध और सुदृढ़ हो सकती है, जब आसनों का व्यवस्थित और नियमित रूप से विधिवत् ज्ञानपूर्वक अभ्यास किया जाए।

☐ आसनों का नियमित अभ्यास करने से शारीरिक-मानसिक लाभ के अतिरिक्त पारमार्थिक एवं आध्यात्मिक लाभ भी मिलता है।

☐ आसनों का अभ्यास करने के लिए खुला स्थान होना आवश्यक है।

☐ आसनों का सर्वश्रेष्ठ समय ब्राह्ममुहूर्त अर्थात्—सूर्योदय से प्रायः दो घण्टे पूर्व है।

☐ आसन के समय खाली पेट होना अनिवार्य है।

☐ आसन के अभ्यास के समय श्वास-प्रश्वास की गति स्वाभाविक रखनी चाहिए। आसन करते समय मुँह से कभी श्वास नहीं खींचनी चाहिए।

☐ प्रत्येक आसन के साथ-साथ उससे विपरीत दशा का आसन भी करना चाहिए।

☐ अभ्यासकर्ता को अनुकूलता के अनुसार आसनों का क्रम निर्धारित करना चाहिए। अत्यन्त रुग्णावस्था में आसनों का अभ्यास करना हानिकारक होगा।

☐ प्रत्येक आसन के पश्चात् कम से कम आसन का आधा समय शवासन में रहकर फिर अन्य आसन करना चाहिए।

☐ आसन करते-करते पसीना निकले तो सूखे तौलिए से शरीर पौंछ लिया जाए।

☐ आसन करने के पश्चात् तुरन्त ठण्डे पानी से स्नान करना अत्यन्त हानिकारक होता है।

☐ आसन करने के वाद तत्काल कुछ खाना-पीना भी हानिकारक है।

☐ आसनों के अनेक लाभ वताए गए हैं। मुख्य लाभ ये हैं—शरीर में स्वस्थता, शक्ति, स्फूर्ति, कान्ति, वीर्य की स्थिरता, स्तम्भन, शोधन आदि।

☐ शीर्षासन सभी आसनों का राजा है।

☐ शीर्षासन करते समय प्राणायाम क्रिया पर ध्यान दिया जाए, अन्यथा पूर्ण लाभ न हो सकेगा।

☐ रक्ताभिसरण को ठीक स्थिति में लाने के लिए शीर्षासन के वाद सीधा खडा रहना आवश्यक है।

☐ शीर्षासन से मस्तिष्क को खुराक मिलती है। दिमागी ताकत बढ़ जाती है। इससे वीर्यदोष, रक्तविकार, मिर्गी, कुष्ट, मस्तिष्क एव नेत्रों की दुर्वलता आदि दोष दूर हो जाते हैं।

☐ शीर्षासन करने से मनुष्य ऊर्ध्वरेता वन सकता है। शरीर तेजस्वी वन जाता है। इससे शीघ्र बुढ़ापा नहीं आता। आयु बढ़ती है। पाचनशक्ति वढ़ती है। यह सुख-शान्ति देने वाला आसन है।

☐ सिद्धासन–अलौकिक सिद्धियों में सहायक होने के कारण इस आसन को सिद्धासन कहते है। यह वीर्य सम्बन्धी विकारों को नष्ट करने में भी वहुत वड़ा सहायक है।

☐ सिद्धासन से विचार पवित्र वनते हैं। वीर्य की रक्षा होती है। स्वप्नदोष नही होता। कुण्डलिनी जागृत करने की लक्ष्यसिद्धि के लिए यह आसन प्रथम सोपान है।

☐ सिद्धासन के निरन्तर अभ्यास से कामोत्तेजना (वासना) नष्ट हो जाती है। इसलिए ब्रह्मचर्य-साधना मे सफलता के लिए यह आसन अतीव उपयोगी है।

☐ सिद्धासन सिद्ध करने के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। भोगी पुरुष के लिए यह हानिकारक भी हो सकता है। अतः इसमें विवेक तथा सावधानी अपेक्षित है।

☐ पद्मासन—चंचल मन को स्थिर करने के लिए यह आसन वहुत अच्छा है। वीर्यरक्षा के लिए भी यह आसन उपयोगी है। ध्यान लगाने के लिए यह आसन अति लाभदायक है।

☐ स्वस्तिकासन में मन शान्त और स्थिर हो जाता है। चंचलता दूर होती है। प्रभु भजन में मन लगता है।

□ सर्वांगासन—हठयोगविज्ञों ने इस आसन को चन्द्रामृत रसायन बताया है। इससे स्वप्नदोष दूर होता है।

□ वज्रासन करने से श्वास की गतिक्रिया मन्द होने से आयु बढ़ती है। वीर्य की गति ऊर्ध्व होने से शरीर वज्र-सा बन जाता है।

□ ध्यान लगाने के लिए वज्रासन उत्तम है। योगियों के लिए यह सिद्धिदायक आसन है।

□ कुक्कुटासन से स्नायुओं पर दबाव पड़ता है। मन शक्तिशाली और प्रसन्न होता है, कामवासना क्षीण होती है।

□ आसन के समान प्राणायाम भी ब्रह्मचर्य-साधना के लिए बहुमूल्य साधन है।

□ प्राणायाम श्वास-प्रश्वास का व्यायाम है। प्राणवायु को एक बार खींचने, रोकने और बाहर निकालने को एक प्राणायाम कहते हैं।

□ प्राणायाम शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य एवं ब्रह्मचर्य की साधना के लिए अतीव हितकारक है, बशर्ते कि वह गुरुनिर्दिष्ट रीति से विधिपूर्वक किया गया हो।

□ प्राणायाम विधिपूर्वक नियमित करने से भयंकर से भयंकर रोगी भी रोगमुक्त और व्यभिचारी भी ब्रह्मचारी बन सकता है।

□ प्राणायाम ही सर्वोत्तम जीवन संवर्द्धक है। अतः प्राणायाम ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उत्कृष्ट साधन है।

□ वीर्य के ऊर्ध्वीकर्षण का संकल्प जितना दृढ़ और स्पष्ट होगा, उतनी ही काम-वासना कम होती जाएगी।

□ सभी प्रकार के 'प्राणायाम' ब्रह्मचर्य-साधना को सुदृढ़, परिपक्व और आसान बनाने में अत्यन्त उपयोगी साधन हैं।

□ आसन और प्राणायाम के बाद 'नियम' ब्रह्मचर्य-साधना में बहुत ही सहायक साधन हैं।

□ ब्रह्मचर्य-साधक के लिए सबसे बड़ा नियम प्रार्थना है। प्रभु-प्रार्थना के नियम का पालन करने से ब्रह्मचर्य के साथ-साथ अन्य कार्यों की सफलता-प्राप्ति में भी सहायक मिलती है।

□ प्रभु-नाम-स्मरण एकाग्रतापूर्वक करने से अचूक रूप से काम से ब्रह्मचर्य-साधक की रक्षा हुई है।

□ दृढ़निश्चय के बल से ब्रह्मचर्य-पालन में प्रतिबन्धक तमाम विघ्न दूर हो सकते है।

□ आत्मकथन (आत्मा के शुद्धस्वरूप के उच्चारण) से साधक अब्रह्मचर्य के प्रसंग पर भी ब्रह्मचर्य पर दृढ़ रहता है।

□ पवित्र मातृभाव-दृष्टि के प्रभाव से ब्रह्मचर्य-साधक में इतनी पवित्रता आ जाएगी कि वह जरा भी विचलित न होगा।

□ ब्रह्मचारी को किसी भी कामोत्तेजक कुदृश्य को देखने का त्याग अवश्य करना चाहिए।

□ ब्रह्मचारी को अपना रहन-सहन सादा रखना चाहिए। सादगी ही बड़प्पन का चिन्ह है।

□ सादगी ही जीवन है, सजावट (कृत्रिमता) ही नाश है।

□ आत्मोन्नति एवं आत्मसंयम के लिए सत्संग सर्वश्रेष्ठ उपाय है। जहाँ सत्संग से मनुष्य देवता बनता है, वहाँ कुसंग से वह राक्षस हो जाता है।

□ सदाचारी और निष्कलंक पुरुषों का सत्संग करने के लिए नियमबद्ध होना चाहिए, दुराचारी और दुर्जन पुरुषों के कुसंग से सदा बचना चाहिए।

□ प्रतिदिन पवित्र ग्रन्थों के स्वाध्याय का, पठन-पाठन का नियम ब्रह्मचर्य-साधना को परिपुष्ट करने वाला है।

□ ब्रह्मचर्य-वृक्ष के लिए कुग्रन्थ अग्नि के समान है।

□ ब्रह्मचारी को सदैव दुर्व्यसनों का त्याग करना चाहिए। सातों ही कुव्यसन ब्रह्मचर्य व्रत के शत्रु हैं।

□ ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए आहार-सयम बहुत आवश्यक है।

□ शरीर टिकाने एवं संयम-पालन के लिए अथवा सिर्फ जीने के लिए या क्षुधानिवारण के लिए ही आहार ग्रहण करना ब्रह्मचारी के लिए उचित है।

□ ब्रह्मचारी को स्वाद जीतना अनिवार्य है। जो स्वाद नहीं जीत सकता, वह पचेन्द्रिय और मन के विषयों पर विजय प्राप्त नही कर सकता।

□ उपवास आदि तप के बिना विषयासक्ति का जड़-मूल से नाश नहीं होता।

□ एक बार सादा सुपाच्य आहार करने वाला महात्मा है, दो बार

सम्हल-सम्हल कर थोड़ा-थोड़ा आहार करने वाला बुद्धिमान और भाग्यवान है और इससे अधिक खाने वाला मूर्ख और पशुतुल्य है।

☐ कोष्ठबद्धता के कारण आँतों में इकट्ठी हुई विष्ठा वीर्याशय पर दवाब (चाप) डालती है और विषयवासना उत्पन्न करती है।

☐ मूत्र को रोकने से भी वीर्यविकार बढ़ता है। रोगी पुरुष ब्रह्मचर्य की साधना में सफल नहीं हो सकता।

☐ ब्रह्मचारी के लिए नियमितता बहुत ही आवश्यक है। उसका प्रत्येक कार्य उचित समय पर होना चाहिए।

☐ नियत समय पर नियत कार्य न करने से दिमाग पर चिन्ता का बोझ बना रहेगा, जिससे स्वप्नदोष होकर वीर्यपात भी हो सकता है।

☐ ब्रह्मचारी को नियत समय पर प्रतिदिन नियमित रूप से आसन और प्राणायाम अवश्य करने चाहिए। सूर्यस्नान और घर्षणस्नान लेना भी लाभदायक होता है।

☐ ब्रह्मचारी को अपने तन-मन की पवित्रता, वीर्यरक्षा एवं स्वस्थता के लिए रात में जल्दी सोना और प्रातः जल्दी उठना चाहिए।

☐ ब्रह्मचारी साधक को प्रातःकाल शुद्ध हवा में वायु-सेवनार्थ नियमित भ्रमण करना भी हितावह है।

☐ ब्रह्मचारी को सदा अकेला ही सोना चाहिए, उसे कदापि वीर्यपात नहीं करना चाहिए। जो कामवासनावश वीर्यपात कर देता है, वह अपने व्रत को नष्ट करता है।

☐ जहाँ प्राकृतिक प्रकाश एवं हवा का अवागमन हो, ऐसे स्थान में रहने से ब्रह्मचारी को आरोग्य, मनोनिग्रह, बल, वीर्य, तेज वगैरह प्राप्त होते हैं।

☐ ब्रह्मचारी को अपने तन-मन को पवित्र एवं स्फूर्तिमान रखने के लिए तन से यथाशक्ति कोई न कोई उपयोगी श्रम करना उचित है।

☐ ब्रह्मचारी साधक को अपने जीवन को शुद्ध एवं उन्नतिशील रखने के लिए अपनी दिनचर्या का अवलोकन करना चाहिए। अपनी दैनिक चर्या लिखने (डायरी लिखने) का भी अभ्यास करना चाहिए।

☐

१०. ब्रह्मचर्य-साधना के चार स्तर

☐ ब्रह्मचर्य-साधना के मुख्यतया चार स्तर इस प्रकार हैं—(१) पूर्ण अखण्ड (सर्वविरति) ब्रह्मचर्य (महाव्रत), (२) गृहस्थाश्रम में रहते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य, (३) श्रावक का देशविरति ब्रह्मचर्य, (४) नैतिक दृष्टि से आंशिक ब्रह्मचर्य।

☐ पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्य को सर्वमैथुनविरमण अथवा नवकोटि से पूर्ण ब्रह्मचर्य या सर्वविरति ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

☐ दूसरे स्तर के आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले नर-नारी समाज या गुरुजन के समक्ष प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं।

☐ इस कोटि के ब्रह्मचारी को अपनी पत्नी को ही नहीं, संसार की समस्त नारियों को मातृतुल्य देखना, मातृभाव की दृष्टि रखना अनिवार्य है।

☐ ऐसे परिपूर्ण ब्रह्मचारी को वैदिक परम्परा में 'वानप्रस्थाश्रमी' कहा है।

☐ ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक या वानप्रस्थी को अपनी ब्रह्मचर्य-साधना को विशुद्ध, निराबाध, एवं परिपक्व बनाने के लिए समाजसेवा, राष्ट्रसेवा, धर्मसंघ-सेवा, रुग्णसेवा अथवा पीड़ित-पददलित जनों आदि की सेवा का संकल्प लेना चाहिए।

☐ देशविरति ब्रह्मचर्य का पालन सभी विवाहित स्त्री-पुरुष कर सकते हैं।

☐ प्रत्येक सद्गृहस्थ के लिए देशविरति ब्रह्मचर्य का पालन करना नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से उचित व आवश्यक है।

☐ विवाह असीम वासना का सेवन करने के लिए नहीं, बल्कि असीम वासनाओं को सीमित, एक पत्नी (या एक पति में) केन्द्रित करने का मार्ग है।

☐ विधिवत् विवाह में नैतिकता है। विवाह वासना की ओर बढ़ने का कदम नहीं, प्रत्युत अन्त में पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर गति करने का कदम है।

☐ दाम्पत्य-जीवन का चरम उद्देश्य पति-पत्नी दोनों मिलकर धर्मपालन द्वारा आत्मोन्नति या मुक्ति है।

☐ विवाह-प्रथा का प्रचलन न होता तो संसार में, मानवजाति में

अराजकता, पशुता, स्वच्छन्दता, परस्पर मार-काट एवं अशान्ति का बोल-बाला होता।

☐ विवाहप्रथा बन्धन नहीं, अपितु दायित्व एवं कर्तव्य का वहन करना है।

☐ विशेष रूप से अपने जीवन की आहुति देकर भी स्त्री को पुरुष के धर्मपालन में सहचारिणी और पुरुष को स्त्री के धर्मपालन में सहचर बनने का दायित्व निभाना ही विवाह है।

☐ विवाह दुर्विषयभोग की इच्छा को बढ़ाने या सिर्फ दुर्विषयभोग सेवन के लिए नहीं है, अपितु पूर्ण ब्रह्मचर्यपालन की क्षमता प्राप्त करने के लिए है।

☐ गृहस्थाश्रम का लक्ष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करना है। वहाँ पत्नी केवल भोगवासना-पूर्ति की पुतली नही, अपितु धर्म-पत्नी है, पूर्ण ब्रह्मचर्य मार्ग पर गति कराने में सहायिका है।

☐ स्वदारसन्तोषव्रत ग्रहण करने से दाम्पत्य कलह नहीं होता। परलोक में उत्तम गति, यहाँ तक कि मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

☐ जो व्यक्ति विवाह न करके स्वस्त्री-परस्त्री का भेद नहीं करता, स्वैराचारी है, वह सन्तान के सुसंस्कारों की भयंकर हत्या कर देता है। सारी सांस्कृतिक परम्परा को मटियामेट कर देता है।

☐ परस्त्रीगामी पुरुष का जीवन कलंकित, दूषित, पापपूर्ण एवं क्रोध, दैन्य, लोभ, भय, शोक, अपमान, रोग एवं चिन्ता से सदा ग्रस्त रहता है।

☐ अपुत्र को सुगति या देवगति नहीं मिलती, इस बात में कोई तथ्य नही है। ब्रह्मचर्य के विशुद्ध पालन से मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है।

☐ सन्तानैषणा के पीछे वंश और कीर्ति स्थायी बनाने की जो कामना है, वह भी निरर्थक है। इसलिए सन्तानैषणा की दृष्टि से भी विवाह करना अनिवार्य नहीं है।

☐ ब्रह्मचारी को सन्तान या ससार की इच्छा नहीं होती, न इसकी उत्पत्ति या वृद्धि के लिए वह अपने ब्रह्मचर्य को खण्डित कर सकता है।

☐ सभी व्यक्तियों के लिए विवाह करना आवश्यक नही है।

☐ स्वदारसन्तोषव्रत में स्वच्छन्दता, निरंकुशता या उच्छृंखलता को कोई स्थान नहीं है।

☐ तब तक किसी को सन्तानोत्पत्ति करने का अधिकार नहीं है, जब तक दरिद्रता, भुखमरी, अकाल और बड़े-बड़े दुःसाध्य रोगों (हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि) से निपटने की योग्यता और क्षमता न हो।

☐ सन्ततिनिरोधक कृत्रिम साधनों का समर्थन करना मानो पापपथ की ओर जाने के लिए लोगों को उत्तेजना देना है। इससे स्त्री-पुरुष उच्छृंखल हो जाते हैं।

☐ स्वदारसन्तोषव्रती सद्गृहस्थ दम्पत्ति के लिए तो स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य पालन करना ही सन्ततिनिरोध का सर्वोत्तम उपाय है, यही सबसे सुन्दर साधन है।

☐ विवाहित और अविवाहित दोनों प्रकार के लोगों में ब्रह्मचर्य की भावना जगाना ही सन्ततिनिरोध का एकमात्र ऊँचा और सीधा रास्ता है।

☐ ब्रह्मचर्य साधना के चतुर्थ स्तर में वे स्त्री-पुरुष आते है जो नैतिक दृष्टि से, लोकलज्जा से, समाजभय से, कुल-परम्परा के कारण अथवा धर्माराधना आदि के उद्देश्य से मर्यादित या पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

☐

११. ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के मूलमंत्र : नवबाड़

☐ ब्रह्मचर्य-साधक का जीवन एक उद्यान है, उसमें ब्रह्मचर्य एक कल्पवृक्ष के समान है जिसका सम्यक्त्वरूपी दृढ़ मूल है। मोक्षसुख उसके फल है।

☐ साधु-साध्वी जीवन-उद्यान में उत्पन्न इस ब्रह्मचर्य-कल्पतरु के प्रमुख माली या रक्षक हैं। इसके सहायक रक्षक है—श्रावक-श्राविकागण।

☐ जैनशास्त्रों में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा पूर्णरूप से करने के लिए प्रमुख दो मार्ग बताये गये हैं—ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग।

☐ ज्ञानमार्ग ब्रह्मचर्य साधना को सरल और स्वाभाविक बनाने का मार्ग है परन्तु क्रियामार्ग को अपनाये बिना अकेला ज्ञानमार्ग पंगु है।

☐ ज्ञानमार्ग ब्रह्मचर्य-साधक के काम-संस्कारों को निर्मूल करने का

विधेयात्मक मार्ग है और क्रियामार्ग प्रायः ब्रह्मचर्य सुरक्षा का निषेधात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है।

☐ क्रियामार्ग द्वारा ब्रह्मचर्य औपशमिक भाव से सिद्ध होता है, जबकि ज्ञानमार्ग द्वारा वह क्षायिक भाव से सिद्ध होता है।

☐ ब्रह्मचर्यरूपी बाल-पौधे की सुरक्षा के लिए बाड़ की नितान्त आवश्यकता है। अन्यथा इन्द्रियविषयरूपी पशु घुसकर ब्रह्मचर्यरूपी पौधे को नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं।

☐ जो साधक नौ गुप्तियों का यथाविधि पालन नहीं करता, उसका ब्रह्मचर्य आंशिक रूप से या सर्वांशतः भंग हो सकता है।

☐ ब्रह्मचारी-साधक वर्ग को संयमपालन के लिए शान्त, एकान्त, कोलाहल-रहित आवास स्थान की नितान्त आवश्यकता रहती है। इसीलिए प्रथम गुप्ति का नाम 'विविक्त शयनासन' दिया है।

☐ विविक्त के तीन अर्थ अभिप्रेत हैं–(१) एकान्त (२) जनसम्पर्करहित और (३) पवित्र।

☐ निर्ग्रन्थ के द्वारा स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त शयनासनादि के सेवन से (मानसिक) शान्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। और वह निर्ग्रन्थ केवलि-प्ररूपति धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

☐ मैं विद्वान या जितेन्द्रिय हूँ, ऐसा समझकर स्त्रियों के निकट नहीं बैठना चाहिए; क्योंकि विद्वान हो या मूर्ख देहधर्म से काम-क्रोध के वशीभूत शरीर को स्त्रियाँ कुमार्ग पर ले जाने में समर्थ हैं।

☐ स्त्री-कथा भी ब्रह्मचर्य के लिए खतरनाक है। ब्रह्मचर्यरत भिक्षु मन में आल्हाद (चंचलता) उत्पन्न करने वाली एवं कामराग बढ़ानेवाली स्त्री-विपयक-कथाएँ न करे।

☐ यद्यपि साधु का उपदेश सबके लिए है, किन्तु वह काम और मोह के वशीभूत होकर अपना उपदेश एकान्त में—केवल स्त्रियों के बीच वैठकर न करे।

☐ नारी के रूप की प्रशंसा करने या सुनने से विषय-विकार की वृद्धि होती है, ज्ञान-ध्यान से मन उचट जाता है, मन में अधीरता पैदा होती है, अपने या दूसरे के भ्रष्ट होने की आशंका होती है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक को नारी के साथ एक आसन पर न बैठना चाहिए। एक आसन पर बैठने से नारी का संस्पर्श या शरीर-सम्पर्क होने से विषय रस की जागृति होती है। विषय-रस की जागृति से ब्रह्मचर्य व्रत सर्वथा भंग हो जाता है।

☐ स्त्रीवेद और पुरुषवेद के पुद्गलो के स्पर्श से बचना ब्रह्मचारी साधक के लिए उपयोगी और आवश्यक माना गया है।

☐ सूत्रकृतांग के अनुसार कोई चाहे कितना ही बड़ा तपस्वी क्यों न हो, यदि स्त्री-स्पर्श करता है तो उसका मनोबल क्षीण हुए विना नही रहता।

☐ आत्मगवेषक ब्रह्मचारी साधक के लिए स्त्री-संसर्ग (स्त्रीसंस्पर्श) तालपुट विष के समान घातक है।

☐ नारी के स्पर्श से, संसर्ग से अथवा उसके साथ एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण नाश होने की सम्भावना है।

☐ ब्रह्मचर्य के नैष्ठिक और तपे-तपाए साधक भी स्त्री-सस्पर्श एवं संसर्ग से सदैव बचते आए हैं, कदाचित् भूल से कोई स्त्री भक्तिवश स्पर्श भी कर लेती है तो वे उसका प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्धि कर लेते हैं।

☐ ब्रह्मचर्य में रत व्यक्ति स्त्रियों के साथ संवास, अत्यधिक परिचय एवं वार-वार घुट-घुटकर वार्तालाप का सदैव परिवर्जन करे।

☐ जो ब्रह्मचारी अनगार स्त्रियों के साथ अत्यधिक परिचय या मेल-जोल करता है, वह समाधियोगों से भ्रष्ट हो जाता है।

☐ आत्महितैपी साधक साक्षात् स्त्री की ओर ताककर देखना तो दूर रहा, दीवार (भित्ति) पोस्टर, कागज या काष्ठ पर अंकित सुअलंकृत नारी की ओर गृद्धदृष्टि से ताककर न देखे।

☐ प्रणीत आहार कामोत्तेजक होता है। इसलिए ब्रह्मचर्यरत भिक्षु ऐसे भोजन-पान से सर्वथा दूर रहे।

☐ सयमी को वैसा ही आहार करना चाहिए, जिससे संयम यात्रा का निर्वाह हो, मोह और काम का उदय न हो और वह ब्रह्मचर्य धर्म से न गिरे।

☐ ब्रह्मचारी कामोद्दीपक आहार न करे।

☐ निर्ग्रन्थ अति मात्रा में आहार न करे।

☐ अधिक आहार करने से मनुष्य दुःखी होता है। उसके रूप, वल,

कांति, ओज और गात्र क्षीण हो जाते हैं। उसे प्रमाद, निद्रा, आलस्य और दीर्घसूत्रता घेर लेते हैं।

☐ अत्यधिक आहार करने वाला व्यक्ति धर्मध्यान से कोसों दूर हो जाता है।

☐ साधक देह में रहता है, तब देह के प्रति ममत्व बढ़ जाता है और विभूषा का भाव प्रबल हो जाता है; जब आत्मा में रहता है, तब देहाध्यास क्षीण होता चला जाता है। ऐसी स्थिति में विभूषा का भाव स्वतः छूटता जाता है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक को बाहर के कौतुक एवं आकर्षण के प्रति युक्त नहीं होना चाहिए।

☐ साधक आत्मा के साथ मन को जोड़ दे, तथा वाणी और शरीर से उसका सम्बन्ध तोड़ दे। देह और वाणी की प्रवृत्ति जितनी कम होगी, उतना ही मन शान्त और भ्रान्तिरहित होगा, और उतना ही देहाध्यास से रहित होगा।

☐ देहाध्यास (बाहरी वस्तुओं के प्रति आकर्षण, ममत्व) जितना तीव्र होगा, उतनी ही विभूषावृत्ति होगी।

☐ विवेक और व्युत्सर्ग, इन दोनों का बार-बार अभ्यास ही देहाध्यास से छूटने का उपाय है।

☐ देहाध्यास छूटे बिना विभूषा के भाव न जगें, यह आकाशकुसुमवत् है।

☐ आध्यात्मिक भाषा में कहें तो विभूषावृत्ति कुशीलता का द्योतक है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श; इन्द्रियों के इन पाँच प्रकार के विषयों (कामगुणों) का सदा के लिए परित्याग कर दे।

☐ जो साधक मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि विषयों के प्रति राग-द्वेष नहीं करता, इन दोनों में सम रहता है, वही वीतराग है।

☐ इन्द्रिय और मन के विषय रागी मनुष्य को ही दुःख के हेतु होते है, ये विषय वीतराग को कदापि किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचा सकते।

☐ विषयों से विरक्त पुरुष शोकरहित होता है। वह सर्वथा कृतकृत्य

हो जाता है। ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों से रहित वह वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निर्मोह, निरन्तराय हो जाता है।

☐ कामिनियों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के रस का पान करने की लालसा ब्रह्मचारी में नहीं होनी चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक को पल-पल में भारण्डपक्षीवत् सावधान रहना चाहिए।

☐ काम पुरुष का अतिवलवान शत्रु है। दृढ़तारूपी तीक्ष्ण वाण से इस महारिपु को मारना चाहिए।

☐ जो वाड़ें या नियम सर्वविरति ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी के लिए वताये है, देशविरति ब्रह्मचारी को उनका सर्वथा नहीं तो, आंशिक रूप से ही पालन करना चाहिए।

☐ देशविरति ब्रह्मचर्यव्रतधारी श्रावक-श्राविका के लिए यह भी आवश्यक है कि वे केवल स्पर्शेन्द्रियजन्य वासना पर ही नहीं, प्रत्युत अन्य इन्द्रियों पर भी नियन्त्रण रखे।

☐ देशविरति ब्रह्मचारी नर-नारियों को विषय-वासनोत्तेजक कार्यों को प्रोत्साहन या प्रेरणा नहीं देनी चाहिए।

☐ ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक-श्राविका को यह विवेक रखना चाहिए कि उनका जीवन अब्रह्मचर्य की ओर वढ़ने के लिए नही, किन्तु पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर गति करने के लिए है।

१२. वीर्य-रक्षा के ठोस उपाय

☐ वीर्यरक्षा ब्रह्मचर्य-साधना का प्राण है। इसीलिए ब्रह्मचर्य का एक लक्षण 'वीर्यधारण' भी किया गया है।

☐ शरीर में होने वाले अन्तःस्राव को ओज कहते हैं। इसी की चमक ब्रह्मचारियों के चेहरे पर दीखा करती है।

☐ ब्रह्मचर्य-साधक को अपने दिमाग में यह वात ठसा लेनी चाहिए कि मुझे किसी भी मूल्य पर वीर्य-रक्षा करनी है।

☐ वीर्यनाश किसी भी प्रकार से हो, वह अनुचित है, अत्यन्त घृणित।

☐ स्वप्नदोष के मानसिक कारण मुख्यतया दो हैं—कामुकता के स्वप्न और चिन्ता उत्पन्न करने वाले स्वप्न। इन स्वप्नों का आधार प्रायः जागृतावस्था के कुविचार होते है।

☐ स्वप्नदोष को रोकने के कुछ मानसिक उपाय ये हैं –(१) दृढ़ संकल्प —जो साधक कामुकता के स्वप्नों से बचना चाहते हैं, वे जागृतावस्था में कामभाव के विचारों को बिल्कुल स्थान न दें।

☐ यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि स्वप्नदोष से मुक्त हुआ जा सकता है और मुझे इससे मुक्त होना ही है। इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा और संकल्पवृत्ति जीवित-जागृत रखना स्वप्नदोष से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है।

☐ (२) अन्तर्मन को सूचना—"प्रभो ! मेरी वीर्यरक्षा पूर्णतया हो !" ऐसी सूचना, संकल्प या चिन्तन अन्तर्मन में करना चाहिए।

☐ अवकाश के समय ब्रह्मचारी पुरुषों का जीवन चरित्र पढ़ना और मनन करना चाहिए, या कोई आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की पुस्तक पढ़नी चाहिए।

☐ (३) मन-शुद्धि–अन्तर्मन की गहराई में छिपे हुए कामरसों के प्रभाव से मुक्त होकर मन को पवित्र बनाये बिना स्वप्नदोष से पूर्णतया मुक्त होना दुःशक्य है। अतः स्वप्नदोष से मुक्ति के लिए मन-शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है।

☐ (४) इष्टदेव का जाप—किसी भी अभीष्ट मंत्र का जाप मनोयोग-पूर्वक करने में मन-वचन को संलग्न रखना। इससे काम-विकार को या अशुभ विचार को मन में प्रवेश करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा।

☐ (५) अपने तथा विजातीय व्यक्ति के शरीर की अनित्यता तथा अशुचि का चिन्तन-अनुप्रेक्षण करना।

☐ व्यवहारिक उपाय हैं—(१) स्वप्नदोष के निवारण के लिए निर्बल शरीर वाले को स्तम्भन शक्ति के लिए उचित व्यायाम एवं प्राणायाम करना चाहिए। दृढ़ संकल्प-पूर्वक सर्वनाशकारी बुरी आदतों से बचना चाहिए।

(२) मिर्च-मसाले वाले तथा तामसी भोजनों से दूर रहे, रक्त विकार न होने दे। शरीर के अंगों की स्वच्छता भी जरूरी है।

☐ (३) सायंकाल का भोजन न करे या अल्पाहार (ऊनोदरी) करे। बांयी करवट सोने की आदत डाले।

☐ (४) भोजन पर सयम रखना चाहिए। खाने से पहले जिह्वा से पूछने के बदले पेट से पूछना चाहिए। पेट साफ रखना चाहिए। तभी स्वप्नदोष से बचा जा सकता है।

☐ (५) पवित्र वातावरण—इसके लिए कुसंग का त्याग और सत्संग का आराधन करना तथा विजातीय व्यक्ति के साथ पूर्ण एकान्त में अथवा अन्धकार में साथ न रहना चाहिए।

☐ पवित्र वातावरण मिलेगा तो कुत्सित विचारों से सहज ही छुट्टी मिल जायेगी और फिर स्वप्नदोष का कोई कारण नहीं रहेगा।

☐ (६) स्वप्नदोष से मुक्त होने के इच्छुक व्यक्ति को निकम्मा, निठल्ला नहीं बैठकर कुछ न कुछ उपयोगी हितकर श्रम करना चाहिए। आसन-प्राणायाम से भी वीर्यरक्षा में सहायता मिलती है।

☐ (७) बड़ों का कर्तव्य—अपने बालक को भविष्य में स्वप्नदोष जैसे विकारों से बचाने के लिए तथा उसकी वीर्यरक्षा करने के लिए माता-पिता को ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए।

☐ (८) स्वप्नदोष निवारण में उपवास, व्यायाम, शारीरिक-मानसिक श्रम के बाद गाढ़निद्रा, वनस्पतिजन्य औषध प्रयोग, नियमित शयन-उत्थान आदि भी अतीव सहायक है।

☐ किसी भी आदत को नये सिरे से बनाने अथवा पड़ी हुई आदत को छोड़ने का मनोवैज्ञानिक उपाय यह है कि उसका प्रारम्भ बड़े जोरों से—पूरी इच्छा शक्ति लगाकर करो।

गुरुजनों के समक्ष प्रतिज्ञा लो, और अपनी आत्मा को लक्ष्य करके निर्देश करो—"मैं इस बुरी आदत को छोड़ रहा हूँ, बिल्कुल छोड़ रहा हूँ।"

☐ जब तक नई आदत तुम्हारे जीवन में पूरी तरह से अपना स्थान न जमा ले, तब तक एक क्षण के लिए भी उसमें अपवाद न होने दो।

☐ एक बार जो संकल्प कर लिया, उसे जब तक आदत न बना लो, तब तक उस पर डटे रहो, उसमें जरा-सी भी ढील या अपवाद न आने दो, यह नियम निश्चित कर लो।

□ जिस संकल्प को करो, उसे क्रियान्वित करने का जो भी अवसर मिले, उसी को पकड़ लो।

□ नये संकल्प के अनुसार जो आदत डालना चाहें, उससे सम्बन्धित कुछ न कुछ प्रवृत्ति, आवश्यकता न होने पर भी करते रहें।

□ जो व्यक्ति प्रतिदिन धीरता, वीरता, ध्यान, त्याग, तप, संकल्प का कोई न कोई कार्य बिना जरूरत के भी करता रहता है, वह मानो अपनी मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों का बीमा कराता है।

□ एकान्त में बैठना छोड़ दो अन्यथा कुत्सित संकल्प तुम्हारा सर्वनाश करके छोड़ेंगे।

□ मन को खाली मत रहने दो, उसमें पवित्र विचार और पवित्र संकल्प भर दो; फिर तो कुचेष्टा को प्रवेश करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा।

□ ठालीपन, कुत्सित सकल्प तथा चिन्ता ये तीनों मानसिक रोग हैं। इन तीनों के उपद्रवों से बचने के लिए संकल्प-शक्ति का संचय एवं संवर्द्धन करना सर्वोत्तम उपाय है।

□ अप्राकृतिक कामाचार से वचने के लिए इस कुटेव में सहायक साथियों, स्मृतियों, स्थलों, संकेतों, अवसरों और कार्यक्रमों को बिलकुल छोड़ देना चाहिए।

□ सादा, पवित्र, निसर्ग-निर्भर प्रवृत्तिमय जीवन व्यतीत किया जाए।

□ ऐसे कार्य की ओर भूलकर भी ध्यान नहीं जाना चाहिए जिसे खुले में करते हुए हृदय में पाप, लज्जा एवं भय की आशंका हो। पाप का लक्षण ही है—'प्रच्छन्नं पापम्।'

१३. नारी जाति और ब्रह्मचर्य

□ जैन धर्म में प्रारम्भ से ही नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्वीकृत है। उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए समग्र आध्यात्मिक साधना का मार्ग खुला है।

☐ जैन धर्म में नारी धर्म-पालन में, त्याग-तप में, आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्मिक उत्कर्ष में, आत्म-चिन्तन एव आत्मशुद्धि के मार्ग में स्वतन्त्र है।

☐ जैन धर्म में नारी के स्वाश्रयी और स्वतंत्र जीवन की कल्पना प्रचुर प्रमाण में मिलती है।

☐ शारीरिक शक्ति के सिवाय जो दूसरी शक्ति है (आध्यात्मिक, आत्मिक) वह जितनी पुरुष को ब्रह्मचर्य द्वारा सुलभ है, उतनी ही स्त्री को सुलभ है।

☐ जब नारी के जीवन में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होगी तब उसमें विश्व-मातृत्व का विकास होगा। विश्वमातृत्व के कारण आत्मनिर्भरता में कोई क्षति नहीं होगी।

☐ नारी के जीवन में ब्रह्मचर्य और संन्यास प्रतिष्ठित होंगे, तब उसकी मातृशक्ति व्यापक रूप से विकसित हो जाएगी।

☐ **"किन्नाप्नोति रमारूपा ब्रह्मचर्य-तपस्विनी?"** जो ब्रह्मचर्यरूप तप का आचरण करती है, वह लक्ष्मीरूपी नारी क्या नहीं प्राप्त कर सकती?

☐ मातृशक्ति का विकास होना चाहिए। पत्नीत्व की भावना की अपेक्षा मातृत्व की भावना में ब्रह्मचर्य के विकास का अवकाश अधिक रहता है।

☐ जो नारी अपने शील या ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करनी चाहती है उसे शरीरनिष्ठ नहीं बनना चाहिए।

☐ आधुनिक नारी में संयम और दृढ़ता कम है। प्रसाधन, सौन्दर्य-प्रियता एवं प्रदर्शनप्रियता अधिक है।

☐ शरीर को प्रदर्शन का विषय बनाने से नारी का सत्व क्षीण होता है। वह उतनी ही दुर्बल होती है।

☐ जैसे ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संसर्ग या स्त्री-कथा आदि वर्ज्य है, वैसे ही ब्रह्मचारिणी गृहस्थ सन्नारियों या साध्वियों को पुरुषों का संसर्ग या पुरुष-कथा वर्जनीय समझना चाहिए।

☐ नारियों के लिए विवाहित पुरुष के अतिरिक्त जितने भी पुरुष हैं, उन्हें पिता, भाई या पुत्र के रूप में देखना चाहिए, कामुकता की दृष्टि से अन्य पुरुषों से संसर्ग आदि वर्जित है।

□ जिसने जान-बूझकर व्रत खण्डित नहीं किया है, अज्ञानता, भ्रान्ति या प्रमादवश व्रत में दोष लग गया है, तो उसका परिमार्जन प्रायश्चित्त आदि द्वारा हो सकता है।

□ ब्रह्मचर्य सिर्फ साधना का ही विषय नहीं है, ज्ञान का भी विषय है। इसलिए सर्वप्रथम इस विषय पर रुचि, जिज्ञासा एवं श्रद्धा होना आवश्यक है। श्रद्धा-बीज है, ज्ञान वृष्टि है, साधना खेती है।

□ बिना साधना के तो ज्ञान-विज्ञान सब शून्य हैं, निष्प्राण हैं, अतः इस विज्ञान को ज़ीवन-साधना बनाकर जीवन-धर्म बनायें तभी इसका चमत्कार आपके जीवन में सार्थक होगा।

———